संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला का १४वाँ पुष्प

# पर्यावरण एवं भारतीय नारी

## ( संस्कृत वाङ्मय के आलोक में )

(प्रथम भाग)

प्रधान सम्पादक

**प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय**

कुलपति

सम्पादक

**डॉ. ज्ञानधर पाठक**

लेखिका

**डॉ. ज्योत्स्ना मोहन**

**श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्**

( मानितविश्वविद्यालयः )

नवदेहली-110016

संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला का ९४वाँ पुष्प

# पर्यावरण एवं भारतीय नारी

## (संस्कृत वाङ्मय के आलोक में)

## (प्रथम भाग)

प्रधान सम्पादक

**प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय**

कुलपति

सम्पादक

**डॉ. ज्ञानधर पाठक**

लेखिका

**डॉ. ज्योत्स्ना मोहन**

**श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्**

(मानितविश्वविद्यालयः)

**नवदेहली-16**

प्रकाशक:
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानित-विश्वविद्यालय:)
कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्
नवदेहली-११००१६

आई.एस.बी.एन : 81-87987-70-7

प्रकाशनवर्ष: - 2015



मूल्यम् : ₹ 330/-

मुद्रक:
**अमरप्रिंटिंगप्रैस:**
देहली-११०००९
दूरभाष: : 9871699565, 8802451208

# पुरोवाक्

जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है कि 'पर्यावरण' आज के भौतिक युग की ज्वलन्त समस्या है और 'पर्यावरण सुरक्षा' का प्रश्न वैज्ञानिकों, विचारकों और दार्शनिकों के लिये चिन्ता का विषय है। 'पर्यावरण' के व्यापक रूप में प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक सभी तत्त्वों पर चिन्तन अपेक्षित है। जो प्रस्तुत ग्रन्थ में किया भी गया है।

यह यथार्थ सत्य है कि नर और नारी, दोनों के पास्परिक सहयोग से राष्ट्र की उन्नति संभव है। नारी हमारी संस्कृति की अमूल्य निधि है–

**श्रुतिस्मृतिपुराणैश्च स्तुता कल्याणदायिनी।**
**व्यवहारात्मिका पुण्या आदिमा सैव संस्कृतिः॥**

भारतीय संस्कृति के अन्वेषण में उसका आदि स्रोत हिमालय पर विराजमान शिवा-शिव के दर्शनों से उपलब्ध होता है। उनकी पवित्रता, आचारनिष्ठा और व्यवहारप्रियता ही हमारी संस्कृति का उद्‌गम स्थल है। जन्मान्तर का सम्बन्ध, पाणि (हाथ) की पवित्रता, नारी का तपोमय स्वरूप, कन्यादान की श्रेष्ठता, स्त्री को प्रसन्न रखने का यत्न जायापद तथा दम्पति की एकरूपता- ये सात भाव सर्वोच्च आदिम आर्य संस्कृति के अन्तर्गत हैं, जो मानव जीवन की पूर्णता और दाम्पत्य प्रेम की पवित्रता के द्योतक हैं।

वस्तुतः हमारी अनवरत संस्कृति ने भारतीय नारी के उस प्रोज्ज्वल प्रतीक को हमारे समक्ष उपस्थापित किया है, सृष्टि की उत्पादिका- प्रतिपालिका और कष्ट में सान्त्वना देने वाली है। भारतीय नारी के जीवन की सफलता का रहस्य त्याग में, तपश्चर्या में है, उपभोग में नहीं। हम उसे किस प्रकाश में देखते हैं, यह हमारे दृष्टिकोण पर

निर्भर है। वह हमारी आराध्या देवी अन्नपूर्णा है- देना ही जानती है, लेने की आकांक्षा नहीं। सेवा को परम धर्म मानती है, इसीलिए देवी है, वह त्याग करना जानती है, इसीलिए साम्राज्ञी है, विश्व के लिये वात्सल्यमय अञ्चल पसारे खड़ी है इसीलिए जगन्माता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, देश सभी को अपना-अपना भाग्य मिलता है नारी से।

नारी के चार रूप हमें दिखाई पड़ते हैं- कन्यारूप, भगिनीरूप, भार्यारूप तथा मातृरूप। नारी के इन्हीं रूपों से आर्य-नारी का स्वरूप संगठित हुआ है। नारी जीवन का मूलमन्त्र है- त्याग और इस मन्त्र को सिद्ध करने की क्षमता उसे प्रदान की है तपस्या ने।

सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक गार्हस्थ्य धर्म और मातृमण्डल की महत्ता लोक और वेद में जागरूक है। वैदिक ऋषिकाओं ने वैदिक मन्त्रों में स्त्री जगत् के निमित्त दया-दाक्षिण्य, धन-धान्य, विद्या, बुद्धि, आरोग्यादि गुणों के लिए प्रार्थना की है। जगन्माता पार्वती की अलौकिक साधना तपस्या की साकार प्रतिमा बनकर नारी के आदर्श का मानो यथार्थ चित्र उपस्थित करती है। काम उनके जीवन में यज्ञ के सौम्य भाव का विनाश करने में समर्थ नहीं था। उसने उनके जीवन में यज्ञ का स्वरूप धारण किया था और फलस्वरूप महात्मा कीर्तिकेय और आदिवन्द्य गणपति का जन्म हुआ, जिनकी गौरव गरिमा आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है।

जगज्जननी जानकी का चरित्र भारतीय नारियों के लिए शताब्दियों पश्चात् भी गौरव और आदर्श का प्रतीक है। महारानी शतरूपा ने अपने पुत्र-पुत्रियों को ज्ञान और सदाचार की ऐसी उत्तम शिक्षा दी कि उसके प्रभाव से वे अपने जीवन में सदा यशस्वी और परोपकारी बने रहे। माता अरुन्धती जगत् की ललनाओं के लिए पातिव्रत्य धर्म का उपदेश देकर अमर हो गयीं। आज भी विवाह के समय उनका स्मरण किया जाता है। आध्यात्मिक पर्यावरण के साथ-साथ प्राकृतिक पर्यावरण को संरक्षित रखने में दधीचि पत्नी प्रातिपये का अविस्मरणीय योगदान है। आश्रम की वृक्ष और लताओं पर वे माता की भाँति स्नेह करती थीं। माता कुन्ती ने पाण्डवों को धर्म पर दृढ़ रहते हुए क्षात्रधर्म और प्रजापालन करने का

उपदेश और आशीर्वाद दिया था। धर्मप्राणा गान्धारी ने अपने दुराग्रही पुत्र को राजनीति और धर्मनीति के उत्तमोत्तम उपदेश दिये थे। आज भी मनु महाराज की पंक्तियाँ गूँजती हैं, जिसने युगों-युगों तक नारी को एक पहचान दी है-

**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**
**यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥**

ग्रन्थ की रचयिता डॉ. ज्योत्स्ना मोहन जी ने अथक परिश्रम से पर्यावरण संरक्षण पर शास्त्रीय चिन्तन को प्रकाशित किया है। ग्रन्थ का यह प्रथम भाग वैदिककाल से रामायणकाल के साहित्य पर आधारित है। प्रस्तुत ग्रन्थ सुधी-समाज के लिए अत्यन्त उपादेय होगा ऐसा मेरा अभिमत है। डॉ. ज्योत्स्ना मोहन जी को मैं अत्यन्त साधुवाद देता हूँ जिनका यह शोधपूर्ण ग्रन्थ विद्यापीठ के प्रकाशनों की माला के एक विशेष पुष्प के रूप में ग्रथित होकर प्रस्तुत किया जा रहा है।

कुलपति

# प्रेरणा

आज हमारी संस्कृति के लिए बड़ा ही विकट समय आया है। जैसे स्वप्न से कोई जाग उठे और एकदम अपने सामने सब परिवर्तित देखे, वैसे ही बींसवी सदी ने नींद तोड़ी, करवट बदली और देखा ..... सब कुछ बदल गया है। हर पदार्थ ने नये रंग ढंग स्वीकार कर लिए हैं। रहन–सहन, आचार–विचार, विद्या–विधान, विचारधारा, वेश–भूषा, रंग–ढंग, सब कुछ बदल गए हैं। ..... प्राचीन और नवीन में आकाश–पाताल का अन्तर आ गया है। हम आत्मदीप्ति से शून्य हो गए हैं। अपने अन्तर को भूलकर बाहर प्रकाश के लिए भटक रहे हैं। आँखें बन्द किये हुए सूर्य के न उगने का यह उलाहना व्यर्थ है। एक सर्वग्राही नास्तिकता से हमारा मानस आच्छन्न होता जा रहा है। आज लगता है कि राष्ट्र की प्राणशक्ति सो रही है। प्रश्न उठता है कौन है यह प्राणशक्ति? वही नारी जो युग–युग से हमारी सभ्यता के आदर्श का दीपक प्रज्ज्वलित करती आ रही है, जिसने पुरुष के ज्ञान को भक्ति और श्रद्धा से संस्कृत किया है, जिसने स्वार्थों पर मानवता की प्रधानता की घोषणा की है, जिसने मानव जाति में समष्टिगत कोमल प्राण और आत्मा का सृजन किया है। वही है दानमयी, सर्वत्यागमयी, महिमामयी नारी।

आज नारी के विविध पक्ष दिखाई पड़ते हैं। कहीं नारी बिल्कुल एक तमाशे और दिलबहलाव की वस्तु बन गयी है। नकली आदर्श, नकली आकाङ्क्षाएँ, अपने लिए जोर से बोलनी वाली पर अपनी स्वत्व की रक्षा में अत्यन्त असमर्थ, सपनों पर तैरने वाली, फिर वह नारी, जिसने संयम और कर्तव्य की जगह भोग और मोह से अपने जीवन को आच्छन्न कर लिया है जो अपने तारुण्य के दिनों में विवेक के उपदेशों का उपहास करती है, जो सस्ती भावुकता के लिए चन्द रटे वाक्यों के आकर्षण को अधिक महत्त्व देती है। जो जीवन के अत्यन्त जटिल और दूरगामी बन्धनों में बाँधते हुए पर किसी कोने में असमर्थता का अनुभव करती हुई, स्वप्निल लहरों पर बह रही है। वह जब जिन्दगी के एक कड़े झटके में एक दिन अपने को सूखी रेत पर अकेले पाती है – ऐसी जगह जहाँ से यौवन के ज्वार की तरङ्गें दूर निकल गयी हैं और जीवन के भाटे में जहाँ अकेलापन है, खीझ है, रोदन है, बेबसी है, तब आँखे जीवन–युद्ध की प्रखर दोपहरी में एकाएक खुल

जाती हैं और सामने अत्यन्त अनाकर्षक रास्ता दूर तक चला गया दिखाई पड़ता है।

दूसरे पक्ष में नारी का रूप एक भिन्न प्रकार का दिखाई देता है। दुनिया से अनजान, देश और धर्म से अनजान, केवल परम्परा के अवगुण्ठन में बँधी, विवाह जिसके लिए अनिवार्य क्रम है – जिसका विवाह इसीलिए होता है कि वह गृहस्थी का बोझ उठा सके। अपने पति और बाल बच्चों की नाव खेने वाली नारी – परम्परा का बोझ जिस पर अधिक है। ज्ञान और विवेक का अभाव। थोड़ी दूर तक देखने वाली, थोड़े में सन्तुष्ट। मानों संसार से आँखे बन्द किए, एक साँस और एक गति से जीवन की लीक–लीक से बनी डगर पर चलने वाली। चलना है इसलिए चलती है।

लड़की का जन्म होता है, केवल विवाह के लिए। उसकी ओर कोई सार्थकता नहीं है। माता–पिता उसे पाकर पुलकित नहीं। उसे ग्रहण करना है, इसलिए कुटुम्ब में वह स्वीकृत है। गहन–कपड़ों में मगन, बाल–बच्चों में मगन, गाँव–घर में मगन, सगे–सम्बन्धियों में मगन, जो मिला उसके प्रति कोई सक्रिय विरोध का भाव उसमें नहीं। वह क्या है और कहाँ है, इसकी कोई अनुभूति नहीं। पुरुष के बिना मार्ग खोजने में असमर्थ, चलती हुई भय, लज्जा, आशंका से त्रस्त, भीत मृगी की भाँति देख–देखकर, फूँक–फूँककर पाँव रखने वाली खिलौना सी।

नारी जीवन के यह दोनों दृश्य बड़े दुःखद हैं। समाज–सुधार के काम हो रहे हैं, पर चेतना नहीं आ रही है। कहीं नारी अचेत है। क्षुद्र प्रश्नों में व्यस्त, क्षुद्र स्वार्थों में लिप्त, दूर तक देखने में असमर्थ, अपनी संस्कृति और उदार परम्पराओं के प्रति अविश्वस्त। इस प्रकार के अनुभव एकाकी नहीं है। वे हमारे समाज की एक गहरी मानसिकता व्याधि के सूचक हैं।

आज का युग भारतवर्ष के लिए एक क्रान्ति युग–एक समस्या–युग है। नवीन जागृति के साथ–साथ समस्याओं की उलझन और जटिल हो गयी है। नारी की समस्याएँ तो आजकल तक गुत्थियाँ बनी सुषुप्ति के गर्त में पड़ी हुई हैं। पुरुष की समस्याएँ मानव–जीवन के बाह्य जगत् से सम्बन्धित हैं, किन्तु नारी जीवन के आन्तरिक पक्ष की एक झाँकी है। पुरुष कठोरता का प्रतीक है, नारी कोमलता की प्रतिमा है। पुरुष का जगत् संघर्षमय है। नारी का जगत् वेदनामय है। प्राचीनकाल से नारी ने कितने रूप ग्रहण किए, यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। युग के परिवर्तन के साथ नारी को भी परिवर्तित रूप धारण करना पड़ा।

परन्तु आज के संक्रान्ति के युग में – जो एक सन्धि–काल है – अनेक प्रकार की बीभत्सताओं को स्थान मिल सकता है।

मुझे लगता है कि आज के तकनीकि युग में हमने अपनी मर्यादा स्वयं खोई है। आज जब समाचार पत्रों में बलात्कार की घटनाएँ पायी जाती हैं, चलचित्रों में 'शीला की जवानी, मुन्नी बदनाम हुई, अनारकली डिस्को चली' आदि गाने गाये जाते हैं। उस समय हम नारियाँ इतनी विवश होती हैं, चाहकर भी कुछ नहीं कर पाती हैं। दूरदर्शन जो कि परिवार और समाज से जुड़ने का एक सशक्त साधन है। परन्तु जो धारावाहिक दिखाये जाते हैं वहाँ भी नारी को परिवार को बाँधने का न दिखाकर अपितु परिवार तोड़ने की अहं भूमिका में दिखाया जाता है।

ऐसा लगता है कि वह नारी आज अपने अधिकारों के प्रति अचेत है, अपने गौरव के प्रति प्रतिकूल। स्नेह की धारा से गृहों का सिञ्चन करने वाली गृह–लक्ष्मी आज विवशा, उपेक्षिता, तिरस्कृता है। अपने मातृत्व से सन्तान के भविष्य का निर्माण और रक्षण करने वाली माता आज भूलण्ठिता है। अपना सर्वस्व अर्पण करने वाली सर्वमयी अन्नपूर्णा आज रिक्त है।

जगमग करती दीपमाला मन को मुग्ध करती है। दीपक सँजोने का फैशन है। प्रकाश से आँखें चकाचौंध हैं, पर अन्तर सूना, देवगृह में बुझती सी एक लौ, जिसकी ओर किसी का ध्यान नहीं। उपेक्षा तथा स्नेह की कमी से जिसकी बाती दम तोड़ना चाहती है। चेतन नारी से शून्य गृह ऐसा ही होता है।

एक चित्र टंगा है। मनोरम प्रान्त, चतुर्दिक् हरे भरे वृक्ष, डालियाँ हिलती–डुलतीं, झकोरों से वृक्ष कम्पित। एक नारी आँचल से दीप को बुझने से बचाती हुई देव मन्दिर की ओर अग्रसर हो रही है। उसका ध्यान बस कहीं नहीं है, बस दीपक जलता रहे, देवता के मन्दिर को प्रकाशित करने वाला दीपक। यही सभ्यता और संस्कृति का चित्र है। यही वास्तविक नारी का चित्र है। कठिनाइयों और प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भी अपने कर्तव्य में अनुरक्त। अपने आदर्श को न बुझने देने को सन्नद्ध। जिसने युगों–युगों से इसी प्रकार हमारी आत्मा को जागृत रक्खा है, प्राणों की दीप्ति बुझने नहीं दी है। जिसके अञ्चल तले प्रकाश सुरक्षित है। जिसकी छाया में देवता की अर्चना आश्वस्त है। आत्मदेव की पूजा निरन्तर चलती रहे, इस उद्देश्य से श्रद्धा के दीपक को बचाती हुई, देवत्व के मार्ग पर निरन्तर बढ़ने वाली।

अब समय आ गया है नारी को अस्मिता पहचानने का, अपने अधिकार प्राप्त करने का, ताकि उसका भी समाज में स्थान हो। हमें आज राष्ट्र कवि मैथिली शरण गुप्त की पंक्तियों को नहीं दोहराना जहाँ वे कहते हैं –

**अबला जीवन तुम्हारि यही कहानी,**
**आँचल में दूध आँखों में पानी।।**

अपितु आचार्य मनु की भावनाओं को साकार करना है –

**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।**
**यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।**

नारी के ये विविध रूप मेरी प्रेरणा के स्रोत बने। मेरे अवचेतन मन में बार–बार यह प्रश्न उठने लगा कि आज नारी सम्बन्धी मान्यताओं, अवधारणाओं और मानसिकताओं में पर्याप्त अन्तर आया है, इसका कारण क्या है? आदि युग के खुले स्वच्छन्द वातावरण, वैदिक युग के उच्चासन और मध्ययुगीन परतन्त्रता के पश्चात् आधुनिक युग की बौद्धिकता ने नारी के उत्थान–पतन की विविध स्थितियों का इतिहास बनाया है। अतः हमारा कर्तव्य है आज जयशंकर प्रसाद की नारी–रूप की उस कल्पना को साकार करने का जहाँ उनकी लेखनी यह लिखने के लिए आतुर हो उठी –

**नारी तुम श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में,**
**पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।।**

आज नारी अपने गौरव से गौरवान्वित हो, अपनी महिमा से महिमामयी हो, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की पहचान बने। जब तक नारी अनुभव नहीं करेगी कि वह पुरुष को निश्चिन्तता और आनन्द देने वाली मात्र नहीं है, बल्कि उसे संस्कार प्रदान करने वाली भी है, जब तक वह न समझेगी कि वह रमणी है, पर रमणी से अधिक माता है, वह पुरुष जाति की माता है, तब तक सब व्यर्थ है।

आज की माँग है सम्पूर्ण नारी जाति अपनी गौरव परम्परा की ओर देखे। तुम्हारे सहयोग के बिना कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य सम्भव नहीं है। आज सन्तति तुम्हारा मातृत्व चाहती है। युग–युग से तुमने स्नेह का जो दान दिया है, वह आज क्या बन्द हो जाएगा? तुम्हारी मधुर वाणी से गृह मुखरित रहे हैं। आज क्या वह मौन हो जाएँगे? नारी को अपने गौरव परम्परा की रक्षा के लिए खड़ा होना पड़ेगा। तब उसे देखना होगा कि जिस पुरुष को उसने सभ्यता और संस्कृति की दीक्षा दी, जिसमें उसने ममत्व और मर्यादाओं का विस्तार किया और जिस पुरुष की

माता है, वह उसकी उपेक्षा, उसका अपमान न कर सकेगा। तुम बन्धन मुक्त हो। तुममें वह मातृत्व जागृत हो – वह गौरव, वह तेज, जिसके लिए विश्व के, भारत के प्राण छटपटा रहे हैं। हे मङ्गलमयी तुम्हारे मङ्गलगान से मानवता का मार्ग मुखरित होता हो। हे दानमयी, तुम्हारे दान से हमारा जीवन धन्य हो। हे शक्तिमयी, तुम्हारे तेज से हम तेजस्वी हों। उठो और अपनी शाश्वत यात्रा प्रारम्भ करो।

## प्राक्कथन

**विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।**
**त्वयैकया पूरितमम्बयैतत का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः।।**

(हे देवि, समस्त विद्याएँ तुम्हारे ही स्वरूप भेद हैं। जगत् में जितनी स्त्रियाँ, सब तुम्हारी ही मूर्तियाँ हैं। जगदम्बे, एकमात्र तुम्हारे ही द्वारा यह सारा विश्व व्याप्त है। तुम्हारी, क्या स्तुति हो सकती है? तुम स्तवन करने योग्य पदार्थों से परे और परा वाणी हो।)

उपर्युक्त श्लोक में आराध्या की स्तुति में केवल शाब्दिक सद्‌भावना का प्रदर्शन ही नहीं है, अपितु भारतीय नारी के जीवन में पदे–पदे इसकी व्यावहारिक सार्थकता सिद्ध होती है। भले ही भौतिकवादी पाश्चात्य भावापन्न मस्तिष्कों को इसमें कोई तथ्य न दिखायी दे, किन्तु स्थूल जगत् का सूक्ष्म दैवी जगत् से सम्बन्ध और उसका रहस्य समझने वालों तथा भारतीय सामाजिक–व्यवस्था–विशेषज्ञ धर्म मर्मज्ञों के निकट इसका रहस्य तिरोहित नहीं है।

यह निर्विवाद है कि किसी भी राष्ट्र के निर्माण में पुरुष और नारी दोनों ही समान रूपेण अधिकारी हैं और मानव समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने का श्रेय दोनों के ही समान–सम्मान पर निर्भर है। किसी भी युग में समाज ने उत्कर्ष–प्राप्ति में नारियों के सम्मान की अवहेलना का कोई भाव प्रदर्शित नहीं किया और न ही असभ्यावस्था में नारियों की उपयोगिता किसी रूप में कम की जा सकी। भारतीय समाज में नारी अपना गौरवपूर्ण वैशिष्ट्य लिए अभिनन्दनीय है। साहित्य वाङ्मय के प्रत्येक पृष्ठ पर स्वर्णिम अक्षरों में प्रतिष्ठित है। इतना ही नहीं इस तत्त्वसाधिका महाशक्ति ने जब अपने त्याग और तपस्या के द्वारा महती भूमिका निभाने का एक समुज्ज्वल स्वर्णिम इतिहास भारतीय साहित्य में अंकित किया उस समय स्मृतिकार को कहना पड़ा–

**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।**
**यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।**

शास्त्र के इस वचनानुसार स्त्री–धर्म की रक्षा से ही भारत देवताओं का निवास स्थान बना था। देवताओं को अमरलोक से मर्त्य–लोक में उतारने के लिए एक नारी धर्म ही समर्थ है।

यह यथार्थ सत्य है कि जिस देश अथवा समाज का साहित्य स्वस्थ एवं जीवित होता है वही देश या समाज जीवित एवं उचित प्रगतिशील माना जाता है। सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी भारत को इस बात का गर्व है कि उसका साहित्य सर्वाङ्गीण पुष्ट होने के कारण ही उसका समाज चिरजीवी बना हुआ है। पिछली दो शताब्दियों ने हमारी अपनी आत्मविस्मृति ने पर–प्रेरणा से पथ–भ्रान्त बना दिया है। जिस भारत से प्रकाश पाकर विश्व की संस्कृति अपने को उज्ज्वल देखने को विवश बनती थी, उस भारत से स्वत: की आत्म–प्रवञ्चना ने अवश्य ही विपथगामिता का अनुयायी कर दिया है। जिससे प्रेरित हो किसी भी साहित्य अथवा समाज ने प्रगति साधना की है, उसका मूल कितना विशाल, कितना समुन्नत होगा। हम आश्चर्य करते हैं कि निरन्तर शताब्दियों से ही नहीं वरन् सहस्राब्दियों से समान रूप से अनेक उत्थान–पतनों के आते–जाते रहने पर भी, आज भारतीयों की साहित्य साधनामयी संस्कृति जगत् को प्रगति और प्रकाश प्रदान करती आ रही है।

जिन्होंने सावधानी पूर्वक भारतीय साहित्य का अनुशीलन किया है, वे स्वीकार करेंगे कि सदियों से नहीं, सहस्राब्दियों से पुरातनतम कहे समझे जाने वाले दूरदर्शी आचार्यों ने हमें जिस प्रकार सामाजिक आधार की सुविधाएँ प्रदान की हैं, वह आज ही नहीं आने जाने वाले अनेक युगों को भी प्रेरणा देती रहेंगी। संस्कृत साहित्य के रसिक कविकुलकलाधर महाकवि कालिदास की शृङ्गारिकता को कौन नहीं जानता? उनकी शकुन्तला, मालविका, उर्वशी और यक्षपत्नी की सौन्दर्य–माधुरी, प्रणय–विलास सारे विश्व के सुधी–समाज के गाये हुए हैं। परन्तु दो हजार साल पुराने इस रस–विलास के आचार्य कवि का आदर्श था – 'अनिर्वचनीय परकलत्रम्', मर्यादा की भूमि पर ही कालिदास के काव्य–नाटक पात्रों का अभिनय है। परन्तु ये पात्र अपनी पुरोगामिता, सौन्दर्य–प्रसाधना आदि में आज की 'पेरिस' की परम प्रगतिशील परियों को भी पीछे ही नहीं, बहुत पीछे छोड़ देने वाले हैं, फिर भी इनके चरित्रों की अपनी भावना पर आज भी कौन अंगुली उठाने का साहस कर सकता है।

हमारे समक्ष जिस वैदिक समाज की आदिम वैवाहिक कल्पना 'सूर्या' के रूप में ऋग्वेद ने प्रस्तुत की है, उसकी कल्पना न जाने कितनी शत–सहस्राब्दियों के बाद भी आज के समाज में यथावत् देखी जा सकती है। इस आदिम वैदिक विवाह में 'कन्या' की जो कल्पना की है, वह यौवन के लक्षणों सहित हुई है

'कन्यात्वेन अभिनवयौवनलक्षणं लक्ष्यते' – सायण और उसे स्वतः पति की कामना करने वाली सूचित किया है। अपनी जीवन–सङ्गी निर्वाचित करने की स्वाधीनता रखने वाली कुमारिकाएँ ये आधुनिक नहीं, किन्तु ठेठ वैदिक युग की रही हैं। उपनिषद् और वैदिक साहित्य की वेदवादिनी बालाओं की तो अनेक कथा–गाथाएँ इस साहित्य में भरी हुई हैं। कई देवियाँ ब्रह्मवादिनी और मन्त्रदर्शिनी हो चुकी हैं। मैत्रेयी और गार्गी कौमार्य काल में महर्षि याज्ञवल्क्य जैसे आचार्य प्रवर से ब्रह्मवाद करने की चर्चा से आज भी उपनिषद्–प्रिय समाज खूब परिचित है। नारी की यह प्रतिष्ठा, अविवाहितावस्था का यह स्वातन्त्र्य और ज्ञान–विज्ञान जैसी गम्भीर विषय पर प्रभुत्व, पश्चिम के प्रकाश में सुधार की धूसरित धारणा रखने वाली देवियों को अब भी पथ प्रदर्शन के लिए पर्याप्त है।

विवाह और दाम्पत्य जीवन की उलझी हुई आधुनिक समस्या ने समाज–जीवन को जर्जर और अशान्तिमय बना दिया है। हमारी संस्कृति की विस्मृति और पराधीनता की लम्बी अवधि ने आत्मविश्वास एवं आत्मस्वरूप पर अज्ञान का आवरण डालकर हमें जिस अन्धतम में डाल दिया है, यह अशान्ति उसी का आभारी हुई है। हमारी भारतीय सभ्यता एवं पद्धति ने समाज के मनोऽनुकूल सुविधा प्रदान करके भी पावित्र्य परम्परा का जो अंकुश रखा है, उसकी कल्पना भी आधुनिक सुधारकों को नहीं छू सकती। 'नियोग' के विधान को नैतिकता की परिधि में परिगणितकर नारी को 'कुललक्ष्मी' स्वीकार करने की बात वह पश्चिम भी, जिसके सदाचार का स्तर ऊपर नहीं है, स्वीकार करने को तैयार न होगा। जिस युग की मैं चर्चा कर रही हूँ, उसकी कई शताब्दियों के बाद तक पश्चिम ने सभ्यता के समीर को स्पर्श नहीं किया था। पुरातन काल की नारी यदि केवल सन्तान उत्पन्न करने की मशीन थी या रसोईघर की 'रानी' ही रहती तो ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में जो उसने पर के साथ सहकार किया है, वह कैसे सम्भव होता। हाँ उनकी सर्वाङ्गीण समुन्नति में भी सदाचार उनका चिरसङ्गी बना रहा है। उसको त्यागकर वे इस समय की बाजारू प्रगतिशीला नहीं बनी। वेश्या कही जाने वाली वसन्तसेना, बौद्धकाल की अनुयायी वासवदत्ता आज की परिभाषा में 'वेश्या' ही होती यदि इतिहास और साहित्य ने उन्हें अमर न बना दिया होता। दमयन्ती और शकुन्तला की प्रणयकथा इतिवृत्त की अमर कथाएँ हैं, पर विश्वामित्र और कण्व के आश्रम की पवित्रता की धरोहर उनके साथ है। महर्षि कण्व शकुन्तला के प्रणय पर अपनी मुहर लगा देते हैं। यदि यह असम्भव घटना

होती तो एक आश्रमवासी तपोधन महर्षि की सहिष्णुता की अधिकारी नहीं बनती। सम्भव है पुरातत्त्वों को शकुन्तला, दमयन्ती के कोई सिक्के न मिलें और आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर उनका अस्तित्व साबित न भी किया जा सके, किन्तु इतिहास विश्रुत कालिदास ने आज से दो हजार साल पहले इन्हें अपने साहित्य में अमरपात्र बनाकर दो सहस्राब्दियों के समाज के साथ अवश्य उनका सामञ्जस्य बिठला दिया है। इसके बाद उस शकुन्तला का रूप दिखता है जो निरे जंगल में पलकर वल्कल वसन परिधान कर शिष्टता–सभ्यता और सौन्दर्य–प्रसाधनों से परिपूर्ण ऐसी उत्कृष्ट नारी निर्मित होती है, जिसकी संस्कारिता के साथ इस युग की कोई समुन्नता सम्राज्ञी भी नहीं बिठलायी जा सकेगी।

हमारी नारी के कौमार्य में पवित्रता का परमादर प्रतिष्ठित था। पार्वती की शिव कामना में दीर्घकालीन तपःसाधना प्रख्यात है। महाभारती, शल्यपर्व के शाण्डिल्य महात्मा की कथा धृतवती का आजीवन तपश्चरणापूर्वक कुमारी रहना एवं देव ब्राह्मणवन्दित हो जाना तथा भारद्वाज की परम रूपवती दुहिता श्रुतावती का नाम स्मरण भी पावन माना गया है।

भारतीय आदर्श की परम्परा निस्सन्देह महान् है, एक ओर अहिल्या के पतन और दूसरी ओर उद्धार का रूप मिलता है। द्रौपदी के चीरहरण से दुष्ट दुःशासन की अधमता पर रोष जागृत हो सकता है। मन्दोदरी से राक्षसराज रावण की रमणी के रूप में हम परिचित हैं। वहाँ महाभारत हमें उन्हीं पञ्च कन्याओं को प्रातःस्मरणीय घोषित करता है और हमारी उदारता की यही परिसीमा है कि परम्परा से हमारा मस्तक इन महनीय कीर्ति महिलाओं के समक्ष नम्रता से नत ही बना हुआ है। विश्वसाहित्य में इसकी समता नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हमारी पुरातन सभ्यता और पुरातन साहित्य का मूल निरन्तर प्रगतिशीलता पर अवलम्बित हुआ है। यही कारण है कि उसी आदर्श व्यवस्था एवं प्रगतिशील सिद्धान्त 'अथ च शास्त्र' पर प्रतिष्ठित संस्कारों की महत्ता को सम्मुख रखकर ही आज पर्यन्त अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। विकारों का कालक्रम स्थिति वशात् आ जाना सहज है परन्तु प्रगतिशील साहित्य और संस्कृति के सुदृढ़ सिद्धान्तों पर समाश्रित होने वाले समाज का अस्तित्व ही सर्वदा अविचल रहता है।

'संस्कृत वाङ्मय में नारियों द्वारा संरक्षित पर्यावरण' के विस्तृत कलेवर को देखते हुए ग्रन्थ को दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम भाग

है जिसमें वेदों से प्रारम्भ कर रामायणकालीन तक की नारियों का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ का विभाजन दस अध्यायों में है।

मानव जो सम्पूर्ण गतिविधियों का केन्द्र है, पर्यावरण के सर्वाङ्गीण क्षरण से त्रस्त है। वायु, जल और मिट्टी के प्रदूषण के साथ–साथ आध्यात्मिक और मानसिक पर्यावरण तो गहनतम प्रदूषित है, परन्तु सामाजिक, साँस्कृतिक और राजनैतिक प्रदूषण भी पूर्णरूपेण त्रस्त किए हुए है। पर्यावरण की चिन्ता मूलतः संस्कृति की चिन्ता है। प्राकृतिक, भौगोलिक या तात्त्विक प्रदूषण से पहले मन का प्रदूषण होता है। मन जब कुविचारों, अमानुषी कलुष भावों से दूषित होता है तो वह जीवों, तत्त्वों, पेड़–पौधों, मनुष्यों सबको चोट पहुँचाता चलता है और अपनी दुर्भावना का विष सारी समष्टि में घोल देता है। अतः मन का प्रदूषण ही प्रकृति, जन, समाज और संस्कृति सब का संकट हो जाता है। इस संकट से बचने के लिए पर्यावरण, प्रकृति और संस्कृति के मूल प्रेरकों और स्रोतों तक पहुँचना है, जिससे मानव और उसके सम्बन्धों की पहचान हो सके। पर्यावरण चिन्तन, पर्यावरण संस्कृति आदि की विविध अध्यायों में चर्चा है।

प्राकृतिक सम्पदाओं में वृक्ष–वनस्पतियों की पृथक् भूमिका है और सांस्कृतिक महत्त्व है। बाल्यावस्था से लेकर जीवन के अन्तिम चरण तक 'वृक्ष' हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग हैं। परन्तु सुकुमार बुद्धि ने कभी इस ओर झाँका ही नहीं। वृक्षों की घनी छाया में चलते–चलते अपनी जिन्दगी के सफर को तो तय कर लिया, क्षुधा शान्त करने के लिए फलों का सेवन तो किया, आवश्यकता पड़ने पर सौन्दर्य के लिए पुष्पों को भी नहीं छोड़ा, परन्तु वृक्षों की परोपकारिता, चेतनता, दार्शनिकता, निःस्वार्थ भावना की ओर कभी दृष्टि ही नहीं गयी। जब कालान्तर में स्थिति बदल जाती है, हमारी जातीय स्मृति के चिह्न मन्द पड़ जाते हैं। हम आन्तरिक चेतना का बल खोकर बढ़ते हुए भौतिकवाद में इतने लिप्त हो जाते हैं, हमारे व्यवहार में दम्भ आ जाता है, उस समय हृदय के किसी कोने में 'अरण्य–रोदन' की चीख सुनायी पड़ती है। तब विवश होकर सोचने को मजबूर हो उठते हैं और ऐसी विकट परिस्थिति में चिन्तन की दिशा बदल जाती है। अपने इतिहास के निकटभूत में इस एक नयी भावना का उदय देखते हैं। 'भारतीय नारी और वृक्ष', का षष्ठ अध्याय में विस्तृत विवेचन है।

नूतनता के प्रति मनुष्य का आकर्षण सहज है। वह नित्य नवरस की खोज में संलग्न रहता है फिर भी आधारभूत वस्तुएँ तो सदा ही पुरानी होती हैं। प्राचीनता

हमारे लिए केवल जिज्ञासा की वस्तु ही नहीं वरन् वह हमारी आराध्या है। यह सत्य है कि अपने राष्ट्र जीवन और दृष्टि को विशाल बनाने के लिए प्रभावशाली भूतकाल का गौरवपूर्ण होना परमावश्यक है तभी हम घोरतम कठिन से कठिन अवस्था में निर्भय होकर सिर ऊँचा रख सकते हैं। संस्कृत वाङ्मय में वेद ही प्राचीनतम होने के कारण भारतीयों के आध्यात्मिक जीवनक्रम और उनकी संस्कृति के यथार्थ ज्ञान के परिचायक हैं। वेदों के विषय में अत्यधिक श्रद्धा और उत्कट–भक्ति अति प्राचीनकाल से भारतीयों के हृदय में दृढ़तापूर्वक रही। अतः उसके रक्षक का अद्भुत कार्य विद्यानिष्ठ विद्वानों एवं विदूषियों ने किया। अदिति, उषा, इन्द्राणि, भारती, श्रद्धा, इला, घोषा, अपाला आदि विदुषी नारियाँ अपने वैदुष्य से अनेक तत्त्वों की अधिष्ठात्री हैं जो प्राचीन काल से चली आने वाली आर्य नारी की सभ्यता एवं संस्कृति पर प्रकाश डालती हैं, जिसका विस्तृत अध्ययन अष्टम अध्याय 'वैदिक साहित्य में नारी' में किया गया है।

उपनिषद् भारतीय संस्कृति की अमूल्य और कहीं भी किसी धर्म या भाषा में न मिलने वाली अतुलनीय अध्यात्म सम्पत्ति है। उपनिषद् ज्ञान के भण्डार हैं और इन्हीं के स्रोत से विकसित सारे दर्शन, शास्त्र, तर्क, युक्तियाँ, तन्त्र, पुराण, पदार्थ, विज्ञान और निखिल विधाएँ मानव जाति को आनन्द और शान्ति की विमल मन्दाकिनी में बहा रही हैं। गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषी महिलाएँ भी भारत के पुण्यक्षेत्र में प्रादुर्भूत हुई थीं, जिन्होंने आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर शास्त्रों के पठन–पाठन और ब्रह्मानुभव में जीवन व्यतीत कर दिया। मैत्रेयी, गार्गी जैसी विदुषियों के मुखारविन्द से निकली ज्ञान की अजस्रधारा इन्हीं उपनिषदों की देन है। नवम अध्याय में यही चर्चा की गयी है।

भारतीय आर्य नारी का सहज स्वरूप शुद्ध स्वर्ण के समान ज्योतिष्मान् एवं पवित्र है। वह मूर्तिमती श्रद्धा और सरलता है। धर्म की अघर्षणीय दीप्ति का दर्शन तो इस गये–बीते युग में भी उसी के कोमल हृदय में होता है। कदाचित् यह कहना असंगत न होगा कि भारतीय नारी देखने में प्राकृतिक मालूम होती है, परन्तु है वह असल में विशुद्ध परमार्थिक तत्त्वों की बनी वस्तु। तभी तो वह अपने माता, भगिनी, पुत्री, पत्नी आदि विविध और विभिन्न रूपों में आज भी प्रतिमावत् पूज्य हैं। जगज्जननी सीता, माता कौशल्या, सुमित्रा, भक्तमती शबरी, सती–साध्वी सुलोचना, मन्दोदरी, तारा आदि का विस्तृत विवेचन 'रामायण में नारी' दशम अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार वेद, उपनिषद्, रामायण आदि शास्त्र–ग्रन्थ हमारी आर्य नारियों के वैदुष्य का दर्पण है। नारी रूप की कल्पना ना किए जाने पर ईश्वर को भी अपूर्ण माना गया है। कहीं तो नारी का आदि शक्ति के रूप में पुरुष का अर्धाङ्ग तथा जीवन का सर्जन एवं पोषण करने वाला मातृपक्ष है। जीवन वात्सल्य और ममता के इसी मधुमय प्रवाह का मुखापेक्षी है। वस्तुतः संस्कृत काव्यकारों ने नारी के शास्त्रीय आदर्श को ही मान्य माना। इनकी नारी में अनन्त ममता, त्याग, वात्सल्य, सहनशीलता, निष्कामसेवा आदि गुणों की महत्ता मानी। प्राचीन भारतीय नारी के सभी स्वरूपों में एक सात्त्विकता थी, एक सौम्यता थी, एक दिव्यत्व था, जो समाज के शिरोभाग को विभूषित करता था और इसी स्थान को प्राप्त करने के लिए उसे कोई संघर्ष नहीं करना पड़ता था, वरन् अपने प्राकृतिक गुणों की सहज अभिव्यक्ति में स्वभाव से ही उसे पुण्यपद प्राप्त था। नारी के इसी सांस्कृतिक रूप ने पर्यावरण निर्माण में विशेष सहयोग प्रदान किया। 'कुमारसम्भव' में भारतीय–नारी की इसी रूपरेखा की कालिदास ने इस शब्दों में आरती उतारी है –

**इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपता समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।**
**अवाप्येत वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेमपतिश्च तादृशः।।**

(तप से सौन्दर्य को सफल बनाने की इच्छा क्या पवित्रता के विश्व की भी अनोखी बात नहीं है? दार्शनिकता की भी सीमा से बाहर की वस्तु नहीं है? परन्तु भारतीय नारी की तो यह नित्य ही सुलभ लोक परम्परा है।)

मानव स्वभावतः अपने अतीत के प्रति आस्था रखता है क्योंकि उसके द्वारा वर्तमान एवं भविष्य में उसे अधिक लाभ की सम्भावना रहती है। अपने ही जीवन की अतीतकालिक स्मृतियों को वह परम सम्मान एवं स्नेह की दृष्टि से देखता है, भले ही उनमें कष्ट के कण्टक अथवा सुख के सुमन हों, पर कालान्तर में वे दोनों समान सुखदायिनी हो जाती हैं। जब अपने ही जीवन का अतीत स्मरण एवं चिन्तन आनन्ददायक होता है तो अपने पूर्वजों के अतीत जानने की उत्कट अभिलाषा किस सहृदय को न होगी।

एतद् दृष्टि से हमारे ऋषि–मुनियों में सदैव प्रकृति की आराधना, अर्चना एवं प्रार्थना कर पारिस्थितिकी सन्तुलन को स्थिर रखा। पर्यावरण शुद्धिकरण के लिए शान्ति स्तोत्रों का स्तवन किया। 'अथर्ववेद' के आशीर्वचन मन्त्र का स्मरण करती हूँ जहाँ वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि औषधियाँ द्यौ (आकाश), जल (मेघ), आन्तरिक (वातावरण), क्षेत्रपति क्रुद्ध न होते हुए हमारे लिए मधु समान हों, हम

उनका अनुसरण करते रहें। अश्विनी कुमारों द्वारा यह पृथ्वी वातावरण और आकाश का मण्डल ही भण्डार बनाया गया है अर्थात् थलचर, व्योमचर जीवों के हेतु यह सुखदायक स्थान बनाया गया है। इस गोठान में सहस्त्रों यहाँ आकर पानी पिएँ और आवश्यकताओं की पूर्ति करें। सब मिलकर उपभोगें –

**मधुमतीरोषधीर्द्याावि आपो मधुमन्नोऽभवत्वन्तरिक्षम्।**
**क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम।।**
**पनाय्यं तदीश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसःपृथिव्याः।**
**सहस्त्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वां इत् ताँ उपदाता पिबध्यै।।**

# कृतज्ञता-ज्ञापन

**प्रभु की कृपा भयउ सबु काजू। जनम हमार सफल भा आजू॥** सर्वप्रथम मैं प्रातः स्मरणीय ईश्वर के प्रति नत हूँ, जिनकी अपार कृपा के फलस्वरूप संकल्प पूर्ति का अवसर मिला। ईश्वर से पुनः पुनः करबद्ध प्रार्थना है कि आपकी महती कृपादृष्टि एवं स्नेह सिञ्चित आशीर्वादों का वर्षण सदैव मेरे ऊपर होता रहे।

**भवितव्यं कृतज्ञेन जनेन सुखमीयुषा** (मनुष्य को सदैव उस व्यक्ति का कृतज्ञ रहना चाहिए जिससे सुख प्राप्त हो।) मैं ऋषि वचनों को नमन करती हूँ। कृतज्ञता ज्ञापन के सुखद अवसर पर अपने पूज्य स्वर्गीय पिताजी के प्रति विनम्र कृतज्ञता भाव समर्पित करती हूँ और प्रस्तुत पुस्तक भी श्रद्धेय स्व. पिताजी को समर्पित करती हूँ। वास्तव में जब मैंने पुस्तक लिखनी प्रारम्भ की उस समय पिताजी जीवित थे। ग्रन्थ लेखन की प्रेरणा मुझे पिताजी से ही मिली। समय-समय पर पिताजी ने मेरी अनेक समस्याओं का समाधान किया और अपेक्षित सहायता प्रदान कर प्रोत्साहन प्रदान किया। परन्तु दुर्भाग्यवश पुस्तक की पूर्णता पर पिताजी का देहावसान हो गया और ग्रन्थ का प्रकाशित रूप नहीं देख सके। मेरी यही इच्छा है कि पिताजी का आशीर्वाद सदैव बना रहे।

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के शोध-प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष एवं प्रभारी कुलपति प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय के प्रति आभारी हूँ, जिनके सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित हो सका। समय-समय पर आपकी विद्वत्ता का भी मैंने लाभ उठाया। प्रकाशन विभाग में शोध सहायक डॉ. ज्ञानधर पाठक का विशेष आभार प्रकट करती हूँ। मैंने पुस्तक लिखकर तैयार कर ली थी, परन्तु ग्रन्थ-प्रकाशन के लिए मुझे आर्थिक कठिनाई थी। ऐसे समय में डॉ. पाठक जी ने मुझे श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ से ग्रन्थ प्रकाशन का सुझाव

दिया और समय-समय पर मुझे प्रेरित करते रहे। आपकी ही प्रेरणा के फलस्वरूप आज मेरा ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है। अतः आपकी कृपादृष्टि का मैं कदापि विस्मरण नहीं कर सकती और हृदय से धन्यवाद देती हूँ।

कृतज्ञता के इस अवसर पर मैं श्री जगदीश शरण की अत्यन्त आभारी हूँ। पुस्तक के प्रकाशन में सामग्री संयोजन में अत्यन्त मनोयोग से सहयोग प्रदान किया। आपका यह प्रशंसनीय योगदान स्मरणीय है।

सभी ग्रन्थकारों, विद्वानों, कृपालु सहयोगियों एवं मित्रों की भी ऋणी हूँ, जिनके ग्रन्थ एवं विचार प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन में मेरे मार्गदर्शक रहे। अमर प्रिंटिंग प्रेस द्वारा शुद्ध मुद्रण भी स्तुत्य है।

अन्त में मैं पुनः सबका आभार प्रगट करती हुई इतना ही कहना चाहती हूँ कि अमूल्य सामग्री के उपयोग में मुझसे जो अपूर्णताएँ हुई हैं उनके लिए क्षमा याचना करना मेरा धर्म है क्योंकि-

**गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।**

13.04.2015 **डॉ. ज्योत्स्ना मोहन**

## विषय सूची

# प्रथम अध्याय

# पर्यावरण चिन्तन

**पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।**

उपनिषद् के उपर्युक्त मन्त्र में इस सत्य से अवगत कराया है कि अखण्ड ब्रह्माण्ड की रचना प्रकृति के विविध अवयवों के मेल से है। तरु, लता, वनस्पति, कीट, पतंग, पक्षी और मनुष्य सब मिलकर प्राणियों का एक ही परिवार है। सब एक ही वायु से श्वास लेते हैं, एक ही धरती पर चलते हैं, और विश्व के वितान एक ही द्युलोक से प्राप्त वस्तुएँ ग्रहण करते हैं। स्पष्ट है कि सभी जीव–जन्तु, पेड़–पौधे, नाना प्रकार के दृश्य एवं अदृश्य पदार्थ और शक्तियाँ, इसकी विविधता में सम्पूर्णता का प्रतीक हैं और इन्हीं के मिलन से चराचर जगत् की सृष्टि हुई है। अखण्ड ब्रह्माण्ड के इन विविध अवयवों में से किसी एक के साथ यदि क्षति पहुँचाई गई तो समस्त सृष्टि का नैसर्गिक चक्र खण्डित हो जाएगा और उसके परिणामस्वरूप पर्यावरण अवक्रमण का वर्तमान संकट और गम्भीर होगा।

यह सत्य है कि जीवन का अस्तित्व शून्य में सम्भव नहीं है। इस जगत् में जीवन का उदय होता है, विकास होता है, जीवन–यात्रा होती है और उसका अस्त होता है। ये सभी परिवेश सापेक्ष हैं। जीवन की विकास यात्रा अपने परिवेश के साथ निरन्तर सम्प्रेषण एवं आदान–प्रदान की प्रक्रिया में जन्म लेती है। जब तक यह प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहती है उस समय तक जीवन की यात्रा भी अपने पथ पर निरन्तर गतिशील भी रहती है। जिस समय आदान–प्रदान और सम्प्रेषण की यह प्रक्रिया रुक जाती है, तब जीवन अपने वर्तमान स्वरूप में अस्त हो जाता है। अतः प्रकृति के उपहारों को उतना ही ग्रहण करना चाहिए जितना जीवन–यापन के लिए नितान्त आवश्यक है। उपनिषदों में एक ऐसे वृक्ष का वर्णन किया गया है जिस पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक पक्षी तो वृक्ष के फल खाने में व्यस्त है और दूसरा पक्षी केवल देख रहा है, वह फल नहीं खाता –

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति।।**

इस रूपक द्वारा उपनिषद् ने सृष्टि के एक महान् सत्य का प्रतिपादन किया है। वृक्ष का अभिप्राय प्रकृति से है और उस पर जो दो पक्षी बैठे हैं वे जीवात्मा और परमात्मा हैं। जीवात्मा प्रकृति का भोक्ता है, वह उसके सुस्वादिष्ट फलों का भक्षण करता है। वह प्रकृति के विविध तत्त्वों और रहस्यों का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें अपने सुख और समृद्धि के लिए प्रयुक्त करता है। इसके विपरीत परमात्मा केवल द्रष्टा है, वह सृष्टि का नियमन अवश्य करता है, पर उसका उपभोग नहीं करता। इसमें सन्देह नहीं कि जीव या मनुष्य प्रकृति का उपभोग करने वाला है। वह इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है कि प्रकृति पर अपना आधिपत्य स्थापित कर उसके सुस्वादिष्ट फलों को प्राप्त करें। वस्तुतः प्रकृति के भण्डार सबकी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त हैं, परन्तु चन्द लोगों के लालच को तृप्त करने के लिए बहुत थोड़े हैं। ऐसी परिस्थिति न उत्पन्न हो जाए कि प्राकृतिक संसाधनों के साथ–साथ मानव का जीवन चक्र ही खण्डित हो जाए और हम सब प्रकार से पूर्ण इस सृष्टि और अखण्डता के प्रतीक भारतीय संस्कृति की रक्षा न कर पाएँ।

'पर्यावरण' आज के भौतिकवादी युग की सबसे बड़ी समस्या है और 'पर्यावरण' की सुरक्षा का प्रश्न आज विचारकों के लिए चिन्ता का विषय है। आज 'पर्यावरण' का अर्थ एक सीमित प्रयोग में होने लगा है। परन्तु 'पर्यावरण' के व्युत्पत्तिपरक अर्थ से हम एक विस्तृत परिवेश की चर्चा कर सकेंगे।

## पर्यावरण का अर्थ

साधारणतः पृथ्वी के चारों ओर जो आवरण है उसे 'पर्यावरण' कहते हैं। वस्तुतः यह दो शब्द परि + आवरण से मिलकर बना है। जीव जिस परिवेश में अपने अस्तित्व में आता है वह अति सूक्ष्म से लेकर अति स्थूल तक व्याप्त है, अतः इस जगत् में विद्यमान् सभी वनस्पति, पशु–पक्षी और सभी भौतिक परिस्थितियाँ जो मनुष्य के बाह्य में उपलब्ध हैं वह मनुष्य का 'पर्यावरण' है। 'पर्यावरण' विज्ञान के लिए दो अंग्रेजी शब्द हैं – Environmental Science और Ecology। लक्षण सामान्यतः इस तरह किया जाता है 'जीव या जीवसमूह के उसके परिवेश के साथ सम्बन्ध का अनुशीलन या चेतन जीव और उनके परिवेश इन दोनों के बीच के परस्पर सम्बन्धों की आलोचना'। पाश्चात्य विद्वान् एनास्टसी

के अनुसार – 'पर्यावरण वह प्रत्येक वस्तु है जो शुक्रकण के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु को प्रभावित करती है।'

डगलस व हॉलैंड के अनुसार – 'पर्यावरण या वातावरण वह शब्द है जो समस्त बाह्य शक्तियों, प्रभावों और परिस्थितियों का सामूहिक रूप से वर्णन करता है, जो जीवधारी के जीवन, स्वभाव, व्यवहार और अभिवृद्धि, विकास तथा प्रौढ़ता पर प्रभाव डालता है।' अत: जो कुछ भी हमारे चारों और विद्यमान है और जो हमारी रहन–सहन की दशाओं तथा मानसिक क्षमताओं को प्रभावित करता है वही पर्यावरण कहलाता है तथा वह शिक्षा जो हमें पर्यावरण का ज्ञान प्रदान करती है उसे पर्यावरण शिक्षा कहते हैं।

Ecology अर्थात् पारिस्थितिकी यह संज्ञा दो ग्रीक शब्दों से बनी है, वे दो शब्द हैं – १. oil और २. logos। इस शब्द का अक्षरश: अर्थ है 'धरा में रहने वाले जीव'। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में इसका अर्थ है – ''जीवों के स्वभाव, जीवनशैली और उनके परिवेश में उनका सम्बन्ध, इन सब मुद्दों की आलोचना करने वाली जीवनशास्त्र की शाखा।'' इस चर्चा से पता चलता है कि पर्यावरण विज्ञान में जीव, उनके परिवेश तथा इन दोनों के बीच में सम्बन्ध का विचार किया जाता है।

पारिस्थितिकी तंत्र शब्द का उपयोग सर्वप्रथम टांस्ले ने सन् १९३० में किया। पारिस्थितिकी–प्रणाली को हम सरलतम भाषा में प्रकृति भी कह सकते हैं, क्योंकि प्रकृति में मुख्यतया जीवों तथा अजैविक वातावरण का योग होता है। पारिस्थितिकी – तन्त्र एक जटिल संकल्पनात्मक इकाई है जो सजीव प्राणियों तथा उनके वातावरण से बनती है। पारिस्थितिकी–तन्त्र में समुदाय का आपस में तथा अपने भौतिक वातावरण तथा रसायानिक पदार्थों से अंत:क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। तालाब, जंगल, गाँव आदि पारिस्थितिकी–तन्त्र के ही उदाहरण हैं। पारिस्थितिकी–तंत्र में जीव अपने आसपास से पदार्थों को ग्रहण करके अपने शरीर में वृद्धि करते हैं और कार्बनिक पदार्थों का निर्माण करते हैं। यह कार्बनिक पदार्थ पुन: खण्डित होकर अकार्बनिक पदार्थों में बदल जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति में विभिन्न प्रकार के पदार्थों का चक्रीकरण चलता रहता है।

स्पष्ट है कि किसी भी समुदाय में अनेक जातियों के प्राणी रहते हैं। वे सभी जीव एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं, साथ ही अपने आसपास के वातावरण को भी प्रभावित करते हैं। इस प्रकार संरचना एवं कार्य की दृष्टि से

समाज एवं वातावरण एक तत्त्व की तरह कार्य करते हैं इसे ही पारिस्थितिकी–तंत्र या 'इको सिस्टम' कहते हैं।

## पर्यावरण के प्रकार

बीसवीं शताब्दी में 'पर्यावरण' का अर्थ एक सीमित प्रयोग के लिए किया जाने लगा। परन्तु जैसा कि पीछे स्पष्ट किया है कि 'पर्यावरण' के व्युत्पत्तिपरक अर्थ से हम अपने चारों ओर के आवरण को 'पर्यावरण' में ही लेते हैं। इस दृष्टि से यदि 'पर्यावरण' के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की जाए तो प्राकृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक, राजनैतिक सभी तरह के व्यवहार, क्रिया–कलाप हमारे 'पर्यावरण' के ही अंग है।

भारत में 'पर्यावरण' के प्रति सम्मान और संरक्षण की महती परम्पराएँ रही हैं। संस्कृत वाङ्मय में वैदिक साहित्य से लेकर लौकिक साहित्य तक 'पर्यावरण' का वर्णन किसी न किसी रूप में उपलब्ध है। धर्म, राजनीति और समाज इन सभी की संस्कृत वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है तथा सभी के परस्पर समन्वय से पर्यावरण संरक्षित रहा है।

## प्राकृतिक पर्यावरण

किसी भी भाषा की प्राचीन पुस्तकों का अवलोकन किया जाए तो वृक्षों, पौधों, नदियों तथा पर्वतों आदि की चर्चा अवश्य मिलेगी। मनुष्य ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा जाना कि 'प्रकृति मनुष्य की सबसे बड़ी शिक्षिका है।' जहाँ मनुष्य प्रकृति की ओर आकर्षित था वहाँ उसकी शक्ति से त्रसित भी था। **'ॐ नमः प्रकृत्यै'** कहकर ब्रह्मवैवर्त पुराण में सच्चिदानन्दमयी प्रकृति को नमस्कार किया है। उससे जीवन के यथार्थ को प्रकृति की गोद में ढूँढने का प्रयत्न किया। प्रकृति और मानव का सम्बन्ध उतना ही प्राचीन है जितना कि सृष्टि के उद्‌भव और विकास का इतिहास। प्रकृति माँ की गोद में ही प्रथम मानव शिशु ने आँखें खोली थीं, उसी की क्रोड़ में बड़ा हुआ और अन्त में उसी के आलिंगन में आबद्ध चिरनिद्रा में सोता रहा। प्रकृति के अद्‌भुत क्रिया–कलापों से उसकी हृदयस्थ भावनों में भय, विस्मय और प्रेम आदि का स्फुरण हुआ। उसी नियमितता को देखकर उसके मस्तिष्क में ज्ञान–विज्ञान की बुद्धि का विकास हुआ। दार्शनिक दृष्टि से भी प्रकृति और मानव का सम्बन्ध स्थायी है, चिरन्तन

है। सत् रूपी प्रकृति, चित्त रूपी जीव और आनन्द रूपी परमतत्त्व तीनों मिलकर सच्चिदानन्द परमेश्वर की सत्ता का रूप धारण करते हैं। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों दृष्टियों से प्रकृति मानव का पोषण करती हुई उसे जीवन में आगे बढ़ाती है।

मानव और प्रकृति के अटूट सम्बन्धों की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, साहित्य और कला में चिरकाल से होती रही है। साहित्य मानव का प्रतिबिम्ब है। अत: उस प्रतिबिम्ब में उसकी सहचरी प्रकृति का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है। प्रकृति मानव–हृदय और काव्य के बीच संयोजक का कार्य भी करती है। आदिकवि वाल्मीकि द्वारा प्रकृति के दो सजीव प्राणियों में से एक का वध देखकर अकस्मात् **'मा निषाद् प्रतिष्ठास्त्वगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्'** के प्रस्फुटन ने काव्य को जन्म दिया। आषाढ़ के प्रथम बादलों को देखकर कविकुल शिरोमणि कालिदास इतने भावविभोर हो गए कि उनकी अनुभूतियाँ मेघदूत का रूप धारण कर प्रवाहित हुईं। प्रकृति हमारे कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत ही नहीं, सौन्दर्य का अक्षय भण्डार, कल्पना का अद्‌भुत लोक, अनुभूति का अगाध सागर और विचारों की अटूट शृंखला रही है।

मानव प्रकृति की सन्तान है और वह समाज में रहता है। इसी कारण उसका सम्बन्ध इन दोनों से है। हमें प्रकृति और समाज के प्रति स्नेह और भावना रखनी चाहिए और यही शिक्षा आज पर्यावरण वैज्ञानिक देना चाहते हैं। यद्यपि इस पर विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी। हम प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ें तो यही दिखाई देता है कि हमारे पूर्वज ऋषि, मुनि, कवि और मनीषी थे। उन्होंने हमें यही शिक्षा दी। प्रकृति के प्रति सम्मान की भावना और समाज के साथ बन्धुत्व की भावना यही दो मन्त्र हैं मानव के सुखमय जीवन के। इन मन्त्रों का पालन करने के लिए मानव को भावना का त्याग कर विनम्रता सीखनी होगी।

यदि हम अपने अतीत की ओर दृष्टि डालें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चिन्तनशील व्यक्तियों के विचारों के प्रस्फुटित हो सकने के लिए तथा विभिन्न कलाओं और विज्ञानों के समृद्ध हो सकने के लिए एक सुव्यवस्थित समाज का होना अत्यावश्यक है जो पर्याप्त सुरक्षा और अवकाश प्रदान कर सकें। जहाँ लोगों को जीवित रहने के लिए संघर्ष करना और अभाव से पीड़ित रहना पड़ता है वहाँ किसी समृद्ध संस्कृति का पनपना और उन्नति करना असम्भव है।

भाग्यवश भारत ऐसे स्थान पर स्थित है जहाँ प्रकृति अपने दान में मुक्तहस्त रही है और जहाँ के प्राकृतिक दृश्य मनोरम हैं। एक ओर हिमालय अपनी सघन पर्वतमाला और उत्तुगंता के कारण तथा दूसरे पार्श्वों में लहराता हुआ सागर एक लम्बे समय तक भारत के बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रखने में सहायक सिद्ध हुए। उदार प्रकृति ने प्रचुर मात्रा में खाद्य–सामग्री प्रदान की और इस प्रकार यहाँ के निवासी कठोर परिश्रम और जीवित रहने के संघर्ष से मुक्त रहे।

भारतीयों ने कभी यह अनुभव नहीं किया कि संसार एक युद्ध क्षेत्र है, जहाँ लोग शक्ति, सम्पत्ति और प्रभुत्व की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हैं। जब हमें पार्थिव जीवन की समस्याओं को हल करने, प्रकृति से अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने तथा संसार की शक्तियों को नियंत्रित करने में अपनी शक्ति को व्यर्थ नहीं गँवाना पड़ता तो उस समय हम उच्चतर जीवन के विषय में आत्मशक्ति के विषय में चिन्तन आरम्भ करते हैं।

प्रकृति की अपार सम्पदा के होते हुए भी भारतीयों ने अकर्मण्यता के सिद्धान्त को नहीं अपनाया । कर्म ही जीवन का लक्ष्य माना। विस्तृत पत्रसंकुल, वृक्षावली से पूर्ण विशाल वनों में धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को शान्तिपूर्वक विचरने की तथा अद्‌भुत कल्पनाओं और दिव्य आनन्द के गान में रत रहने की सुविधा प्रदान की। संसार से क्लांत व्यक्ति इन प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकनार्थ तीर्थयात्रा पर निकलते हैं, आन्तरिक शान्ति प्राप्त करते हैं, मन्द–मन्द पवन तथा निर्झरों का संगीत सुनते हैं एवं पक्षियों, वनलताओं–पल्लवों के मर्मर गान से प्रमुदित होकर एक राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बँधकर प्रफुल्ल मन लौटते हैं। आश्रमों, तपोवनों और वानप्रस्थों की अरण्य कुटियों में भारत के तत्त्वचिन्तकों ने जीवन की गम्भीर समस्याओं का विचार किया। सुरक्षित जीवन, प्राकृतिक साधनों की सम्पन्नता, अति चिन्ता से मुक्ति, जीवन की जिम्मेदारियों से विरक्ति और क्रूर व्यावहारिक स्वार्थ के अभाव में ही भारत के उच्चतर जीवन को प्रोत्साहन प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप हमें इतिहास के आरम्भकाल से ही भारतीय मन में आत्मज्ञान के लिए एक प्रकार की विकलता, विद्या के प्रति प्रेम और मस्तिष्क की अधिक स्वस्थ और युक्तियुक्त प्रवृत्तियों के प्रति लालसा दिखाई देती है। इस प्रकार हमारी सब यात्राएँ प्रकृति का साहचर्य बनाए रखने में सहयोग करती हैं।

प्राकृतिक पर्यावरण का एक बड़ा और प्रमुख अंश है – पाञ्चभौतिक

पर्यावरण। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश को पञ्चमहाभूत कहते हैं। स्पष्ट है कि 'पर्यावरण विज्ञान' यह संज्ञा चाहे कितनी ही नई क्यों न हो किन्तु उसका जो विषय है – जीव, उसके परिवेश और उन दोनों के बीच का सम्बन्ध, वह तो मानव जाति के आरम्भ से ही विद्यमान है। इसके लिए ऋग्वेद का 'नासदीय सूक्त' द्रष्टव्य है जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में एक उन्नत सिद्धान्त पाया जाता है। यदि हम आदिकाल की ओर दृष्टि डालें तो समझ सकते हैं कि उसके लिए खतरनाक जीव–जन्तु या पेड़–पौधे कौन से हैं और उसके लिए लाभदायक कौन–से हैं और इस दृष्टिकोण में यदि आदि मानव अच्छी तरह न समझता तो उसका जीवन धारण करना कठिन तो क्या असम्भव सा था। अतः हमें जो कुछ भी अपने आसपास दिखाई देता है या जिन तत्त्वों का हम अपने नित्य के जीवन में अनुभव करते हैं – जैसे भूमि, जल, वृक्ष, वायु, जीव–जन्तु सभी सम्मिलित रूप से पर्यावरण की रचना करते हैं। मानव की अनुक्रियाओं को ही नहीं, अपितु समस्त जीव–जन्तुओं, पेड़–पौधों की अनुक्रियाओं को प्रभावित करने वाले भौतिक तत्त्व पर्यावरण में सम्मिलित होते हैं। भूमि, जल, वायु तथा पेड़–पौधों का प्रभाव मानव जीवन पर पड़ता है, अतः ये पर्यावरण के अङ्ग हैं।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। बुद्धि के रूप में मनुष्य को एक ऐसी शक्ति प्राप्त है जो अन्य प्राणियों को प्राप्त नहीं है। बुद्धि जहाँ मनुष्य में प्रकृति के विविध तत्त्वों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करती है, वहाँ वह सृष्टि के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए भी प्रेरित करती है। प्रकृति के विविध कोपों को देखकर वह सोचने लगता है कि वायु, जल, अग्नि आदि ऐसी दैवी शक्तियाँ हैं, जिन्हें सन्तुष्ट व तृप्त रखे बिना वह कभी अपने हित का सम्पादन नहीं कर सकता। वह वायु, अग्नि आदि को देवता मानकर उनकी पूजा के लिए प्रवृत्त होता है और इस प्रकार धर्म का प्रादुर्भाव होता है। वैदिक धर्म का प्रारम्भिक रूप इसी प्रकार की प्रकृति पूजा था। मित्र, वरुण, सूर्य, अग्नि, पृथ्वी आदि पञ्च तत्त्वों को, विभिन्न शक्तियों को ही विभिन्न देवताओं के नाम से सम्बोधित कर अथवा माता–पिता–भ्राता जैसे सम्बन्ध स्थापित कर विभिन्न ऋचाओं में वैदिक साहित्य प्रकृति के नानाविध रूपों का गुणगान है।

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में हमें पञ्च तत्त्वों की शुद्धता के प्रति दिये गये श्लोक मिलते हैं। अतः प्रातः उठकर मनुष्य जो प्रातर्विध करता है वह कहाँ–कहाँ

न करे, इसका निषेध विष्णुस्मृति में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि मनुष्य के प्रातर्विध के विषय में यह सब नियम हो और उनका यदि पालन किया जाये तो पृथ्वी, जल, आकाश, वायु की अशुद्धता से रक्षा होती है।

## सामाजिक पर्यावरण

**ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट**
**संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।**
**अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात**
**समग्रास्थ सध्रीचीनान्।।**

**(अथर्ववेद, संज्ञानसूक्त)**

अर्थात् श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदय से एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक–दूसरे को प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझ को खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरुक्त जनों से सदा मिले हुए रहो।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः सामाजिक पर्यावरण उसके लिए बहुत अर्थ रखता है। भारत के प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियों ने राष्ट्र एवं विश्व की स्थिति को सुस्थिर बनाने के लिए अपनी कुशाग्रमति से जो प्रयत्न किया है, वह प्रशस्यतम है। उन्होंने नानारूपात्मक पदार्थों के अन्तःस्थल में विद्यमान एक रूपता की खोज कर उसके आधार पर मनुष्य की वैयक्तिक तथा सामजिक रचना की, जिससे जायमान सभी विवाद और संघर्ष शान्त हो सकें – मानव जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति, राष्ट्रिय जीवन का मौलिक सुधार तथा उसका विशुद्ध और स्थायी रूप हो सके।

भारतीय शास्त्रों ने मनुष्य की आयु के चार भाग किये। प्रथम भाग ब्रह्मचर्य–जीवन में अध्ययनादि कर्तव्य था। यह समय प्रारम्भिक उच्च शिक्षा का होता है। इसलिए उस समय सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, इत्यादि उच्च शिक्षाएँ दी जाती थीं, आज जिनका अभाव है और सामाजिक पर्यावरण दूषित हो रहा है। उन प्रारम्भिक उच्च शिक्षाओं के कारण बड़े–बड़े सुधारक और नेता लोग भी समाज और राष्ट्र के लिए सुयोग विद्वान् और सच्चे सुधारक तथा पथप्रदर्शक सिद्ध होते थे।

दूसरा गृहस्थ–जीवन में प्रवेश है। पारिवारिक जीवन में (जिसे लघु

समाज—निर्माण कह सकते हैं) रहते हुए समाज की विविधोन्नति में सहायक होते थे।

आयु का तीसरा भाग वानप्रस्थ—जीवन में बिताया जाता था। परिवार का सम्पूर्ण दायित्व अपनी सन्तान को देकर ईश्वरोपसाना में तत्पर हो जाते थे। आयु के चतुर्थ भाग में संन्यास जीवन लेकर संसार की सर्वविध आसक्ति को छोड़कर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस उपदेश का अनुसरण करते हुए मनुष्य—जीवन में चरम लक्ष्य परम सत्य की खोज करते और उसकी अनन्तता में प्रवाहित हो जाते थे। यह वैयक्तिक रचना ही आश्रम व्यवस्था है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस वैयक्तिक रचना से मनुष्य अपने चरम ध्येय की प्राप्ति कर सकता है और हिंसा—स्तेय—प्रतारण—स्वार्थपरता—परोपकारचिकीर्षा आदि समस्त दोषों की जननी कामना उत्पन्न ही नहीं हो सकती। उक्त दोषों के अभाव से समाज और राष्ट्र की स्थिति में थोड़ा भी अन्तर नहीं आ सकता। अतेव यह चार सोपान मानुष जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति की पराकाष्ठा एवं राष्ट्र और समाज का मौलिक सुधार था।

स्पष्ट है कि सभी मनुष्यों को इस विशाल समाज—पुरुष के अङ्ग—प्रत्यङ्ग समझकर वह समाज विशाल एवं सुदृढ़ भवन के रूप में असंख्य झंझावातों को झेलता हुआ अविचल खड़ा रहे। अत: हमारे मनीषियों ने मनुष्य की प्रकृति पार्थक्य के आधार पर भाग चतुष्ट्य रूप चार स्तम्भों से उसे दृढ़शक्ति बना दिया, जिससे उसका कोई भी भाग विकृत न हो सके और एक शुद्ध सामाजिक वातावरण का निर्माण हो सके।

सामाजिक पर्यावरण स्वस्थ और शुद्ध रखने के लिए हमें पर्यावरणों के दो और प्रकारों की ओर दृष्टि डालनी होगी जिन पर सामाजिक पर्यावरण पूर्ण रूप से निर्भर है। वह दो प्रकार का है – १. मानसिक पर्यावरण, और २. बौद्धिक पर्यावरण। सामाजिक पर्यावरण तब दूषित होता है जब मानसिक पर्यावरण ठीक नहीं रहता है। प्रश्न उठता है कि मानसिक पर्यावरण क्या है? वह क्यों और कैसे दूषित होता है? मन में आने वाले विचार, भाव, भावना, यही है मानसिक पर्यावरण। मन जब स्वार्थी विचारों से भरा होता है तब उसमें काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर जैसे दोष सम्भवत: आ जाते हैं। एक बार भी यदि मन इन विकारों में से किसी एक द्वारा भी ग्रसित हो गया तो वह मन निरपेक्ष रूप से सोचने में असमर्थ हो जाता है। इसी को हम कहते हैं मानसिक पर्यावरण का

दूषित होना। इसका प्रभाव यह होता है कि भाई–भाई का शत्रु हो जाता है, हम दूसरे धर्मों का आदर नहीं कर सकते। 'अथर्ववेद' के सौमनस्य सूक्त में परिवार में शान्ति के लिए प्रार्थना की है –

**सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते।**
**अधस्ते अरमनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः।।**

**(अथर्ववेद ६.४२)**

प्रत्येक प्राणियों के विद्वेष को हटाकर सहृदयता, संमनस्कता के लिए आशीर्वचन है। जिस प्रकार गौ अपने बछड़े से प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक दूसरे से प्रेम करें –

**सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।**
**अन्योऽन्यमभिनवत वत्सं जातमिवाध्न्या।।**

पुत्र, पिता के व्रत पालन करने वाला हो तथा माता का आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पति से शान्ति युक्त मीठी वाणी बोलने वाली हो –

**अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवति संयतः।**
**जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।**

भाई–भाई आपस में द्वेष न करें। बहिन–बहिन के साथ ईर्ष्या न रक्खे। आप सब एकमत और समान व्रत वाले बनकर मृदुवाणी का प्रयोग करें –

**मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।**
**सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।**

जिस प्रेम से देवगण एक दूसरे से पृथक् नहीं होते और न आपस में द्वेष करते हैं, उसी ज्ञान को तुम्हारे परिवार में स्थापित करता हूँ। सब पुरुषों में परस्पर मेल हो–

**येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।**
**तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।।**

'घर' या 'कुटुम्ब' समाज की सबसे छोटी इकाई है। अगर घर में शान्ति और प्रेम का निवास हो तो पूरा समाज ही स्वस्थ हो जाएगा, फिर द्वेष या शत्रुता को अवसर ही प्राप्त नहीं होगा। यही था आदर्श हमारे ऋषियों की दृष्टि में। आज भी हम मन ही मन ऐसे समाज की आशा करते हैं और इसी की इच्छा रखते हैं। इस स्वप्न को पूरा करने के लिए परस्पर आदर भाव अपनाना होगा। प्रेम भाव से अग्रणी का अनुसरण करें। देव जिस प्रकार समान चित्त से अमृत की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो–

सध्रीचीनान् वः समनसः कृणोम्ये–
कश्नुष्टीन् संवननेन सहृदः।
देवा इवेदमृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सुसमितिर्वो अस्तु।।

यही वैदिक ऋषि का आशीर्वचन है।

केवल समाज के दूसरे हिस्सों से नहीं अपितु प्रकृति के साथ भी अपना सम्बन्ध स्थापित करना होगा। अतेव हमें सत्य का ज्ञान होना चाहिए कि हम सब प्रकृति के अंश हैं और इसी कारण से एक साथ जुड़े हुए हैं। हम सबका एक दूसरे से आन्तरिक नाता है।

इसी बात को वैदिक ऋषियों ने समझा और माना था। इसे दूसरों को समझाने के लिए उन्होंने विश्व को एक पुरुष के रूप में देखा। पुरुषसूक्त में हमें इनकी यह विचारधारा स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। पूरा विश्व अगर एक ही व्यक्ति है तो स्पष्ट है कि हम सब इसके अंश होने की वजह से एक दूसरे से जुड़े हों।

## प्राणिगत पर्यावरण

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि।।

उस पृथ्वी विश्वम्भरा धरा का गुण–गौरव का गान किया है जहाँ सब ओर विविध वनस्पति, वृक्ष आदि खड़े हैं।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं
विभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति।।

अर्थात् द्विपद–चतुष्पद सब जीवों की पृथ्वी पालनहार है। मर्त्यगण तुझ पर ही उत्पन्न होकर तुझ पर विहार करते हैं। ये मनुज पञ्चविध तेरे ही हैं। उस पृथ्वी के हित के लिए रवि उदित होकर रश्मियों से अमृत विकीर्ण करता है।

स्पष्ट है हमारे प्राचीन शास्त्रों के अनुसार सारे प्राणी–पक्षी, कीट–पतंगे, जलचर, सरीसृप यहाँ तक कि सारे पेड़–पौधे, वृक्ष इत्यादि सभी उस विश्वपुरुष के अंश हैं। यही कारण है कि हम हमेशा एक दूसरे से स्नेहभाव से रहें। सभी मिलकर रहें, प्राणियों का एक ही परिवार है। मनुष्य सदैव आदर्शों पर नहीं

चलता, उसे कुछ भय भी होना चाहिए। हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों में इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्राणी, पक्षियों को, पेड़–पौधों को एक ओर अलग–अलग देवी–देवताओं से सम्बन्ध कर दिया गया और दूसरी ओर इनको हानि पहुँचाने वालों के लिए भी व्यवस्था की है।

गाय हमारे लिए सब से कल्याण करती है। गाय का दूध निर्बल एवं निस्तेज को हृष्ट–पुष्ट बना देता है। गाय ऐश्वर्य रूप है, परमात्मा हमें गाय दे–

**अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।**

**X X X X**

**गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान्।**

वेदों में तो यहाँ तक भी आया है कि व्याघ्रादि और गाय आदि जीवों का द्युलोक पिता है, पृथिवी माता –

**कर्शफस्य बिशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता।**

वह ईश सभी मनुष्यों और पशुओं का स्वामी है –

**य ईशे . . . . पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।**

शिक्षा भी दी है कि मित्र हंसों के तुल्य मधुरभाषी हों –

**हंसैरिव सखिभिर्वावद्भिः।**

वृक्षों को हमारे ऋषियों ने 'स्थावरभूत' कहा जो कि पूर्णतः वैज्ञानिक कथन है। 'स्थावरभूत' का अर्थ है – ऐसे जीव जो एक जगह से दूसरी जगह नहीं जा सकते। इनकी छः जातियों का उल्लेख मिलता है। वेद, उपनिषद्, पुराण से लेकर कवि कुलगुरु वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति सभी ने मुक्त कण्ठ से 'वृक्षों' के प्रत्येक रूप का गुणगान किया है। इन कवियों ने यदि वृक्षों, वनस्पतियों, गुल्म, लताओं के सौन्दर्य को निहारा है तो दूसरी ओर शीत–उष्णता सहते वृक्षों को भी देखा है। वृक्षों के द्वारा कोई पथिक फल–फूल ग्रहण करता है, कोई उसकी शीतल छाया में आनन्द अनुभूति प्राप्त करता है, परन्तु विडम्बना यह है कि विकराल ग्रीष्म के समय पर इन वृक्षों की जड़ में जल देने वाला नहीं है –

**कश्चिन्नवं पल्लवमाददाति कश्चित्प्रसूनानि फलानि कश्चित्।**
**परं करालेऽस्य निदाघकाले मूले न दाता सलिलस्य कश्चित्।।**

वृक्षों को पुत्रवत् पालने करने में ही मनुष्य पुण्य का भागी बन सकता है, वृक्षों के प्रति किए उपकार का ऋण चुका सकता है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यही ऋषियों का आदेश है। वृक्षों को पुत्र मानकर उसकी रक्षा और

पालन—पोषण करने से मनुष्य को इहलोक में सुख मिलेगा। यह कहने वाले हमारे पूर्वज सत्य—द्रष्टा थे।

वैदिक ऋषियों ने वनस्पतियों और जन्तुओं आदि को दैवी ढंग से प्रकाशित किया है। प्राचीन भारतीयों ने जन्तुओं को पालतू बनाकर वनस्पतियों को अपने परिश्रम से खेतों और उद्यानों में लगाया। उनमें देवत्व का अनुभव हुआ। यही कारण है कि धर्म—ग्रन्थों में पेड़—पौधों से प्रेम के साथ उनकी पूजा का भी उल्लेख है। वैदिक देवताओं के प्राकृतिक शक्तियों से साम्य स्थापित करने के समय से ही शनैः शनैः उन प्राकृतिक शक्तियों को ही अति मानवसत्ता का रूप दे दिया।

स्पष्ट है कि इस प्रकार पेड़—पौधे, जल, वायु सभी मिलकर पर्यावरण का निर्माण करते हैं। पर्यावरण के जैविक और अजैविक घटक एक दूसरे से पारस्परिक क्रिया करते हैं। किसी भी घटक को असंतुलित हो जाने पर सम्पूर्ण पर्यावरण तन्त्र अस्थिर हो जाता है। श्रीमद्भागवत में भी कहा है –

**खँ वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतिषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन।**
**सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः।।**

अर्थात् यह आकाश, अग्नि, वायु, पृथ्वी, ग्रह—नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष—वनस्पति, नदी, समुद्र आदि सभी भगवान् के शरीर हैं। सभी रूपों में स्वयं भगवान् प्रकट है, ऐसा समझकर जो कोई भी सामने आ जाता है उसे अनन्य भाव से प्रणाम करता है।

प्राणिगत पर्यावरण को संतुलित बनाए रखने के लिए वैदिक ऋषि ने 'पृथ्वी सूक्त' में बड़ी सुन्दर भावना व्यक्त की है –

**यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति।**
**हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।**
**यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि**
**कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।**
**वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः।।**
**यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते**
**अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।**
**वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो**
**दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि।।**

**जिस वसुन्धरा में दो पग वाले पंछी, हंस–गरुड़ भर रहे उड़ान**
**जिस पर धूल उड़ाती आँधी और गिराती वृक्ष महान्,**
**जब समीप से वसुधातल पर प्रखर समीरण है चलता,**
**लपटों से अनुसरण उसी का करता हुआ अनल जलता।।**
**जिस वसुन्धरा पर जब होता परम मनोरम प्रातःकाल,**
**मिलता श्यामरंग रजनी के संग दिवस दूलह सा लाल–**
**वर्षा की शत–शत धारा से आवृत्त हो वह भूमि महान्**
**हम सबको प्रिय धाम–धाम में भद्र भावना से दे स्थान।।**

मनुष्य ही इस पर्यावरण को सन्तुलित और असन्तुलित करने वाला महत्त्वपूर्ण कारक है।

## आध्यात्मिक पर्यावरण

**औचित्याद् वृत्तमुक्तस्य वचनात् तत्त्वचिन्तनम्।**
**मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः।।**

अध्यात्म क्या है? योगबिन्दु में स्पष्ट किया है कि औचित्यपूर्ण विधिवत् चरित्रसेवी पुरुष का शास्त्रानुगामी तत्त्व चिन्तन, मैत्री, करुणा, प्रमोद तथा माध्यस्थ रूप उत्तम भावनाओं का जीवन में सम्यक् स्वीकार ज्ञानीजनों द्वारा अध्यात्म कहा जाता है। स्पष्ट है कि जो आत्मा को आत्मा से, आत्मा से धारण करता है, वह अध्यात्म है और अध्यात्म ही तप है।

यदि संसार में ऐसा कोई देश है, जिसमें सभ्यता के सूर्य का सर्वप्रथम उदय हुआ, जिसमें ज्ञानमहोदधि की उताल तरङ्गे अनादिकाल से सुदूर कोनों को भी आप्लावित करती रही हैं, जहाँ कर्म, ज्ञान और भक्ति की परम त्रिवेणी पूर्वैतिहासिक काल से दुःखदावानलदग्ध प्राणियों के सन्तप्त हृदयों को शान्ति सुधा पिलाती रही है, जिसको युग–युग में संख्यातीत संत महापुरुष और अवतारों को प्रकट करने का गौरव प्राप्त है, जहाँ आध्यात्मिकता–लता खूब फली–फूली है, तो वह पुण्यभूमि भारतवर्ष है। यदि समस्त विश्व में कहीं ऐसी कोई जाति है, जिसने भूभाग पर सर्वप्रथम मानव–सभ्यता और संस्कृति को जन्म दिया, जिसने जीवन की अत्यन्त उलझी हुई तपोमय ग्रन्थियों को त्याग–स्नेहपूर्ण आलोकशाली ज्ञानप्रदीप के सहारे सुस्पष्ट रीति से सुलझाकर मनुष्य जाति का परम कल्याण किया, जिसने गम्भीर विचारपूर्ण 'दर्शनों' की प्रौढ़ रचना के द्वारा ज्ञान सागर को गागर में भर दिया, जिसने विश्व को अठारह विद्या और चौंसठ कलाओं के

आलोक से चकाचौंध कर दिया, जिसको दुःख सहना सिखाया गया है, दुःख देना नहीं, जिसने सदा से अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति सहिष्णुता की भावना रक्खी है, जो आत्मा की अमरता के गीत गाती हुई तन्मय होकर अपने लक्ष्य—आत्मा के समान अमर हो गयी, विश्वबन्धुत्व का संदेश देने वाली वह पुण्यभूमि भारतभूमि है, इसीलिए स्मृतिकार घोषणा करता है –

**एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
**स्वं—स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।**

वास्तव में पृथ्वी भर में कोई ऐसा देश है जो सत्य का गौरव रखता हो, तो वह मानव जाति का आदिस्थान, प्रथम सुधार और सभ्यता का आदिस्रोत, भारतवर्ष ही है। पाश्चात्य विद्वान् स्माइल्सके के भारत के प्रति कहे हुए शब्द स्मृति पटल पर आ जाते हैं –

It is a momentous importance that a nation should have a great past to look back upon?

अर्थात् अपने राष्ट्र जीवन और दृष्टि को विशाल बनाने के लिए प्रभावशाली भूतकाल का गौरव होना परमावश्यक है। तभी हम घोरतर कठिन से कठिन अवस्था में निर्भय होकर सिर ऊँचा रख सकते हैं।

धर्म और ईश्वर की श्रद्धामय और निष्ठायुक्त भावना को ही आध्यात्मिकता कहते हैं, यही भारतीय जीवन है। यही हमारी संस्कृति की आधारशिला है। उससे सब कुछ है, उसके बिना कुछ नहीं। जीवन की समस्या का एक ही हल है, वह है धर्म और ईश्वर। यदि इस सत्य को पा लिया, जान लिया तो जीवन सार्थक है, सुखद है, अन्यथा वह केवल निरर्थक भार है। भारतीय सन्त स्वामी विवेकानन्द जी के वचनों की ओर ध्यान दें तो अपने आप मस्तिष्क की परतें खुलती जाएँगी – 'यदि मनुष्य के पास संसार की प्रत्येक वस्तु है, पर आध्यात्मिकता नहीं है तो क्या लाभ? वे जानते हैं कि इस भौतिक सृष्टि के मूल में वह सत्य और दिव्य आत्मतत्त्व निहित है, जिसे कोई पाप कलुषित नहीं कर सकता, कोई दुराचार भ्रष्ट नहीं कर सकता और दुर्वासना गन्दा नहीं कर सकती, जिसे अग्नि जला नहीं सकती और जल गीला नहीं कर सकता, गर्मी सुखा नहीं सकती और मृत्यु मार नहीं सकती। स्पष्ट है कि भौतिक पदार्थ नाशवान है। परन्तु आध्यात्मिकता अजेय है। कोई भी राष्ट्र उस वक्त तक अमर रहेगा जब तक उसके लोग आध्यात्मिकता नहीं छोड़ेंगे।

आध्यात्मिकता भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सार तत्त्व है। इसने भारत को अमर बना दिया है। भारतीय जनता के अन्तर्बाह्य सभी कर्मों और उद्योगों का यही मार्गदर्शक सिद्धान्त रहा है। आहार–विहार, वस्त्र–परिधान, स्नान, निद्रा आदि सामान्य कर्मों में भी भारतीय संस्कृति ने आध्यात्मिकता दी है, समाज के प्रत्येक वर्ग का मानव चाहे वह विद्वान् हो या मूर्ख, योद्धा हो या व्यापारी, कृषक हो या कारीगर, कवि हो या दार्शनिक – इस अमर भावना को किसी न किसी रूप या अंश में अपने साथ लिए रहता है। इस विचारधारा को प्रारम्भ में वैदिक साहित्य ने जन्म दिया, बाद में आर्ष ग्रन्थों ने इसे पल्लवित किया, फिर युग परिवर्तन के साथ पौराणिक साहित्य और महाभारत आदि ग्रन्थों ने तदनुरूप कथा–रचना और दार्शनिक वाद को मिश्रित आधार पर उसे सुरक्षित रखा। श्री अरविन्द जैसे भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ दार्शनिक तथा अन्य संस्कृतियों के ज्ञाता बलपूर्वक कहते हैं – 'आध्यात्मिकता ही भारतीय मन की मुख्य कुँजी है। अनन्तता की भावना उसकी सहज भावना है। भारत ने आदिकाल में ही यह देख लिया और अपनी तर्क बुद्धि के युग में तथा बढ़ते हुए अज्ञान के युग में भी उसने यह अन्तर्दृष्टि कभी नहीं खोयी कि जीवन को केवल उसकी बाह्य परिस्थिति के प्रकाश में ही ठीक–ठाक नहीं देखा जा सकता है। वह प्राकृतिक नियमों तथा शक्तियों की महत्ता के प्रति जागरूक था। उसे भौतिक विज्ञानों के महत्त्व का सूक्ष्म बोध था। वह साधारण जीवन की कलाओं को संगठित करना जानता था। परन्तु उसने यह देखा कि भौतिकता को अपनी पूरी सार्थकता तब तक नहीं प्राप्त होगी तब तक वह अतिभौतिक से ठीक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेती। उसने देखा कि संसार की जटिलता की व्याख्या मनुष्य की वर्तमान परिभाषाओं से नहीं की जा सकती है और मनुष्य की स्थूल दृष्टि से ही समझी जा सकती है, और यह कि विश्व के मूल में कुछ अन्य शक्तियाँ हैं, जिन्हें वह साधारणतया नहीं जानता।'

भारतीय विचारधारा का सर्वोपरि स्वरूप, जिसने इसकी समग्र संस्कृति को ओतप्रोत कर रखा है और जिसने इसके सब चिन्तकों को एक विशेष प्रकार का ढाँचा प्रदान किया है, इसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। आध्यात्मिक अनुभव भारत के सम्पन्न सांस्कृतिक इतिहास की आधारभित्ति है। भारतीय जीवन में आध्यात्मिक प्रयोजन का स्थान सदा ही सर्वोपरि रहता है। परन्तु आध्यात्मिक कोई विभिन्नता और विविधता शून्य एकरसता नहीं। यह अत्यन्त समृद्ध तथा मूर्त

जीवन का एक स्तर है, मानसिक तथा बौद्धिक से अधिक समृद्ध विविधतापूर्ण आध्यात्मिक जीवन की समता का अर्थ विभिन्नता और मौलिकता रहित समानता नहीं। इसका अर्थ है, वास्तव में रजोगुणी आवेगों के उतार–चढ़ाव से मुक्त तथा बाह्य आग्रहशील उद्वेलनों से स्वतन्त्र शान्त अन्तर में गम्भीर तथा मौलिक आत्मप्रेरणा द्वारा जीवन की स्थिति और गति का निर्धारण। इन भावों में जहाँ शान्ति और समता एक न्यूनतम सामान्य अंश होगा, वहाँ उनमें समृद्धता में कम या अधिक अथवा स्तर में ऊँच या नीच के भेद होंगे। अथवा इनमें एक क्रम विकास दिखायी देगा और अनन्त भावी विकास की सम्भावना तो सदा ही उपस्थित रहेगी।

यदि दर्शनशास्त्र की ओर देंखे तो हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि भारत में दर्शनशास्त्र मूलभूत रूप से आध्यात्मिक है। ज्ञान का आनन्द मनुष्य को उपलब्ध एक पवित्रतम आनन्द है और भारतीय मस्तिष्क में इसके लिए प्रबल लालसा की ज्वाला विद्यमान है। भारत की प्रगाढ़ आध्यात्मिकता ने ही, न कि उसके द्वारा विकसित किसी बड़े राजनैतिक ढाँचे या सामाजिक संगठन ने, इसे काल के विध्वंसकारी प्रभावों और इतिहास की दुर्घटनाओं को सहन कर सकने की सामर्थ्य प्रदान की। अपने सम्पूर्ण इतिहास में भारत का एक ही उद्देश्य रहा है वह है सत्य का संस्थापन और असत्य का प्रतिकार। भारतीय विचार में मस्तिष्क की अन्तहीन गवेषणा के दृष्टान्त मिलेंगे, जो पुरातन होने पर भी सदा नवीन हैं।

भारतीय दर्शन की रुचि मानव–समुदाय में है, किसी काल्पनिक एकान्त में नहीं। इसका उद्‌भव जीवन में से होता है और विभिन्न शाखाओं और सम्प्रदायों में से होकर वह पुनः जीवन में प्रवेश करता है।

यदि धर्म की दृष्टि से देखें तो भारत में धर्म को एक सीमित दायरे में नहीं रखा, और न ही धर्म सम्बन्धी हठधर्मिता है। यहाँ धर्म एक युक्तियुक्त संश्लेषण है जो दर्शन की प्रगति के साथ–साथ अपने अन्दर नए–नए विचारों का संग्रह करता रहता है। पाश्चात्य विद्वान् श्री हैवल का कहना है – भारत में धर्म को रूढ़ि या हठधर्मिता का स्वरूप प्राप्त नहीं है, वरन् यह मानवीय व्यवहार की ऐसी क्रियात्मक परिकल्पना है। आध्यात्मिक विकास की विभिन्न स्थितियों में और जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में अपने आपको अनुकूल बना लेती है।

गीता और उपनिषद् ग्रन्थ इस देश के साहित्य के अंग हैं और जनसाधारण के धार्मिक विश्वास की पहुँच के बाहर नहीं हैं। ये ग्रन्थ दार्शनिक

विचारों से ओतप्रोत हैं। यहाँ यह माना गया है कि परम सत्य आध्यात्मिक सत्य ही है और उन्हें के प्रकाश में जीवन का संस्कार किया जाना चाहिए। धर्म विषयक समस्याएँ दार्शनिक भावना का संबल है। हम देखते हैं कि जब–जब धर्म को क्षति पहुँचती है, परम्परागत संस्कार काल परिवर्तन के कारण मनुष्य से अपना विश्वास खो बैठते हैं, ऐसे समय में व्यास, शंकर, बुद्ध, अरविन्द जैसे युगपुरुष की चेतना आध्यात्मिक जीवन की गहराइयों में हलचल उत्पन्न करती हुई जनमानस पर छा जाती है। भारतीय विचारधारा के इतिहास में नि:सन्देह ये बड़े महत्त्वपूर्ण क्षण रहते हैं, जबकि आत्मा की पुकार पर मनुष्य का मन एक युग में पदार्पण करता है। दर्शन के सत्य और जनसाधारण के दैनिक जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध ही धर्म को सदा सजीव और वास्तविक बनाता है।

आध्यात्मिक अनुभव भारत के सम्पन्न सांस्कृतिक इतिहास की आधारभित्ति है। यह एक अद्‌भुत विरोधाभास है, जहाँ एक ओर किसी व्यक्ति का सामाजिक जीवन जन्मगत जाति की कठिन रूढ़ि से जकड़ा हुआ है, वहाँ उसे अपना मत स्थिर करने में पूरी स्वतन्त्रता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी सम्प्रदाय में जन्मा हो, तर्क द्वारा उस सम्प्रदाय की समीक्षा कर सकता है। महाभारत में कहा है – 'ऐसा कोई मुनि नहीं जो अपनी भिन्न सम्मति न रखता हो।'

यह सब भारतीय मस्तिष्क की प्रबल बौद्धिकता का प्रमाण है जो मानवीय कार्य–कलाप के समस्त पक्षों के आभ्यन्तर सत्य एवं नियम को जानने के लिए प्रयत्नशील है। यह बौद्धिक प्रेरणा केवल दर्शनशास्त्र और ब्रह्मविद्या तक ही सीमित नहीं है, बल्कि तर्कशास्त्र और व्याकरणशास्त्र में, अलङ्कारशास्त्र और भाषाविज्ञान में, आयुर्विज्ञान और ज्योतिषशास्त्र में, वस्तुत: स्थापत्यकला से लेकर प्राणिविज्ञान तक समस्त ललित कलाओं और विज्ञानों में व्याप्त है। यहाँ का बौद्धिक जीवन कितना व्यापक और पूर्ण रहा है, इसका आभास इस तथ्य से मिल सकता है कि यहाँ अश्वपालन विद्या एवं हाथियों को प्रशिक्षित करने की विद्या जैसे छोटे–छोटे विषयों तक के अपने–अपने शास्त्र और साहित्य रहे हैं।

मैक्समूलर पाश्चात्य विद्वान् लिखते हैं – 'यदि आपकी रुचि किसी विशेष क्षेत्र में है, तो उसके विकास और पोषण के लिए भी आपको भारत में पर्याप्त अवसर मिलेगा। यदि आप में से किसी ने बड़ी–बड़ी समस्याओं में रुचि ली हो, जिनके बारे में उसने यहाँ के श्रेष्ठतम विचारक सोच–विचार किया करते हैं, तो आपको अपने भारत–प्रवास को ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में निर्वासन समझ

लेने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि आप भू–विज्ञान में रुचि रखते हैं, तो हिमालय से श्रीलंका तक का विशाल भूभाग आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। यदि आपकी रुचि वनस्पति जगत् में है तो पूरा भारत हूकर जैसे अनेक वनस्पति वैज्ञानिकों के लिए नाना जाति–भाँति के पेड़–पौधों से सुसम्पन्न नन्दन है। यदि आप जीव–विज्ञानी हैं तो आपका ध्यान श्री हेकल की ओर अवश्य गया होगा, जो इन दिनों भारत के कान्तारों की छानबीन के साथ ही भारतीय समुद्र–तट से मोती भी बीन रहे हैं। भारत का यह निवास–काल उनके जीवन के सबसे सुनहले सपने की साकारता जैसा है। यदि आप नृवंश–विद्या में अभिरुचि रखते हैं तो भारत आपको एक जीता–जागता नृजाति–संग्रहालय ही लगेगा।'

मनोविज्ञान एवं नीतिशास्त्र आधारभूत विज्ञान है। भौतिक मन के जीवन का चित्र उसकी समस्त गतिशील विविधताओं तथा उज्ज्वलता और कालिका के सूक्ष्म संयोजन के साथ हुआ है। भारतीय मनोविज्ञान ने एकाग्रता के महत्त्व को समझा है और उसे सत्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन के रूप में माना है। ऐसा विश्वास रहा है कि जीवन या मन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ इच्छा–शक्ति एवं ज्ञान के विधिवत् प्रशिक्षण द्वारा नहीं पहुँचा जा सकता है।

निष्कर्ष यही है कि दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है, जो आत्मा रूपी इन्द्रिय के समक्ष सम्पूर्ण रूप में प्रकट होता है। वह आत्मदृष्टि जो वहीं सम्भव है जहाँ दर्शनशास्त्र का अस्तित्व है। एक सच्चे दार्शनिक की स्पष्ट पहचान है कि प्रत्येक व्यक्ति इन आध्यात्मवादी दार्शनिक के प्रति अत्यन्त निष्ठावान् एवं श्रद्धा का भाव रखते हैं जो ज्ञान की शक्ति और बुद्धि के बल का गर्व करते हैं और उसकी पूजा करते हैं। ऐसे व्यक्ति जिन्हें दैवीय प्रेरणा होती है, जो सत्य के प्रति उदारमना होते हैं, उसका वाणी द्वारा प्रकाश करते हैं और सत्यान्वेषण के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहकर एक आध्यात्मिक पर्यावरण की नींव डालते हैं। वास्तव में ऐसे मनुष्य मात्र के हित के लिए ज्ञान–सम्पादन करने वाले पर्यावरणविद्–मनीषियों के प्रति मनुष्य जाति सदैव कृतज्ञ रहेगी।

## राजनैतिक पर्यावरण

**भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विद–**
**स्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे।**

**ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं**
**तदस्मै देवा उपसं नमन्तु।।**

**(अथर्व. १९.४१.१)**

(सब जनता का कल्याण करने की इच्छा रखने वाले आत्मज्ञानी ऋषियों ने प्रारम्भ में दीक्षा लेकर तप किया। इससे राष्ट्र, बल और ओज का निर्माण हुआ। अतएव सब विबुध इस राष्ट्र की भक्ति करें।)

हमारी सनातन संस्कृति में ऋषियों की तपस्या से राष्ट्रभाव की उत्पत्ति हुई है, राष्ट्र भावना से राष्ट्रिय बल बढ़ता है और बड़ी शक्ति प्राप्त होती है। **'ततो राष्ट्रं बलं ओजः च जातम्'** यह क्रम वेद में ही निश्चित हो चुका है। राष्ट्रियता, बल, ओज इनमें एक साथ दूसरे का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अटूट है। जिनका राष्ट्र है, उनमें बल और ओज होंगे। ऋषियों की तपस्या से जिस राष्ट्रियता की उत्पत्ति हुई, वह राष्ट्रियता , यम–नियम पालन के बिना कदापि विकसित नहीं हो सकती।

भारतवर्ष की संस्कृति और आध्यात्मिकता ने अपनी शासन व्यवस्था तथा समाज व्यवस्था को श्रुति–स्मृति–पुराणोक्त माना है। अतैव प्राचीन वैदिक ऋषियों द्वारा अनेक राज्यशासन निर्माण हुए, उनकी शासन प्रणाली में यम–नियम का पालन करने वालों के लिए स्थान है। उसमें इन्द्रियलोलुप, उच्छ्रृङ्खल, द्वेष–दम्भ से युक्त दुष्कृत्यरत लोगों को स्थान नहीं।

भारतीय त्रिकालदर्शी जगत् हितरत तपोनिष्ठ ऋषियों ने शासन–सत्ता को ही कालनियामक स्थिर किया है। वह शासन–सत्ता चाहे राज–सत्तात्मक, प्रज्ञ सत्तात्मक, राज्यप्रजा–सत्तात्मक अथवा किसी भी प्रकार की हो, शासनान्तर्गत समस्त क्रियाओं का दायित्व उसी पर होता है। वेदों में राजा के कर्तव्यों के लिए बड़े सुन्दर सूक्त हैं, कहा गया है –

(i) **अजायथा वृषभ चर्षणीनाम्।**
(ii) **अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान् नाम गृह्णत्यायुषे।**
(iii) **अजुरं गां न चर्वणीसहम्।**

अर्थात् राजा प्रजाजनों के लिए सुखों का वर्षक होकर रहे। जो ज्ञानी राजा परमात्मा का नाम लेता है, वह अजेय है। राजा अजर गाय के तुल्य सुखद और प्रजा का शासक हो।

राजा राष्ट्र, समाज और प्रजा का स्वामी होता है। अतः उसे अपनी

तेजस्विता से राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर पहुँचाना उसका प्रथम कर्तव्य है। अपने पुरुषार्थ से उसे राष्ट्र मण्डल में श्रेष्ठ होना चाहिए। राजा को स्वतन्त्र एवं कुशल प्रशासक होना चाहिए जिससे प्रजा उसके सम्मुख नतमस्तक होए। राजा बलशाली, सुखों का वर्षक और सच्चा पराक्रमी हो। विद्वानों का संवर्धन करे। वज्रतुल्य, बाहुवाला और तेजस्वी हो। राजा अति उदार, दानी और सन्धि–विग्रह दोनों कार्यों का कर्ता होता है। मानवों के धन की ठीक व्यवस्था करता है। राजा शत्रुनाशक, पापियों का नाशक और चोरों का संहारक होता है। भाग्यवान् राजा कृषि को समुन्नत करे।

शासन के धर्ममूलक होने से प्रवृत्ति का पोषण होता है, अतः परिणाम होता है – काम, क्रोध, लोभ, दुःख, दैन्य, अशान्ति इत्यादि। जिससे राजकीय प्रशासन का पर्यावरण प्रदूषित होता है। 'वाल्मीकि–रामायण' में राजा के चौदह दोषों का वर्णन किया है –

**नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।**
**अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्।।**
**एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम्।**
**निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिक्षणम्।।**
**मङ्गलस्याप्रयोगं च कृत्युत्थानं च सर्वतः।**
**कच्चित्वं वर्जयस्येतान् . . . . . ।।**

**(वाल्मीकिरामायणम् २/१००/६५/६७)**

अर्थात् नास्तिकता, असत्य भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होना, राजकार्यों के विषय में अकेले ही विचार करना, प्रयोजन को न समझने वाले विपरीतदर्शी मूर्खों से सलाह, निश्चित किए हुए कार्यों का शीघ्र आरम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणा को सुरक्षित न रखकर प्रकट कर देना, मांगलिक आदि का अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओं पर एक ही साथ चढ़ाई कर देना – ये राजा के चौदह दोष हैं।

जिस राजा के सैनिक सन्तुष्ट, सान्त्वनापूर्ण और सुविधा प्राप्त होते हैं, वह राजा छोटी सी सेना से सारी पृथ्वी को जीत लेता है –

**यस्य योधाः सुसंतुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः।**
**अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः।।**

**(महाभारत, शान्तिपर्व ९४/४)**

राजा को न अति तीक्ष्ण और न अति मृदु होना चाहिए। सदैव क्षमा करने वाले राजा का नीच भी निरादर करता है, जैसे महावत क्षमाशील हाथी के सिर पर चढ़ा रहता है। अतः राजा को वसन्त ऋतु के सूर्य की तरह होना चाहिए जो न शीतल होता है और न अति तीक्ष्ण उष्ण। वही राजा चिरकाल तक राज्य का उपभोग कर सकता है जिसकी चारों और आँखें फैली हैं। करेंगे ऐसा प्रकाशित नहीं करता है अपितु करने के बाद ही दिखाता है –

**स राजा सवितश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते।**
**करिष्यन्न प्रभावेत कृतान्येव तु दर्शयेत्।।**

ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि हे राजन्! तुम राष्ट्र के अधिपति बनाये गये हो, तुम इस राष्ट्र के सच्चे स्वामी बनो, तुम अविचल एवं स्थिर होकर रहो। प्रजा तुम्हारे प्रति अनुरक्त रहे, तुम्हें चाहती रहे, तुमसे राष्ट्र का कभी अधःपतन न हो, न अमंगल हो –

**आत्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलिः।**
**विशस्त्वा सर्वा वाच्छन्तु मा त्वदराष्ट्रमधिभ्रशत।।**
**(ऋग्वेद, १/१७३/९)**

शुद्ध राजनीति ही राजनैतिक पर्यावरण के लिए संरक्षक है। धर्म ही आर्यों के राज्यानुशासन विज्ञान की आधारशिला है। प्रारम्भिक काल से ही भारतीय तत्त्वदर्शी मनीषियों ने एक आदर्श रामराज्य की कल्पना को संजोया है। भारतभूमि के कण–कण में रामराज्य की विभूति अन्तर्हित है। रामराज्य की महिमा अवर्णनीय है। इसके लिए हमें रामायण–महाभारतादि आर्ष ग्रन्थों का अवलोकन करना आवश्यक है। महात्मा गाँधी जी ने भी रामराज्य की कल्पना की थी। भगवान् श्रीराम का कहना है कि राजकुल में उत्पन्न, शील, अवस्था, सत्त्व, दाक्षिण्य, क्षिप्रकारिता, दृढ़भक्तित्व, अविसंवादिता (सत्यप्रतिज्ञता), कृतज्ञता, दैव सम्पन्नता (भाग्यशालिता), अक्षुद्रपरिवारता, दीर्घदर्षिता, पवित्रता, स्थूललक्ष्यिता (दानशीलता), धार्मिकता, वृद्धसेवा, सत्य और उत्साह आदि गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही राजा होने योग्य है –

**कुलं शीलं वयः सत्त्वं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता।**
**अविसंवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता।।**
**दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिवारता।**
**शब्दसामन्तता चैव तथा च दृढ़भक्तिता।।**

**दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचिता स्थूललक्षिता।**
**विनीतत्वं धार्मिकता साधोश्च नृपतेर्गुणाः।।**

**(अग्निपुराण, २३९/२–५)**

वास्तव में राजा राष्ट्र का प्रधान अधिकारी या नायक होता है। 'राजा' शब्द का अर्थ प्रजा का रञ्जन करने वाला। धर्म की मूर्ति तथा दीप्तिमान् है, यही इसका सर्वप्रथम लक्षण है तथा कर्तव्य है। समय परिवर्तन के साथ यद्यपि आज राजवंश की परम्परा तो नहीं है, परन्तु 'राष्ट्रपति' आदि से भी यही अभिप्राय है क्योंकि 'पति' भी स्वामी का ही प्रतिनिधित्व करता है। अतः एक अच्छे प्रशासक के लिए राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने के लिए यह उपर्युक्त गुण होने चाहिए। श्रीमद्भागवत का कहना है कि अपने चेष्टाओं से प्रजा के मन को आनन्द देने के कारण उसे राजा कहा गया है –

**रञ्जजयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः।**
**अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः।।**

**(श्रीमद्भागवत ४–१६–१५)**

कालिदास ने रघु के विषय में कहा है कि जिस तरह सभी का आह्वान कर चन्द्रमा ने अपना नाम सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्य ने अपना नाम सार्थक किया, वैसे ही रघु ने प्रजा का रञ्जन करके अपना 'राजा' नाम सार्थक कर दिया –

**यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।**
**तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्।।**

**(रघुवंश ४.१२)**

'मत्स्यपुराण' में कहा है कि राजा को अधिक कोमल नहीं होना चाहिए, केवल राजा प्रजा के द्वारा अनुपेक्षित होता है, राजा को अधिक दारुण भी नहीं होना चाहिए। राजा के अति तीक्ष्ण होने पर लोग उद्विग्न होते हैं। समय पर कभी कोमल और कभी दारुण होना चाहिए। जो राजा मृदुता तथा दारुणता दोनों को अपनाता है, वह दोनों लोक में महनीय है।

वर्तमान युग में समस्त विश्व के मानवमात्र सुख–शान्ति की खोज में अथक परिश्रम कर रहे हैं और विविध ज्ञान–विज्ञान सम्पन्न होने के लिए सचेष्ट हैं। तथापि कठिनाइयों से मुक्ति नहीं मिलती, दुःख और क्षोभ बढ़ता ही जा रहा है। **'ज्यों–ज्यों सुरझि भल्यो चहत, त्यो–त्यों उरझत जात।'** भीषण समस्या है।

यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, राजा, प्रजा, शासन व्यवस्था और समस्त विभूतियों की प्राप्ति के साधन हैं, परन्तु कष्टों की भयानकता बढ़ती ही जा रही है। आधुनिक जगत् के पास वह शान्ति का मूल बीज ही नहीं है। धर्ममूलक शासन में व्यवस्था स्थापित करने के लिए शुद्ध धार्मिक भाव से, अनासक्त भाव से युद्धादि में प्रवृत्त होने पर भी दुर्भावनाएँ नहीं सताती। भगवान् ने अर्जुन को इसीलिए समझाया था–

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।**
**हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।**

**(गीता १८.१०)**

यह पृथ्वी का आधिपत्य हवा में उड़ने वाले बादल के समान है, विषय–भोग केवल आरम्भ में ही मधुर लगने वाले हैं, प्राण तिनके के अग्रभाग में स्थित जलबिन्दु के समान है, धर्म ही मनुष्यों का सनातन सुहृद है, उसके विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। इसीलिए अग्निपुराण में कहा है कि आधि–व्याधि से ग्रस्त तथा आज या कल ही नष्ट होने वाले इस शरीर के लिए कौन राजा धर्मविरुद्ध आचरण करेगा –

**आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।**
**को हि राजा शरीराय धर्मापेतं समाचरेत्।।**

अत: जो राजा या अधिपति अपने कर्तव्य का शास्त्रोक्त पालन करता हे, उसके लिए वैदिक ऋषियों ने सदैव मंगल सूचना की है और आशीर्वचन कहे हैं–

**(i) प्रजां च रोहामृतं च रोह।**
(राजा प्रजा को उन्नत करे और अमरकीर्ति प्राप्त करे)

**(ii) अभि त्वा विश्वा भूतान्याभीवर्तो यथाससि।**
(सारे प्राणी तुझ राजा की वृद्धि है, तू अधिराज हो।)

**(iii) शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्।**
(राजा के लिए द्यावापृथिवी दोनों शुभ हों)

**(iv) विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु।**
(सारे देव राजा को उत्तम दिव्य तेज दें)

समस्त प्रजा के योगक्षेमवहन का यह स्वरूप है। आदर्श शासन विज्ञान का यह रहस्य है।

आधुनिक सभ्यता का ध्यान आंर ध्येय भौतिक है। उसने बाह्य भौतिक

प्रकृति की प्रचण्ड शक्तियों से काम लेने में निश्चय ही अद्भुत सफलता प्राप्त की है। साधारण मनुष्यों के लिए भी उसने भोग विलास की ऐसी–ऐसी सामग्रियाँ जुटा दी हैं, जो प्राचीन काल में धनाढ्यों को भी नसीब नहीं थी। परन्तु पार्थिवता की इस अति से मनुष्य अपनी पाशविक प्रकृति की सहज वासनाओं का दास बन गया है। जितना ही उसने बाह्य प्रकृति को जीतकर उससे काम लिया है, उतना ही वह अपनी भीतरी प्रकृति की दुर्वासनाओं के सामने हतबल और असहाय होकर उसके अधीन हो गया है। निमग्ना प्रकृति की इन सहज वासनाओं से वह इतनी बड़ी चीज मानने लगा है कि मानो यही मनुष्य–जीवन का और विश्वजीवन का सार–तत्त्व है। इससे महान् और दिव्यतर अङ्गों के स्वतन्त्र अस्तित्व की उसने सर्वथा उपेक्षा की है। इन्हें वह निमग्ना प्रकृति की वासनाओं के ही परिवर्तित रूप मानता है। कोई स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व नहीं जानता। मनुष्यों के ऐहिक हितवाद के आधार पर निर्मित नीतिशास्त्र से बड़े–बड़े परिवर्तन होने की आशा की गयी थी। यह सोचा गया था कि आध्यात्मिक नीतिशास्त्र को हराकर यही उनका स्थान ग्रहण करेगा, परन्तु इस पार्थिव दृष्टिकोण के गर्भ से संघर्ष और संग्राम के सिवाए और कुछ न निकला। इस भौतिकवाद ने मानव जाति के दैन्य, दुःख और क्लेश दूर करने की अपेक्षा उनकी कल्पनातीत वृद्धि की है। यह अपार धनराशि, ये ऊँची–ऊँची गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, उनके बहुमूल्य साज, आधुनिक भोग सामग्री – इन सबने मानव जाति के वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक सन्तुलन नष्ट कर दिया है।

मनुष्य ने मानव–प्रकृति के प्रधान अर्थात् आध्यात्मिक और नैतिक अङ्गों की अपेक्षा की है। अतिसंकुचित स्वार्थपरता, संघर्ष और परापहरण को ही अच्छा समझता है। परन्तु जहाँ कहीं भी मनुष्य के असली गुण चमक जाते हैं, वहाँ मेल, सुव्यवस्था, शान्ति, सहानुभूति और परस्पर सहयोग तुरन्त दिखायी देने लगते हैं। व्यक्तिगत या समष्टिगत जीवन के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक अङ्गों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

इनमें से प्रत्येक क्षेत्र के नियम सार्वत्रिक और वास्तविक हैं। विश्वजीवन इन्हीं पर स्थित है। विश्व अनैतिक या आध्यात्महीन नहीं है, यदि ऐसा होता तो निरुद्देश्य जड़ विश्व से मानव–प्रकृति के भौतिक और आध्यात्मिक अङ्ग कहाँ से उत्पन्न होते? इन क्षेत्रों के नियम मनुष्यकृत नहीं है। ये उच्तर क्षेत्रों के उच्चतर नियम, भौतिक जगत् के नियमों की तरह ही, इन नैतिक और आध्यात्मिक जगत्

की प्रकृति के अन्दर ही अनुस्यूत हैं। भौतिक जगत् में जैसे भौतिक नियमों को अनुसन्धान करके जानना और मानना पड़ता है, वैसे ही इन उच्चतर क्षेत्रों की बात है। उनका यह सारा विधान सार्वत्रिक है, इसके लिए न कोई द्वेष है न प्रिय। शासक और शासित, ज्ञानी और मूर्ख, धनी और गरीब, आचार्य और शिष्य, साम्राज्यशाली राष्ट्र और जनता, कीट और पतंग – सबके साथ इस विधान का एक सा व्यवहार है। परन्तु जो मनुष्य इस भौतिक ढाँचे का, इसकी आवश्यकताओं और भोगों का मोह पार कर चुका है, जिसने अपने सच्चे, आध्यात्मिक और नैतिक स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, उसके लिए यह मूल आध्यात्मिक विधान बहुत ही रमणीय है। उसके साथ उसका एकीभाव हो जाता है। अतः उसे इस अन्तर्जगत् के आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्रों के नियम विजातीय नहीं मालूम होते। इन नियमों के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। इस असंख्य विविध रूपों में सर्वत्र एकल और सामञ्जस्य देखा जाता है।

हमारा सच्चा, स्वरूपगत समत्व या भ्रातृभाव इसी में है। उन्हीं से मानवजाति का कल्याण है। देश या राज्य के सब साधन इस परम सत्य के आधार पर एक कार्यपद्धति के अन्दर लाए जा सकते हैं। विज्ञान, अध्यात्मविद्या और तत्त्वज्ञान में, उसी प्रकार राज्य, नैतिकता या पार्थिव, आर्थिक उन्नति में परस्पर विरोध नहीं है। सबका अपना–अपना क्षेत्र और अपना–अपना कार्य है। इनमें से किसी को अलग कर देने या किसी पर अत्यधिक बल देने से मानवजाति की प्रगति रुकेगी।

मानव प्रकृति के नैतिक और आध्यात्मिक अङ्ग सबसे प्रधान और मूलभूत अङ्ग हैं। मनुष्य की ये ही विशेषताएँ हैं। कोई व्यक्ति, कोई समाज, किसी प्रकार का कोई संघटन या संस्थान, जो नैतिक और आध्यात्मिक सत्य पर प्रतिष्ठित नहीं है कोई सफलता या उन्नति लाभ नहीं कर सकता।

किसी राज्य अथवा संस्था की उन्नति, अमोघ सहज संघर्षरहित कार्यकारिता मूलतः इसी पर निर्भर है कि लोग स्वेच्छा से इन आध्यात्मिक और नैतिक नियमों का पालन सीख लें।

मनुष्य के जीवन की आवश्यकताओं में नैतिक आवश्यकताओं का अन्न–वस्त्रादि की भौतिक आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि मानव–जीवन की ये ही मुख्य चीजें हैं। भौतिक अभावों की पूर्ति भी नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए ही साधनरूप से आवश्यक

हैं। अतः राज्य का मुख्य कर्म ही यह हो जाता है कि वह जनता की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के उपायों की योजना करे।

हमारी राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक – सभी कठिनाइयों को हल करने का एक ही बुद्धिसंगत मार्ग है। वह यही है कि इनका सबका संघटन सर्वमान्य व्यापक, नैतिक और आध्यात्मिक सत्य के सुदृढ़ आधार पर होना चाहिए, राष्ट्रों के पारस्परिक युद्ध और राजनीतिक परस्पर संघर्ष भौतिक दृष्टिकोण से उद्भव होते हैं। हमारी सभी राजनैतिक कठिनाइयाँ आध्यात्मिक और नैतिक पुनरुत्थान से हल हो सकते हैं।

जैसे कि राजनैतिक पर्यावरण में चर्चा की कि राष्ट्र की स्वाधनीता के जन्मदाता महात्मा गाँधी का 'रामराज्य' का स्वप्न आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित था। भारतीय संस्कृति के वे प्रतीक थे। भारत के ऋषि–मुनियों ने जो शिक्षा दी थी, महात्मा गाँधी ने देश भारतवर्ष की राजनैतिक स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया। उन्होंने अपने आत्मचरित के उपसंहार में यह बताया है कि राज्य और अहिंसा ही वह मानदण्ड है जिससे मैं अपनी सफलता मानता हूँ। सत्य का जो निरूपण किया, वह निश्चय ही भारत की प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति के अनुरूप था। उनका सत्य था राम और राम था उनका सत्य। रामराज्य में जो न्याय, समत्व आदि दैवी गुण जनता में प्रतिष्ठित थे, उन्हीं से मुग्ध होकर महात्मा गाँधी अपनी भावना के आदर्श राज्य के रामराज्य कहा करते थे।

आध्यात्मिकता भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सार तत्त्व है। भारतीय जनता के अन्तर्बाह्य सभी कर्मों और उद्योगों का यही मार्गदर्शक सिद्धान्त है। गीता में भी कहा है –

**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।**<br>
**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।**<br>
**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**<br>
**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।**

अर्थात् जिससे ये सह प्राणी उत्पन्न होते हैं, जो इस सारे जगत् में व्याप्त है, स्वकर्म के क्षरा जो मनुष्य उसकी पूजा करता है, वह अपने जीवन की सिद्धि लाभ करता है। स्वकर्म का साधन चाहे उसमें कोई विशेष बात न हो, दूसरे के उत्तम प्रकार से किए गए कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है। स्वधर्म का पालन करते हुए मर जाने में भी परम कल्याण है, दूसरे का धर्म ग्रहण करने में भय ही भय है।

मध्याह्न के सूर्य के समान स्पष्ट है कि भारतीय राजनैतिक तत्त्वज्ञान, अध्यात्मज्ञान और सदाचरण पर प्रतिष्ठित है। राजनैतिक पराधीनता ने भारतवर्ष की आध्यात्मिक महाप्राणशक्ति को अब तक दबा रखा था। स्वाधीन भारत अब उसकी आध्यात्मिक निधि के आधार पर सब प्रकार से उन्नत होकर वास्तविक उन्नति का मार्ग दिखा सकता है।

# द्वितीय अध्याय

# संस्कृति और पर्यावरण

## सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा

अर्थात् यह विश्व को वरण करने वाली श्रेष्ठ संस्कृति है।

संस्कृति और पर्यावरण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृति से अभिप्राय संस्कार से है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में सुट् का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करने से संस्कृति शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है — भूषणभूत सम्यक् कृति। इसलिये भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। इस प्रकार भूषणभूत सम्यक् कृतियों का सम्पूर्ण क्षेत्र संस्कृति का क्षेत्र है।

पशु—पक्षी, कीट पतंगादि भोगयोनियों में जीव की चेष्टाएँ स्वाभाविक ही हुआ करती हैं। उनमें सम्यक्—असम्यक् का भेद नहीं किया जा सकता। मनुष्य योनि में ही जीव कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है। मनुष्य सम्यक्—असम्यक् दोनों प्रकार की चेष्टाएँ करने में समर्थ होता है। इसलिए सम्यक् चेष्टा या कृति—संस्कृति का प्रयोग मनुष्य के सम्बन्ध में ही किया जा सकता है। अतः मनुष्य के भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति है।

जिन चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख—शान्ति प्राप्त करे, ये चेष्टाएँ ही उसके लिए भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ कही जा सकती हैं। अथवा मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में जैविक, पारलौकिक अभ्युदय के अनुकूल देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि चित्तालङ्कार की चेष्टा ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या संस्कृति है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक—पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार—विचार ही संस्कृति है।

स्पष्ट है कि संस्कृति है मानव की जीवन—शक्ति, प्रगतिशील साधनाओं की विमल विभूति, राष्ट्रिय आदर्श की गौरवमयी मर्यादा और स्वतन्त्रता की वास्तविक प्रतिष्ठा। इस तथ्य का चिन्तन करते हुए भारतीय परम्परा ने सदा संस्कृति—निष्ठ के मङ्गलमय मार्ग को अपनाया। फलस्वरूप संस्कृति भारतभूमि

के कण–कण में व्याप्त है। भारतीय साहित्य के पद–पद में ओतप्रोत है और भारतीय इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अङ्कित है। इसके अधिष्ठान एवं अनुष्ठान को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अपेक्षित है सांस्कृतिक आचार्यों के उन आचरणों का अनुशीलन और अनुसरण, जिनके द्वारा संस्कृत के तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति के निर्वाहक इन आचार्यों ने संस्कृति को अलङ्कारों से अलङ्कृत करने की चेष्टा न कर उसके द्वारा अपने आपको संस्कृत करने का प्रयत्न किया। इसी का सुखद परिणाम यह निकला कि विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं सैद्धान्तिक मतभेदों के रहने पर भी सांस्कृतिक परम्परा की अविच्छिन्न गति में किसी प्रकार का अन्तर न पड़ सका। आत्मकल्याण के साधनों में विविधता आने पर भी सर्वभूतहित की भावना पर किसी प्रकार की ठेस नहीं लगने पायी। उसी परम्परा के अनुसरण करने में सबका हित है।

वास्तव में संस्कृति एक अन्तर्निहित जीवन–गुणत्व है जो बहुत सारे मानव स्वभाव में समाहित है। विभिन्न आचार्यों और व्यवस्थाओं में मानव उसके पर्यावरण और जीवन–मूल्यों के बीच स्वतः प्रवाहित और संवर्द्धित होने वाली, विनिमय पर आधारित अन्तर्धारा है। वह जीवन–मूल्यों और सार्थक प्रयोजनों द्वारा मानवीय विकास की दिशा में किया गया ऐसा क्रियाकलाप है जिससे मानवता को एकता और सम्पूर्णता के साँचे में ढाला जा सके। संस्कृति मानव का आध्यात्मिक अधिवास है जो उसकी आत्मा और ब्रह्माण्ड के बीच के सरोकार को उजागर करती है। इसी सरोकार से वह प्रकृति, पर्यावरण, धर्म, इतिहास और समुदाय से जुड़ता है और भविष्य तथा भावी पीढ़ी के प्रति अपने को उत्तरदायी समझता है। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० देवराज के अनुसार 'मनुष्य केवल अपने चारों ओर के परिवेश को जानकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह अपनी चेतना तथा दृष्टि से सम्मुख फैले हुए समस्त ब्रह्माण्ड को समझ लेना और उससे सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहता है। . . . . . वह बौद्धिक जिज्ञासा तथा सौन्दर्य की भूख से पीड़ित होता है और इस प्रकार एक सांस्कृतिक प्राणी के रूप में जन्म लेता है। मनुष्य जगत् में रहता है, उससे जीवन और शक्ति ग्रहण करता है, किन्तु जैविक पर्यावरण के भीतर उसने अपने लिए एक सांस्कृतिक परिवेश भी रचना है जिसके बिना उसका जीवन असंभव है। वास्तव में सांस्कृतिक परिवेश उसके आन्तरिक जीवन और सामाजिक लक्षण दोनों का आधार है।

पाश्चात्य विद्वान् श्री मैक्समूलर जर्मनी में जन्में परन्तु भारतीय संस्कृति

से प्रभावित रहे। उन्हें अपने अध्ययनकाल में ही संस्कृत भाषा से प्रगाढ़ अनुराग हो गया था। विश्व को वेदों की ज्ञान–ज्योति का दिग्दर्शन कराया। हम ऋणी हैं श्री मैक्समूलर के कि उन्होंने संस्कृतानुराग एवं भारत–भक्ति से तथा भारतीय संस्कृति के अनुपम सौरभ से समस्त विश्व को सुगन्धित किया।

पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी ने उनके सम्बन्ध में कहा है, 'मैंने उन्हें एक भाषातत्त्वविद् अथवा पण्डित के रूप में नहीं देखा, वररन् उन्हें ब्रह्म के साथ नित्य एकरूपता अनुभव करने वाली एक आत्मा और विश्वात्मा के साथ एकात्म होने के निमित्त प्रतिक्षण विस्तीर्ण होते हुए हृदय के रूप में ही देखा। जहाँ अन्य लोग शुष्क ब्यौरों की मरुभूमि में स्वयं को खो देते हैं, वहाँ उन्होंने जीवन का स्रोत ढूँढ निकाला है। निस्संदेह उनके हृदय के स्पन्दनों में उपनिषदों की लय पकड़ ली है – **'तमवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चय'** – एकमात्र आत्मा को ही जान लो और सब बातें त्याग दो।

वास्तव में मैक्समूलर ने सचमुच वेदान्त की रागिनी की यथार्थ आत्मा को समस्वरता और विस्तरता की पूर्ण भूमिका में पहचाना है – उस वेदान्त की, जो पृथ्वी के समस्त सम्प्रदायों एवं विचारों को प्रकाशित करने वाला एकमात्र आलोक है और समस्त धर्म जिनके भिन्न–भिन्न रूप मात्र हैं। यह आश्चर्य की बात है कि पाश्चात्य ऋषि ने भारतीय विचार गगन में उदित प्रत्येक नए नक्षत्र को परख तथा पहचानकर उसे आलोकित किया।

भारत के प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त करते हुए मैक्समूलर लिखते हैं– भारत में आप अपने आपको सर्वत्र अत्यन्त प्राचीन और सुदूर भविष्य के बीच में खड़ा पाएँगे। वहाँ आपको ऐसे सुअवसर भी मिलेंगे, जो किसी पुरातन विश्व में ही सुलभ हो सकते हैं और प्राचीन देशों में भी भारत को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ हैं। आप आज किसी ज्वलन्त समस्या को ले, वह चाहे लोकप्रिय शिक्षा से सम्बद्ध हो, या उच्च शिक्षा से, चाहे संसद में प्रतिनिधित्व की या कानून बनाने की बात हो, चाहे प्रवासी कानून का मसला हो, सीखने या सिखाने योग्य कोई भी बात क्यों न हो, भारत के रूप में आपको ऐसी प्रयोगशाला मिलेगी जैसी विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। संस्कृत साहित्य के द्वारा चिन्तन की ऐसी गहन परतों के अन्दर तक झाँक सकेंगे जो पहले सर्वथा अज्ञात थी। मानव हृदय की गहनतम सहानुभूतियों को जगा देने वाली शिक्षाओं से भी यह साहित्य समृद्ध है। मानवीय सद्गुणों और रोचकता से परिपूर्ण यह साहित्य इतना कुछ सिखा सकता है जो ग्रीक साहित्य कदापि नहीं सिखा सकता।''

## पाश्चात्य दृष्टिकोण

'संस्कृति' आधुनिक युग का सर्वोच्च शब्द कहा जा सकता है। हमारे क्रियात्मक व्यवहार, व्यक्तिगत और राष्ट्रिय–अन्तर्राष्ट्रिय चाहे कैसे भी तात्कालिक फलों से चालित हों, विचार की दृष्टि से उन्हें हम उनके सांस्कृतिक अर्थ और मूल्य से ही सिद्ध–असिद्ध करने का यत्न करते हैं अथवा उनका वास्तविक मूल्य उनके सांस्कृतिक अर्थ में ही स्वीकार करते हैं। यह शब्द और इसका भाव प्रत्यक्ष ही आज अत्यन्त प्रभावशाली हो रहे हैं। परन्तु जितना यह शब्द प्रभावशाली और प्रचलित है, उतना ही शायद इसका अर्थ अनिश्चित है। इस विषय में पाश्चात्य विद्वान् के मत भी चिन्तनीय है। **ओस्वाल्ड स्पेंगलर** इस विषय के विशेषज्ञ हैं और उनका ग्रन्थ 'पश्चिम का अधोगमन' जगद् विख्यात है। उनके विचार में यूरोप अपनी संस्कृति–स्थिति का जीवनकाल यूनानी संस्कृति के साथ समाप्त कर चुका था और अब वह सभ्यता की अवस्था में आ पड़ा है। जहाँ पहले आन्तरिक प्राण और सजीवता थी, वहाँ अब बाह्य–शिल्प और यन्त्र–आयोजन है। यही सांस्कृतिक अधोगमन का प्रारम्भ है।

**हरमान काईजरलिंग** और एक अन्य विचारक सभ्यता को संस्कृति के पतन की स्थिति नहीं मानते। वे इसे बर्बरता के बाद की अवस्था कहते हैं, जबकि बाह्य जीवन और व्यवहार में कुछ संगठन और नियम आ जाते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष ही दोनों के लिए संस्कृति आन्तरिकता की भावना रखती है और सभ्यता बाह्य–परिस्थिति और व्यवहार की। **एलबर्ट स्वाईटजर** इसी विषय के एक और विशेषज्ञ संस्कृति को आन्तरिक अनुशीलन मानते हुए विशेष बल नैतिक भावना के विकास पर देते हैं। कोई मनुष्य कितना भी पढ़ा–लिखा क्यों न हो, वह कलाओं का कितना भी भावुक मर्मज्ञ क्यों न हो, फिर भी उसका व्यक्तित्व यदि मूलरूप में नैतिक भाव और भावना से प्रेरित नहीं है तो वह वास्तविक अर्थ में संस्कृतज्ञ नहीं। नैतिक भाव और भावना पर आग्रह सामान्य प्राकृतिक सूचनार्थक ज्ञान के विरोध में पैदा हुआ है। लगभग चार सौ वर्षों से यूरोप के प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रकृति के नियमों को जानने तथा उनसे व्यावहारिक लाभ उठाने का यत्न करते रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप अनेक आविष्कार हुए हैं और एक शक्ति सम्पन्न और आडम्बरशील सभ्यता की रचना हुई है, परन्तु इस वैज्ञानिक सभ्यता की अपरिमेय शक्ति को योग्य रीति से संचालित करने के लिए आवश्यक हितभाव अथवा समाज के प्रति कर्तव्यभाव विकसित नहीं हुआ। फलतः उन

शक्तियों का विनाशकारी और अहितकर प्रयोग अधिक हो रहा है। इस संकटावस्था को तीव्र रूप में अनुभव करते हुए स्वाईटजर महोदय कहते हैं कि संस्कृति में नैतिक भाव केन्द्रीय तत्त्व है। इसके बिना किसी व्यक्ति या जाति को संस्कृत नहीं कहा जा सकता।

संस्कृति सम्बन्धी ये सभी पाश्चात्य भावनाएँ एक दूसरी से भिन्न होते हुए भी एक ही आधार पर स्थित हैं। वह आधार है मानवी व्यक्तित्व के मन, प्राण और शरीर का संगठन। संस्कृति का मानो ध्येय ही है मन, प्राण और शरीर की शक्तियों को विकसित करना, उनकी विभिन्नताओं में से अपूर्व मौलिक समन्वय पैदा करना और उनके प्रयोग से फिर परिस्थिति और समाज को संगठित और अधिकृत करना। शिल्पकला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि की रचना इस विकास का साधन भी है और ध्येय भी। वास्तव में ये सब साँस्कृतिक प्रवृत्तियाँ ध्येय रूप अधिक हैं, मानव को अपने आन्तरिक भाव में उन्नत करने की साधना कम। इसीलिए आज का साँस्कृतिक विकास मानव चेतना के लिए आडम्बर और भार बना हुआ है। मानव–चेतना मानों उससे परिचालित होती है, वे मानव–चेतना से अधिकृत नहीं।

'संस्कृति' और 'सुसंस्कृतिक व्यक्ति' सम्बन्धी भारतीय विचार मौलिक रूप से पाश्चात्य विचार से भिन्न हैं। वहाँ इस विचार में 'अनुशीलन' का भाव प्रधान है और यहाँ 'शोधन' का। वहाँ यत्न है 'अनुशीलन' अथवा अभ्यास द्वारा मन, प्राण और शरीर की शक्तियों को अपनी–अपनी विशिष्ट पराकाष्ठा तक विकसित करना। यहाँ पुरुषार्थ है मन, प्राण और शरीर के साथ आत्मभाव के सम्मिश्रण को दूर करना और वास्तविक आत्मभाव को उपलब्ध करना और उस भाव से साँस्कृतिक प्रवृत्तियों को यथार्थ आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मचरितार्थता बनाना।

संस्कृति शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात् अब देखते हैं कि संस्कृति का आधार क्या है? उसका स्वरूप क्या है? और उनकी विशेषताएँ क्या हैं? तभी हम संस्कृति और पर्यावरण का समन्वय कर सकेंगे।

संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा है, इससे उसके सब संस्कारों का बोध होता है जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। यह विशिष्ट मानव–समूह के उन उदात्त गुणों को सूचित करती है जो मानव–जाति में सर्वत्र पाये जाने पर भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं और जिन पर उनके जीवन में अधिक जोर दिया जाता है।

अपने दीर्घ अनुभव, तप:पूत ज्ञान और चिन्तन द्वारा भारत को तत्त्वदर्शी ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। कोई जाति अपनी लौकिक–पारलौकिक उन्नति का मार्ग जिस आधार पर निश्चय कराती है, उसी के आधार पर उसकी संस्कृति का निर्णय हो सकता है।

केवल भारतीय संस्कृति ही आज इस बात का अभिमान कर सकती है कि सहस्रों वर्षों से उसका जीवन अविच्छिन्न है और युग–युग से अपनी विजय–पताका फहराती चली आ रही है। हमारी संस्कृति अपने मूल रूप में न केवल अभी तक जीवित ही है वरन् नवजीवन भी प्राप्त कर रही है। चाहे हिमालय की ऊँची चोटियों पर चले जाइये, या गङ्गा के कछारों में, विन्ध्याचल की घाटियों में अथवा कावेरी के तटों पर – हमें भारतवर्ष में सर्वत्र ऐसे स्त्री–पुरुष मिलेंगे, जिन्हें हम अपनी पुरानी संस्कृति के प्रतीक और प्रतिनिधि कह सकते हैं।

हमारी संस्कृति विविधरूपिणी एवं बहुमुखी रही है। प्रत्येक मानवी कार्यक्षेत्र में – युद्ध और शान्ति की प्रत्येक कला में, राजनीति एवं शासन–व्यवस्था में, संगीत तथा साहित्य में, स्थापत्य और प्रतिमा निर्माण में, नृत्य एवं चित्रकला में, हमारी संस्कृति विकसित हुई है और उसने ऐसे आदर्श उपस्थित किए हैं जिसकी सारा विश्व प्रशंसा करता है।

संस्कृति का लक्ष्य आत्मा का उत्थान है। जिसके द्वारा इसका मार्ग बतलाया जाय, वही संस्कृति का आधार हो सकता है। यह विभिन्न जातियों के धर्म–ग्रन्थों द्वारा ही बतलाया जाता है। उनके अतिरिक्त किन्हीं भी चेष्टाओं की भूषणता–दूषणता, सम्यकता या असम्यकता का निर्णायक और हो ही क्या सकता है। यद्यपि सामान्य रूप से भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों के आधार पर विभिन्न संस्कृतियाँ निर्णीत होती हैं तथा अनादि, अपौरुषेय ग्रन्थ ही हैं। अत: वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्म–ग्रन्थों के अनुकूल लौकिक–पारलौकिक अभ्युदय एवं नि:श्रेयसोपयोगी व्यापार ही मुख्य संस्कृति है और वही वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति है। सनातन परम्परा ने अपने अंशभूत सनातन जीवात्माओं को सनातन अभ्युदय एवं नि:श्रेयस – परम पद प्राप्त कराने के लिए जिस सनातन मार्ग का निर्देश किया है, तदनुकूल संस्कृति ही वैदिक संस्कृति है और वह वैदिक सनातन संस्कृति ही सम्पूर्ण संस्कृतियों की जननी है। अतएव

लौकिक–पारलौकिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक उन्नति का वेदादि शास्त्रसम्मत मार्ग ही भारतीय संस्कृति है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान–विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृति के सभी अङ्गों पर वेदादि शास्त्रमूलक सिद्धान्तों की ही छाप है।

वैदिक दर्शनशास्त्र ही भारतीय संस्कृति की समस्त विशेषताओं के मूल में स्थित है। नानात्वमय समस्त दृश्य प्रपञ्च के प्रत्यक्ष बहुत्ववाद से अलक्ष्य, अगोचर, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष से परे, निर्गुण–निराकार, एक तत्त्ववाद, अद्वैत–सिद्धान्त की प्रतिष्ठा ही भारतीय दर्शन की मौलिक विशेषता है। साकार–निराकार का पूर्ण समन्वय भारतीय दर्शन में पाया जाता है। यही कारण है कि हमारी संस्कृति में व्यावहारिक उत्तमता और पारमार्थिक श्रेष्ठता – दोनों पूर्णतया की सीमा पर प्रतिष्ठित हैं। जगद् व्यवहार में प्रतिपल व्यवहार करते हुए भी मनुष्य को मानव विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँचाकर जीवन्मुक्ति की अवस्था में प्रतिष्ठित करा देना भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

जीवन्मुक्ति की अवस्था को मानव जीवन की सर्वोत्कृष्ट अवस्था इसलिए माना गया है कि उस स्थिति में या उसकी प्राप्ति के मार्ग में मनुष्य आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिकता क्षेत्रों में पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह निर्गुण–निरञ्जन परमतत्त्व से एकत्व प्राप्त कर लेता है और आधिदैविक एवं आधिभौतिक क्षेत्र में उसके लिए कुछ अप्राप्य नहीं रह जाता–

**यं यं लोकं मनसा संविभाति**
**विशुद्धसत्त्वः कामयते याँश्च कामान्।**
**तं तं लोकं जयते तांश्च कामान् . . . .**
**(मुण्डकोपनिषद् ३.१.१०)**

अतः स्वरूप निष्ठा ही मानव विकास की श्रेष्ठतम अवस्था मानी गयी है और इसी की प्राप्ति भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है।

यदि भारतीय जीवन के ऐतिहासिक पुनरावलोकन किया जाए तो वैदिक काल की जातीय चेतना का चिन्तन करते हुए हम अपने आपको स्वाभाविकतया एक दूसरे जगत् में अनुभव करने लगते हैं। वैदिक युग का नेता 'ऋषि' था और वह अत्यन्त सरल, स्वाभाविक, शरीर और चेतना में स्वस्थ तथा अन्तर्दृष्टि युक्त और आनन्दमय प्राणी है। वह प्रकृति के सौन्दर्य को अनुभव करने वाला, उसका भक्त है। स्त्री, सन्तान, धन–धान्य आदि के लिए मुक्त कण्ठ से प्रार्थनाएँ करता है और उन्हें वह यथार्थ स्वीकारात्मक भाव में ग्रहण करता है। पर फिर भी यह

स्थूल प्रत्यक्षवादी नहीं, वह तो गम्भीर अध्यात्मवादी है। वह अन्तर्निहित चेतन तत्त्व को जानता है और इन्हें उसकी ही अभिव्यक्ति अनुभव कराता है। वेद मन्त्रों के वातावरण में निवास करना मानो आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के वास्तविक आनन्द का उपभोग करना है। वैदिक ऋषि गाता है –

**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।**

'देखो इस प्रभु के सुन्दर जगत् को जो न नष्ट होता है, न पुराना पड़ता है।' वह प्रार्थना करता है 'जीवेम शरदः शतम्' – हम सौ साल तक जिएँ। आँख, कान, नाक आदि के सबल रहते हम सौ साल तक जियें। वह कहता है–

**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या . . . . . . . . . . . . .**
**निधिं बिभ्रति बहुधा गुहावसु मणिं हरिण्यं पृथिवी ददातु मे।।**

अर्थात् 'मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ, पृथ्वी मेरी माता है, वह मुझे अपनी विविध सम्पत्ति तथा गुप्त धन प्रदान करे'। साथ वह आध्यात्मिक जगत् का अन्वेषक है। वह 'सत्यं ऋतं बृहत्' सत्य, यथार्थ और बृहत् का उपासक है। वह अभीप्सा करता है –

**उर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने**

अर्थात् हे अग्नि ! तू ऊपर उठ, सब आवरणों को भेद डाल और हमारे अन्दर देवत्व को प्रकट कर।

कालान्तर में स्थिति परिवर्तित होती है और जातीय स्मृति के चिह्न मन्द पड़ने लगते हैं। हम आन्तरिक चेतना का बल खोकर बाह्य चेतना में लिप्त हो जाते हैं; हमारे व्यवहार में दम्भ आ जाता है। हमारे आध्यात्मिक जगत् के विभिन्न पड़ाव देखने को मिलते हैं, अनेक नकारात्मक भाव तथा सकारात्तमक भावों की विभिन्न स्थितियाँ देखने को मिलती हैं। महात्मा बुद्ध के रूप में एक उच्च कोटि का जिज्ञासु अवतीर्ण होता है। वह नश्वर संसार को क्षणभंगुरता का पाठ पढ़ाता है, संसार को दुःख रूप अनुभव कराता है, रोग, जरा और मृत्यु का उपाय ढूँढना चाहता है। वह निर्वाण–स्थिति प्राप्त करता है और त्याग के महामन्त्र का उपदेश देता है।

शताब्दियों तक 'संसार तुच्छ है तथा त्याज्य है' – वह भाव जनता के अन्तःकरण में रमता चला जाता है, परन्तु फिर एक और महापुरुष प्रकट होकर जातीय चेतना को नये रूप में उद्वेलित कर देता है। शङ्कराचार्य नास्तिक बौद्ध धर्म के स्थान पर आस्तिक हिन्दू–धर्म को प्रतिष्ठित करते हैं। जनता में एक व्यापक चेतन–तत्त्व के लिए, ब्रह्म के लिए, भावना पैदा हो जाती है। संसार पहले के समान

तुच्छ और त्याज्य रहता है, बल्कि माया बन जाता है। कर्ममात्र बन्धन हो जाता है तथा जीवन से मुक्त होकर निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाना पूर्णता है।

किसी जाति के लिए लौकिक–पारलौकिक विश्वास का आधार उस जाति का दर्शन शास्त्र होता है। दर्शनशास्त्र सत्यासत्यविवेचनात्मक ज्ञानपरक होता है। मैं कौन हूँ? कहाँ जाऊँगा? – इस नाना नाम–रूपमय जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है? इसका कर्ता कौन है? वह जड़ है या चेतन और परम सुख–शान्ति का स्वरूप है – आदि का समाधान दर्शनशास्त्र करता है। कोई जाति अपने दर्शनशास्त्र के अनुसार इहलोक और परलोक का जो स्वरूप निर्णय करती है, उसी के अनुसार लौकिक, पारलौकिक उन्नति का मार्ग सर्वप्रथम उस जाति का आचारशास्त्र होता है। आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र विधि–निषेधात्मक, कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी आज्ञाप्रदायक कर्मपरक होता है।

किसी जाति का धर्मशास्त्र अपने दर्शनशास्त्र प्रतिपादित लौकिक–पारलौकिक अभ्युदय में सहायक जिन कर्मों का आचार–विचारों का विधान करता है, वे कर्म ही उस जाति के लिए कर्तव्य होते हैं और उन्हीं द्वारा वह जाति अपनी लौकिक–पारलौकिक उन्नति मानती है। इससे स्पष्ट है कि किसी जाति के धर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित आचार–विचार ही उस जाति की संस्कृति का स्वरूप होता है। अतएव संस्कृति का आधार शास्त्र या धर्मग्रन्थ ही है।

जीवन्मुक्ति की अवस्था को मानव जीवन की सर्वोत्कृष्ट अवस्था इसलिए माना गया है कि उस स्थिति में या उसकी प्राप्ति के मार्ग में मनुष्य आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह निर्गुण–निरञ्जन परमतत्त्व से एकत्व प्राप्त कर लेता है और आधिदैविक एवं आधिभौतिक क्षेत्र में उसके लिए कुछ अप्राप्य नहीं रह जाता –

**यं यं लोकं मनसा संविभाति**
**विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।**

अपने इतिहास के निकटभूत में हम एक नयी भावना का उदय देखते हैं। कई महान् मूर्तियाँ प्रकट होकर जाति के नकारात्मक भाव के स्थान पर स्वीकारात्मक वृत्ति पैदा करने का यत्न करती हैं, वैदिक आदर्शों का स्मरण करातीं हैं। भारतीय चेतना के लम्बे विकास की ये प्रधान स्थितियाँ और गतियाँ

कही जा सकती हैं। ये सब आध्यात्मिक अवस्थाएँ हैं और इनमें से हर एक की भारतीय चेतना के विकास में कुछ देन है।

इनमें से प्रत्येक का अपने अपने ढंग का आत्मा और प्रकृति का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध साँस्कृतिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। वैदिक चेतना आध्यात्मिक चेतना होने से प्रकृति से अपने आपको अलिप्त और स्वतन्त्र अनुभव करती है। इसी कारण प्रकृति पर पूरा अधिकार अनुभव करती है और स्वतन्त्रतापूर्वक उसका उपभोग करती है। वास्तव में भारतीय संस्कृति का आधार है प्रकृति के साथ सीधा सम्पर्क। प्रारम्भिक तथा अन्तिम जीवन में भारतीय प्रकृति के साथ सीधा सम्पर्क रखने में विश्वास करते हैं। प्रकृति के साहचर्य से उसका अन्तःकरण पवित्र रहता है। परोपकार, वैराग्य और सदाचार की ओर प्रवृत्ति रहती है। खान–पान, विहार इत्यादि में सदा सर्वदा प्रकृति के समीप रहना, भौतिकवाद से मुक्त रहना, अन्य आध्यात्मिक विचारों तथा शुद्ध चिन्तन में तन्मय रहना – यह हमारी संस्कृति का एक अंश है।

इन सबका निष्कर्ष यह है कि हमारे निकटभूत के महापुरुषों का वास्तव में जगत् के प्रति एक नया स्वीकारात्मक भाव पैदा करने का आग्रह भी रहा। इस प्रकार एक के बाद एक चेतना के अन्दर नया विश्वास, नयी शक्ति तथा संघर्ष के भाव भरते रहे हैं।

पाश्चात्य की सभ्यता एवं संस्कृति बड़े–बड़े शहरों में गगनचुम्बी अट्टालिकाओं, आमोद–प्रमोद, विलास की सामग्रियों में प्रकट होती है, किन्तु हमारी संस्कृति भौतिक आवश्यकताओं की तृप्ति के साधनमात्र को कोई महत्त्व नहीं देती। भारतीय संस्कृति तो तपोवन में, प्रकृति के अञ्चल में है। हम त्याग को महत्त्व देते हैं, आन्तरिक सम्पदाओं के संग्रह में विश्वास करते हैं। उसकी मान्यता है कि उसका मानसिक जितना शुद्ध, विकसित एवं परिपक्व रहेगा उसका उतना ही उच्च जीवन भी होगा। त्याग, संयम उनकी रग–रग में समाया हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति मनुष्य का विकास अचेतन मन से प्रारम्भ करती है। जब हमारी चेतना का विकास नैतिक वातावरण में होता है, तब हमारी विवेक बुद्धि के सम्यक् विकास से एक आत्मदर्शन की शक्ति का अभ्युदय होता है।

आज संसार 'संस्कृति' की पाश्चात्य भावना के अनुसार मन, प्राण और शरीर के 'अनुशीलन' में लगा हुआ है और प्रकृति में लिप्त भाव के कारण

आत्मभाव और आत्मगौरव को खो बैठा है। प्रकृति में लिप्त भाव होने के कारण ही आज की पाश्चात्य चेतना के लिए यह विपुल वैज्ञानिक विकास संकट बन गया है। संस्कृति सम्बन्धी भारतीय विचार ही इसका यथार्थ समाधान है। 'संस्कृति' का अनिवार्य लक्षण है – आन्तरिक शुद्ध भाव अर्शात् आत्मा का मन, प्राण और शरीर की प्राकृतिक चेष्टाओं से स्वतन्त्र तथा तटस्थ भाव। इसी से मानव प्रकृति में स्वामी भाव से विचर सकता है और उसका यथोचित उपयोग और उपभोग कर सकता है।

श्री अरविन्द दर्शन भारतीय संस्कृति की वर्तमान अभीप्सा का पूर्ण प्रतीक प्रतीत होता है। यह जगत् को भागवत अभिव्यक्ति के रूप में केवल अंगीकार ही नहीं करता बल्कि इसे मानव के सर्वाङ्गीण आध्यात्मिक विकास का उपयुक्त आधार और क्षेत्र बतलाता है। श्री अरविन्द दर्शन के अनुसार, जगत् अनिवार्य रूप में वैश्व–विकास के क्रम से जड़, प्राण और मन के क्रमिक स्तरों द्वारा व्यापक अध्यात्माभिव्यक्ति के लिए तैयार हो रहा है और भावी विकास में समय आएगा जब कि ये आज के अज्ञानाच्छादित स्तर सजग और सचेतन हो उठेंगे।

अत: मानव को जो कि प्रजापति की सर्वश्रेष्ठ सन्तान है – इहैव जगत् के क्रियाकलापों में भागवत इच्छा को चरितार्थ और अभिव्यक्त करना है, इसी से मानव अपने सर्वाङ्गीण विकास को प्राप्त करेगा। 'संस्कृति' के सम्बन्ध में कवि की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

**जग को देती थी ज्योतिदान जो बन अनिंद्य आकाशदीप**
**जग शलभरूप बन मँडराया जिस ज्योतिरूपिणी के समीप**
**उस अभ्रविचुम्बी भारतीय संस्कृति–मन्दिर का कलश भग्न**
**हा ! अपना भाग्य विधान हुआ कितना अस्फुट, कैसा प्रतीप।।**
**मणि–रत्नों की मंजुषा सी जो शील दयामयि ऊषा सी**
**उसका यह क्षणिक स्खलन निश्चय ही अवनति का आरम्भ रूप**
**जिसकी अजस्र सभ्यता–धार छाई अब भी मेखलाकार–**
**उसके विनाश के स्वप्न अहो, जड मस्तिष्कों की महाभूल।।**
**विस्मृति का गहरा अंधकार, अवसादों का आवर्त पीन**
**जीवन का दारुण दैन्यरूप, संस्कृति विनष्ट गत पुराचीन**
**विध्वंसों का यह महाकार परिव्याप्त राष्ट्र के आर पार**
**युग–चट्टानों से ध्वस्त शेष, खंडित अपमानित मलिन बेल।।**

निष्क्रियता तज मेरे अनूप! जागो बनकर संस्कृत–नवीन
एक नया संसार बसा ले एक नया संसार
जहाँ प्रेम का अटल सत्य हो, कलुषित स्वार्थ–सिंधु के पार
जहाँ न हो मानव जीवन में दारुण मूक व्याथा का भार,
मानवता के स्वच्छ गगन में, जहाँ न हो तृष्णा का विस्तार,
तिमिरमणी रजनी में आँखें जिसे खोजतीं बारंबार,
मणि मण्डल की स्वर्ण–रश्मि में, मानवता की पुण्य–भूमि में
सत्य, अहिंसा, न्याय, दया का संयम, सदाचार, आगार,
जहाँ त्याग का क्रीडा स्थल हो स्वार्थ हीन सेवा संचार,
वहीं बना ले मधुमय, सुन्दर, एक नया सुरक्षित संसार।
जो चाहौ भारत कल्याण तौ सब मिल भारत सन्तान।
जपौ निरन्तर, एक जवान, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दूस्तान।।
जागृति के स्वर्णिम प्रहरों में हो रहा नवल किरणोन्मेष।
जग रहा शुभ्र तन्व्रित स्वदेश।
इस प्रथम रश्मि के साथ–साथ ले रही दीनता अँगड़ाई,
आशा–हिमजल से स्नात आज उल्लसित राष्ट्र की अगराई
खगकुल–कलरव के सँग अजान, गुञ्जित अभिनव जागरण–गान
जागो जीवन का ज्वार लिए, आ रहा इन्द्र–धनुषी विद्वान्।
नश्वर भौतिकता पर विजयी जिसका सदैव अध्यात्मवाद
जड़ जगती की शुचि तपोभूमि! जो चिर, अविनश्वर, अप्रमाद
भ्रुकुटी में प्रलय–अमर्ष लिये, स्मिति में संसृति–उत्कर्ष लिये
जो पूरित–पुष्कल–स्वर्ण राशि, जो ज्ञान–पुञ्ज, चिर निर्विवाद।
विष पीकर सुधा लुटाना ही जिस संस्कृति का आधारमूल
सिंचन अपलक, सर्जन अनवाक, जिसके जग पर उपकार स्थूल
हिमगिरि सा अति उत्तुंग भाल, जिसकी गरिमा का स्तम्भ रूप
जिसके कौशल के परिचायक साँची, मदुरा के अनुपम स्तूप।
जिसने संसृति को प्राण दिये, प्राणों में स्पंदन भर गति दी
जिसने चिर अगत रहस्यों का विश्लेषण कर प्रज्ञा–मति दी
शंकर दे तपी तथागत दे, निश्चित दर्शन सिद्धान्त दिये
यश लोकोज्ज्वल इतिहास दिया, मंगलप्रद हिन्दू संस्कृति दी।।

# तृतीय अध्याय
# नारी शब्द की व्युत्पत्ति

प्रत्येक शब्द का इतिहास है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। संस्कृत भाषा की यह विशेषता रही है कि इसमें प्रत्येक शब्द व्युत्पत्ति के सहारे अपना एक स्वरूप रखता है, अपना एक इतिहास रखता है। अवश्य ही शब्दों के अर्थ में समय–समय पर संकोच–विस्तार हुआ और फलस्वरूप शब्द कभी–कभी अपने मूल अर्थ से बहुत दूर हो जाता है, परन्तु इस परिवर्तन से मूल अर्थ की विशेषता नष्ट नहीं होती। नारी–अर्थ के बोधक शब्द भी नारी के स्वरूप पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं। कवियों में नारी माया सी दुर्बोध, प्रकृति सी बहुरूपी, साथ ही सहानुभूति सी सरल रही है। इन विभिन्न रूपों के कारण ही उसे रहस्यमय कोटि में डाल दिया गया है। परन्तु यदि शब्दों के विकास के साथ मानव–सभ्यता के विकास का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि नारी उतने ही अंश में रहस्यमयी है, जितने अंश में संसार की कोई वस्तु। विषम समाज में विषम स्थिति होने के कारण नारी के विभिन्न स्वरूप होते गए। मानव का नारी के साथ शारीरिक, रागात्मक और धार्मिक सम्बन्ध होने के कारण भी नारी के स्वरूप–भेद हुए और उनके सूचक शब्दों की अलग–अलग सृष्टि हुई। नारी–वाचक छोटे से छोटे शब्द में भी उसकी जाति, उसके गुण, उसकी क्रिया अथवा इच्छा झलक ही जाती है। नारी शब्द के कुछ पर्यायवाची शब्दों की व्युत्पत्ति के सहारे नारी के कुछ विशेष स्वरूप पर प्रकाश डाला जा सकता है –

**नारी** – ऋग्वेद में नारी शब्द नहीं मिलता परन्तु यज्ञ के अर्थ में 'नार्यः' शब्द का प्रयोग हुआ है। तैत्तिरीय आरण्यक (६–१–३) और शतपथ ब्राह्मण (३–५–४–४) में यह मिलता है। नारी शब्द नृ अथवा नर से बना है – नृ + अञ् + ङीन् = नारी, नर + ङीष् = नारी। पतञ्जलि ने दोनों व्युत्पत्तियों को ठीक माना है। महाभाष्य (४–४–९) में 'नुर्धर्म्या नारी, नरस्यापि नारी' है। यास्क ने नर शब्द को नृत = नाचना से बनाया है 'नराः मनुष्याः नृत्यन्ति कर्मसु' (निरुक्त ५–१–३)। काम करते समय मनुष्य हाथ–पैर नचाता है, हिलता–डुलता है,

इसलिये उसे नर कहते हैं। इसी विशेषण के कारण स्त्री को नारी कह सकते हैं। ऋग्वेद में नृ का प्रयोग वीरता का काम करना, दान देना तथा नेतृत्व करने के अर्थ में हुआ है और नर शब्द का प्रयोग भी वीर, दाता तथा नेता के अर्थ में हुआ है। सम्भवत: स्त्री का नारी नाम भी इन्हीं विशेषताओं के कारण पड़ा होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं–कहीं 'नारी' पाठ मिलता है। सायण के मत में 'नारि:' का भाव नरों का उपकारक अथवा शत्रु न होना है –

**नृणां महावीरार्थिनाम् उपकारित्वात् नारि:। न अरि: नारि:।**

**(सायण तै० आ० ४–२–१)**

**स्त्री** – नारी के लिए सबसे अधिक प्रचलित शब्द 'स्त्री' है। वैदिक साहित्य में यह प्रसिद्ध हो चुका था। पालि और प्राकृत के युग में सजीव रहा। आज भारत की सभी प्रसिद्ध भाषाओं में इसकी अखण्ड परम्परा सुरक्षित है। 'स्त्री' शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है। यास्क के मत में स्त्यै का अर्थ लज्जा से सिकुड़ना है। स्त्री को स्त्री इसलिए कहते हैं कि वह लजाती है – **'स्त्रिय: स्त्यायते: अपत्रपणकर्मण:'** (निरुक्त ३–२१–२)। दुर्गाचार्य ने इसकी टीका में लिखा है – **लज्जार्थस्य लज्जन्तेऽपि हि ता:**। अर्थात् नारी की स्त्री संज्ञा उसके लज्जाशील होने के कारण है।

आचार्य पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी के – 'स्त्रियाम्'सूत्र के भाष्य में स्त्री शब्द पर कई पहलुओं से विचार किया है। लोक में कुछ शारीरिक चिह्नों को देखकर 'स्त्री' कहा जाता हैं ये चिह्न हैं – स्तन और केश – **स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमश: पुरुष: स्मृत:** (पा० ४–१–३)। किन्तु यह स्थूल रूप है। पतञ्जलि के मत से स्त्री का अर्थ है – **स्त्यापति अस्यां गर्भ इति स्त्री**। नारी को स्त्री इसलिए कहते हैं कि गर्भ की स्थिति उसके भीतर होती है। पतञ्जलि ने स्त्री शब्द की एक दूसरी व्युत्पत्ति दी है। वह है – **शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां गुणानां स्त्यानं स्त्री**। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध – इन सबका समुच्चय ही स्त्री है। महाभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार कैयट ने स्त्यान का अर्थ तिरोभाव किया है। कैयट के मत से शब्द, स्पर्श आदि सत्त्व, रज और तम – इन तीन गुणों के परिणाम हैं। इन तीन गुणों का आविर्भाव पुंस्त्वका, तिरोभाव स्त्रीत्व का और स्थिति नपुंसकत्व का द्योतक है। कैयट ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि आविर्भाव, तिरोभाव आदि की प्रक्रिया क्या है? वे इन अवस्थाओं को केवल शब्द गोचर मानते हैं अर्थात् किस वस्तु में गुणों का उपचय या अपचय है, यह उसके वाचक

पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग शब्द से जाना जा सकता है। कैयट के मत में जिन वस्तुओं के लिए नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग होता है, वे सब मानों गुणों की साम्यावस्था के द्योतक हैं।

पतञ्जलि से शताब्दियों पहले यास्क ने यह भाव व्यक्त किया है। ऋग्वेद पर टिप्पणी लिखते हुए यास्क ने लिखा है – **'स्त्रियः एव एताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यः'**। अवश्य ही न तो पतञ्जलि ने और न यास्क ने ही यह विवेचन किया है कि किस तरह स्त्री शब्द, स्पर्श, रूप आदि का हरण या वहन करती है। शब्द, स्पर्श आदि ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। स्त्री शब्द, स्त्री–स्पर्श, स्त्री–रूप, स्त्री–रस, स्त्री–गन्ध ये क्या अलग–अलग और क्या साथ–साथ, इस लीलामय जगत् में अपनी अनिवर्चनीय सुषमा और अनुपम आकर्षक शक्ति के लिए सुविदित हैं।

**माता** – शब्द–व्युत्पत्ति द्वारा मातृ शब्द के भाव को जानने की चेष्टा वैसी ही है, जैसी कि किसी फूल की नसों को उधेड़ उधेड़कर उसके सौन्दर्य को परखने की चेष्टा। ऋग्वेद में मातृ शब्द अन्तरिक्ष, नदी, जल तथा पृथ्वी के अर्थ में भी व्यवहृत है। वैयाकरण मातृ शब्द को मान् + तृच् से बनाते हैं। मान का अर्थ है आदर। अतः मातृ शब्द का अर्थ 'आदरणीय' है। यास्क के मत से मातृ का भाव–निर्मातृ–निर्माण करने वाली जननी भी है। पर आदियुग से लेकर आज तक मानव जिसे असीम श्रद्धा भेंट करता रहा है और जिससे अजस्र अक्षय स्नेह पाता रहा, यह केवल जन्मदात्री नहीं, वह इससे बहुत बड़ी है, उसका स्थान स्वर्ग से भी ऊँचा और गुरु से भी अधिक पूज्य है।

इसके अतिरिक्त मेना, वामा, अबला, प्रमदा, ललना, मानिनी आदि शब्द भी हैं जिनकी व्युत्पत्ति नारी के विभिन्न भावों की द्योतक है। उनके मनोवैज्ञानिक स्वरूप को व्यक्त करती है।

**मेना** – ऋग्वेद में 'मेना' शब्द नारी अर्थ का वाचक है। महर्षि यास्क के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति है –

**मानयन्ति एनाः (पुरुषाः) (निरुक्त३.२१.२)**। पुरुष इनका आदर करते हैं, अतः स्त्रियों को मेना कहती हैं। लौकिक संस्कृत में मेना शब्द मान्या बन गया। संस्कृत में मेना शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में मिलता है। पार्वती की माता का नाम मेना था।

**योषा** – स्त्री के लिए यह भी प्राचीन शब्द है, यह यु– जुटाना धातु से बना

है। दुर्गाचार्य के मत में स्त्री को योषा इसलिए कहते हैं कि वह अपने आपको पुरुष के साथ जुटाती है। **'योषा यौतेः मिश्रणार्थस्य, सा हि मिश्रयति आत्मानं पुरुषेण साकम् (नि. ३.१५.१) योषणा और योषित्** – ये दोनों शब्द भी जो नारी–अर्थ के वाचक हैं, योषा के ही मूल भाव को रखते हैं। वैदिक संस्कृत में योषा शब्द का व्यवहार प्रचुर रूप में हैं। जैसे – **'योषा जारस्य चक्षुषा बिभाति (ऋग्वेद १.९८.११)**। प्रेमी की दृष्टि में प्रेमिका सुन्दर लगती है – **'न वै योषा कंचन हिनस्ति' (शत.ब्रा. ३.६.१.४२)** स्त्री पर कोई हाथ नहीं उठाता। लौकिक संस्कृत में योषित् शब्द का व्यवहार अधिक है।

**वामा** – स्त्री वामा है क्योंकि वह सौन्दर्य बिखेरती है – **'वयति सौन्दर्यम्'**। स्त्री वामा है क्योंकि वह प्रतिकूल बात कहती है। लेकिन हाँ के बदले प्रायः 'नहीं' कहती है। वामा दुर्गा का भी नाम है –

**वामं विरुद्धरूपं तु विपरीतं नु गीतये।**
**वामेन सुखदा देवी वामा तेन मता बुधाः।।**
**(देवीपुराण, अध्याय ४६)**

**या पुनः पूज्यमाना तु देवादीनां तु पूर्वतः।**
**यज्ञभागं स्वयं धत्ते सा वामा तु प्रकीर्तिता।।**
**(कालिकापुराण अ. ७७)**

**सुन्दरी** – सु + उन्द = गीला करना + अर् + ङीष् = सुन्दरी। स्त्री को सुन्दरी कहते हैं क्योंकि उसको देखने से पुरुष का हृदय गीला होता है, चित्त द्रवित होता है। अथवा **'सुष्टु नन्दयति इति नैरुक्ताः'**। स्त्री अच्छी तरह प्रसन्न करती है। अतः वह सुन्दरी है। वस्तुतः सुन्दरी शब्द ऋग्वेद से 'सूनरी' शब्द का विकसित रूप है। ऋग्वेद में उषा के लिए सूनरी शब्द का प्रयोग हुआ है। सुनरी का अर्थ है शोभाशाली सुन्दरी।

**आ घा योषेव सून र्युषा याति प्रभुञ्जती।**
**(ऋग्वेद १.४८.५)**

अर्थात् प्रसन्नतायुक्त उषा एक सुन्दरी रमणी सी आ रही है।

**प्रमदा** – हलके से हलके भाग से पुरुष को उत्तेजित कर देना रमणी की नैसर्गिक विशेषता है। वह प्रमदा है। प्रमद का भाव हर्ष भी है। **'प्रमदसंमर्दौ हर्षे च'**, अतः हर्षित–पुलकित–स्वभाव होने के कारण भी स्त्री को प्रमदा कहते हैं।

**ललना** – यह शब्द स्त्री के एक मानसिक भाव का द्योतक है। यह लल– इच्छा

करना से बना है। स्त्री में लालसा, इच्छा, चाह प्रबल होती है अत: उसे ललना कहते हैं।

**मानिनी** – स्त्री के लिए मानिनी शब्द का व्यवहार भी उसके एक मनोवैज्ञानिक स्वरूप को व्यक्त करता है। स्त्री मानप्रिय होती है। रूठती है, चाहती है कि मुझे कोई मनावे। मानिकी का एक और स्वरूप है और वह है स्वाभिमान, आत्मसम्मान की भावना। स्त्री में अपनेपन की मात्रा तीव्र होती है। उसके सौन्दर्य, गुण, कार्य आदि किसी की प्रतिकूल आलोचना उसे बाण सी लगती है। वह सच्चे अर्थ में मानिनी है।

**अबला** – इस शब्द की रचना नारी के शारीरिक बल को सामने रखकर की गयी है। स्त्री में पुरुष सा बल नहीं होता। हाँ नारी की मानसिक उड़ान का लोहा वैदिक ऋषि भी मानते थे और उसे वश में करना असाध्य मानते थे –

**स्त्रिया अशास्यं मन: (ऋग्वेद ८.३३.१७)**

**ग्ना** – (वैदिक) 'ग्ना' शब्द भी ऋग्वेद में स्त्री अर्थ का बोधक है। ऋग्वेद में यह शब्द प्राय: देवपत्नियों के लिए ही आया है, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में सामान्य स्त्री के लिए प्रयुक्त है। यास्क ने इसका अर्थ किया है – **'ग्ना गच्छन्ति एना:' (निरुक्त ३.२१.२)**। दुर्गाचार्य ने इसका भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्त्री को ग्ना इसलिए कहते हैं कि पुरुष संसर्ग की कामना से इनके पास जाते हैं, गमन करते हैं। संस्कृत में 'ग्ना' शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। किन्तु संस्कृत का 'गम्या' शब्द इसी 'ग्ना' का विकसित रूप है। ग्वा = गमा = गम्या यह 'गम्' धातु से बना है। अवस्था में 'घेना' या 'गेना' शब्द स्त्री के लिए प्रयुक्त हुआ है जो ग्ना का ही परिवर्तित रूप है। जर्मन भाषा का स्त्री अर्थ का वाचके 'गुने' (Gune) शब्द भी 'ग्ना' से ही है। ग्रीक के गाँमान् (विवाह) शब्द में भी 'ग्ना' की गन्ध है।

**महिला** – म् + इलच् + आ = महिला। मह् का अर्थ पूजा है। पूज्य होने के कारण स्त्री का महिला नाम पड़ा।

उपर्युक्त शब्दों की व्युत्पत्ति नारी के सामान्य स्वरूप की ही अभिव्यञ्जना करती है। नारी के सम्बन्ध विशेष के द्योतक कुछ शब्दों का विवरण भी इस प्रकार है–

**दुहिता** – कन्या के लिए दुहिता शब्द अत्यन्त प्राचीन है। यदि अन्य भाषाओं में भी देखा जाए तो एङ्गलो–सेक्शन दोहतार (dohtar) । अंग्रेजी का डाटर (daughter), जर्मन का तोख्तर (tochter), ग्रीक का थुगदर (Thugatheter) और

अवस्ता का दुधोतर (dudhoter), ये सभी शब्द 'दुहिता' शब्द से किसी न किसी रूप में नाता रखते हैं। यास्क के अनुसार दुहिता शब्द की व्युत्पत्ति है– **'दुहिता दुर्हिता, दूरेहिता' (नि. ३.४.४)**। दुर्गाचार्य इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि – दुहिता दुर्हिता है, क्योंकि वह जहाँ कहीं भी दी जाती है, उसका स्वागत नहीं होता, सर्वत्र दुत्कारी जाती है। **'सा हि यत्रैव दीयते तत्रैव दुर्हिता भवति।' अथवा 'दूरे हिता दुहिता।'** पुत्री के दूर होने पर ही पिता को चैन मिलता है। **'दूरे सति सा पितुः हिता पथ्यं भवति इति दुहिता इति उच्यते।'** यास्क ने दुहिता शब्द को 'दुह्' धातु से भी बनाया है 'दोग्धेर्वा'। इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य कहते हैं– **सा हि नित्यमेव पितुः सकाशात् द्रव्यं दोग्धि प्रार्थनापरत्वात्** अर्थात् वह पिता को प्रसन्नकर सदा उससे कुछ न कुछ धन दूहा करती है, इसलिए 'दुहिता' है। इसमें सन्देह नहीं कि दुहितृ शब्द दुह् = दुहना धातु से बना है। अतः यह अनुमान भी सम्भव है कि प्रारम्भिक युग में कन्याएँ अपने पिता के घर गाय दुहा करतीं थीं। फलतः उनका नाम 'दुहितृ' (दुहिता) पड़ा। वस्तुतः ऐसा लगता है कि उस समय हमारे देश में सर्वसाधारण कन्या के प्रति उतना प्यार नहीं था, जितना पुत्र के प्रति। 'ऐतरेयब्राह्मण' में एक स्थान पर **'कृपणं हि दुहिता, ज्योतिर्हि पुत्रः'** कहा गया है। पुत्र ज्योतिस्वरूप है और दुहिता दुःख की खान है। पतञ्जलि ने पुत्र और दुहिता की समानता दिखाते हुए लिखा है – **'यदि पुनाति प्रीणातीति वा पुत्रः दुहितर्यप्येतद् भवति'** – यदि पुत्र पवित्र करता है या आह्लादित करता है तो दुहिता भी पवित्र करती है, आह्लादित करती है (अष्टा. १.२.६२)।

वस्तुतः आज के सन्दर्भ में तो पतञ्जलि द्वारा दिया गया अर्थ ही अधिक संगत है।

**जाया –** स्त्री के पत्नी रूप के लिए जाया शब्द व्यवहृत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में जाया की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है –

**तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।**

जाया जाया इसलिए है कि पुरुष स्वयं उसमें पुत्ररूप में जन्म लेता है। वैदिक साहित्य में पुत्र के साधनरूप जाया की महिमा, गरिमा तथा शोभा स्थान–स्थान पर गायी गयी है। ऐतरेय ब्राह्मण में जाया को **'आभूतिरेषा भूतिः'**– यही शोभा है, यही ऐश्वर्य है, कहा गया है। ऋग्वेद में जाया के प्रति बड़े ही मधुर उद्गार मिलते हैं। **'कल्याणी जाया सुरणं गृहे ते'** = तुम्हारे घर में कल्याणी सुषमामयी जाया है। **'जायेदस्तं मघवन् सेदुयोनिः'** – हे इन्द्र, जाया ही घर है।

वही पुरुष का विश्राम स्थल है (ऋग्वेद ३.५३.४)। ये सब उद्‌गार नारी के सम्मानित स्वरूप के द्योतक हैं।

अतः स्पष्ट है कि नारी के पर्यायवाची शब्दों की व्युत्पत्ति नारी के चिरन्तन सत्य का निर्देश करती है। नारी के कुछ नाम उसके भौतिक स्वरूप के द्योतक हैं। स्त्रियाँ सृष्टि के साधन हैं। प्रकृति के मूर्त रूप हैं। अबला हैं, पर कोमल–कान्त–कमनीय हैं। कुछ नाम उनके शारीरिक और मानसिक विशेषताओं के सूचक हैं। इनमें रमणी का सौष्ठव, कामिनी की वासना, भीरू की शंका और प्रमदा का मद – एक साथ मिलता रहता है। शब्द–व्युत्पत्ति द्वारा नारी के सौन्दर्यात्मक पक्ष भी उभरकर आया है। स्त्री ही शोभा है। रमणीयता का नाम ही नारी है। जो वस्तुएँ नारी को प्रिय हैं, वे सुन्दर हैं। जिन वस्तुओं से नारी के अवयवों का साम्य हैं, वे रुचिर हैं। नारी में सौन्दर्य, सौन्दर्य में प्रेम, प्रेम में अनन्यता और अनन्यता में आनन्द है। आनन्द नारी में है। नारी का आध्यात्मिक स्वरूप भी है। वह श्री है, शक्ति है, चिति है। उसकी मुस्कान में सृजन, उसके दूध में स्थिति और उसकी आह में प्रलय छिपा है। वह मान्या है, पूज्या है, आराध्या है। उसके मोह में स्नेह, बन्धन में दान और जीवन में उत्सर्ग है। वह देवी है। वह अपूर्ण में पूर्ण है, वह भक्ति है, श्रद्धा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नारी के विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है।

# चतुर्थ अध्याय

# चतुर्युग वैशिष्ट्य

सृष्टि का आदिकाल कैसा था, इस विषय पर भारतीय एवं पाश्चात्य मान्यता में मौलिक भेद है। पाश्चात्य वैज्ञानिक मान्यता है कि आदिकाल का मनुष्य असभ्य, मूर्ख, जंगली एवं शारीरिक स्वार्थरत था। उसके मन में अपने स्वार्थ की भावना तथा क्रूरता थी। शनैः शनैः वह सामाजिक प्राणी हुआ। मनुष्य का ज्ञान, विद्या, बुद्धि, आचार – सब विकसित हुए और होते जा रहे हैं। सभी दिशाओं में मनुष्य ने उन्नति की है। यद्यपि शरीर की दृष्टि से मनुष्य प्रथम युग में अधिक सशक्त था और जैसे–जैसे प्रकृति से दूर होता गया, उसका जीवन कृत्रिम होता गया और उसकी शारीरिक शक्ति का ह्रास हुआ है।

भारतीय ऋषियों ने इससे सर्वथा भिन्न यह तथ्य प्रकट किया कि शरीर का ह्रास तथा मन–बुद्धि का विकास नहीं हुआ। मन का स्वभाव ही निर्मल एवं सद्गुण युक्त है। काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, क्रूरतादि विकार हैं क्योंकि इनमें दूसरों की अपेक्षा होती है। विकार किसी भी वस्तु में क्रमशः आते हैं। मूल में तो वह शुद्ध ही होते हैं। अतः आदिमानव शुद्ध, सात्त्विक एवं सद्गुण सम्पन्न था। सरल, दयाशील, त्यागयुक्त था, वह दोष युक्त बाद में हुआ। ऋषि–मुनियों की यह धारणा है कि ज्ञान सीखने की वस्तु नहीं है, वह तो सृष्टि के आदि में मानव को ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है। धीरे–धीरे उसमें विस्मृति एवं भ्रान्ति ही आती है। उनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ के ह्रास की एक सीमा होती है। उस सीमा में पहुँचकर वह परिवर्तित होता है। उसमें स्फोट होता है और तब वह अपने प्रथम स्वरूप में आ जाता है। जैसे जल मूल में शुद्ध होता है। धीरे–धीरे उसमें विकार आते हैं और सूखकर वह अपने विशुद्ध वाष्प रूप को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार जगत् के ह्रास की भी एक सीमा है। उस सीमा पर पहुँचकर व्यक्त मूर्त जगत् नष्ट हो जाता है। पुनः आदियुग का क्रम चलता है। भारतीय तत्त्व चिन्तकों आदि से लेकर इस उन्नति–अवनति के क्रम को चार युगों में विभक्त किया है– सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। इस ऐतिहासिक क्रमिक अवस्था के अवलोकन से युगों की परिस्थिति, मनःस्थिति, विचारधारा का एक स्वरूप सामने आता है। यह भेद ही युगों के स्वरूप का परिचायक है।

## सत्ययुग

आदियुग को शास्त्रज्ञों ने सत्ययुग कहा है। इस युग का समय सबसे दीर्घ है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि इस युग में सत्त्वगुण की प्रधानता थी। मानव में त्याग, तप, एकाग्रता, सत्य, अहिंसादि शम–दम स्वभाव से थे। फलत: मनुष्य को आहारादि की चिन्ता की आवश्यकता नहीं थी। संग्रह करने की प्रवृत्ति नहीं थी। उस युग में न नगर थे और न ग्राम। मनुष्य वृक्षों के नीचे या गिरि–गहरों में रहते थे। वे मूर्ख नहीं – परम ज्ञानी थे। मनुष्य के स्वार्थ, क्रोधादि दुर्गुण नहीं थे। उनके लिए वेदों के विधि–निषेध का विधान सोचना उपयोगी नहीं था। तपस्या में उनकी स्वाभाविक रुचि थी। ईश्वर, परमपुरुष, अव्यक्त और परमात्मा – भगवान् के ये नाम उस युग में कीर्तित होते थे। वेदत्रयी अनादि होकर भी उसका तप एवं ज्ञानकाण्ड ही व्यवहार में आते थे। इसीलिए शास्त्रों में उस समय एक ही वर्ण, एक ही आश्रम का वर्णन आता है। उस युग के साधन ध्यान एवं तप रहे।

## त्रेता युग

सत्ययुग के अन्त में यज्ञ होने लगे थे। विकार काम कर रहे थे। धीरे–धीरे रजोगुण प्रधान होने लगा। मनुष्य के मन में पहली वासना सम्मान एवं स्वर्ग की जागृति हुई। यज्ञ और दान त्रेता के साधन बने। मनोबल क्षीण हुआ। अब मनुष्य को संकल्प सिद्धि के लिए यज्ञ की आवश्यकता हुई। ऐसा भी वर्णन मिलता है कि यज्ञ में उस समय देवता प्रत्यक्ष हो जाते थे। यज्ञ एवं दान ही संग्रह का लक्ष्य था। संग्रह भोग के लिए नहीं था। मन स्वच्छ था और श्रद्धापूर्ण था। यज्ञ कराने वाले ऋषिगण सत्ययुग के समाज के समान ही त्यागी, वासनाहीन, निर्लोभ एवं तपस्वी थे। इस प्रकार की कथा आती है कि वेन के अभिमान में आध्यात्मिक स्तर में अव्यवस्था उत्पन्न की, फलत: अकाल पड़ा। जनसंख्या बढ़ गयी थी और यज्ञ के लिए संग्रह की प्रवृत्ति हो गयी थी। मनुष्यों में वह प्रकृति के द्वन्द्व सहने एवं तप की शक्ति नहीं थी। परिणामत: जंगलों पर निर्भर नहीं रहा जा सकता था। महाराज पृथु ने जो आदि नरेश थे, नगर–ग्रामादि बसाये। पृथ्वी समतल करायी और कृषि होने लगी। महाराज पुरुरवा ने यज्ञीय अग्नि के तीन भाग किए। यज्ञ पुरुरवा के समय से सकाम होने लगे।

समाज बनने पर नियम भी लागू हुए। वेदत्रयी कार्यशील हुई। वर्णाश्रम–धर्म प्रत्यक्ष व्यवहार में आया। भारतीय संस्कृति में मन की शुद्धि ही

सदा सम्मुख रक्खी गयी है। त्रेता में मनुष्य स्वभावत: धर्मात्मा थे और वेदों में उनकी अविचल श्रद्धा थी।

## द्वापर युग

त्रेता युग के अन्त में मनुष्य की दुर्बलता सभी क्षेत्रों में बढ़ गयी। द्वापर– इस शब्द का अर्थ है सन्देह। तमोगुण का प्रवेश हुआ। मनुष्य के मन में सन्देह, अविश्वास का बीज आ जमा। अविश्वास ने संकल्प को हीनवीर्य कर दिया। इस युग में मनुष्य में शारीरिक सुख की वासना आ गयी। कष्ट–सहिष्णुता एवं त्याग का लोप होने लगा। भोग लक्ष्य हो गया मनुष्य का। अत: सर्वस्व दान करने वाले यज्ञ सम्भव नहीं रह गये। भोगेच्छा से संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ी। पदार्थों का अभाव संग्रह–वृत्ति के कारण होने लगा। जनसंख्या में वृद्धि होने लगी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि संग्रह में राग के कारण सन्देह उत्पन्न हुआ। उसके क्षय की आशङ्का हुई। मनुष्य तब भी धर्मभीरू था। उसका उपार्जन पवित्र था। दूसरे के स्वत्व को अन्यायपूर्ण होने की प्रवृत्ति नहीं थी।

द्वापर में मनुष्य यज्ञीय त्याग के अयोग्य हो गया। उपार्जन का वह उपभोग करना चाहता था। यज्ञ में सन्दिग्ध मन संकल्प को मूर्त करने में बाधक था और उसमें जो नियमादि के कष्ट थे, वे भी सह सकें – इतना सक्षम शरीर नहीं रह गया था। भोगेच्छा जागृत हो गयी थी। फलत: उसे नियन्त्रित करना आवश्यक था। इस समय तक भी मनुष्य में श्रद्धा थी। फलत: द्वापर में पूजा का विधान हुआ। उपार्जन पवित्र था, न्यायपूर्ण था, हृदय में श्रद्धा थी। फलत: उसे नियन्त्रित करना आवश्यक था। इस समय तक भी मनुष्य में श्रद्धा थी। मनुष्य में तब तक छल, कपट, दम्भ नहीं था। विशुद्ध श्रद्धा होने से भाव की पूर्णता हो जाती थी।

## कलियुग

द्वापर के अन्त में सत्त्वगुण का ह्रास प्राय: हो चुका था। रजोगुण में तमोगुण प्रधानता ग्रहण करने लगा। द्वापर के अन्त में ही छल, कपट, अन्याय को मनुष्य ने अपनाना आरम्भ कर लिया था। जैसा कि नाम से स्पष्ट है 'कलि' का अर्थ है – कलह, युद्ध। इस नाम की सार्थकता प्रत्यक्ष देख रहे हैं। परिवार में, स्वजनों में, ग्राम में, जाति में, प्रान्तों में, समाज में, धर्म में, देश में, विश्व में, जाति वर्गों में, सिद्धान्तों में – इस प्रकार व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण विश्व में प्रत्येक स्थल पर कलह व्याप्त है। गृह कलह से लेकर जो विश्वयुद्ध की परम्परा

चल रही है, कोई नहीं जानता कि इसका अन्त कहाँ है, यह कलह स्वार्थजनित है। धर्म, सिद्धान्त, जाति – सबकी ओड़ में स्वार्थ पनपता है। सत्ता, शक्ति एवं सम्पत्ति के लिए संघर्ष है। हम सब जानते हैं कि संघर्ष से हानि है, हमारे उसी स्वार्थ की हानि जिसके लिए हम प्रयत्नशील हैं। हम एक दिशाहीन गन्तव्य की ओर अग्रसर हैं।

**स्वार्थ** – केवल स्वार्थ मुख्य हो गया है। मनोबल, बुद्धिबल, शारीरिक बल नष्ट हो गया। मनोबल के नाश से विषयेच्छा बढ़ी। श्रद्धा–विश्वास समाप्त हुआ। बुद्धिबल के विनाश से विचारहीन प्रवृत्ति हुई। हमारा सोचने–समझने का विवेक समाप्त हो गया। हमारा प्रयत्न किसलिए है, किसके लिए है, इससे उद्देश्य सिद्ध होगा या नहीं, ये सारा प्रयास निष्फल है। विषय भोग के लिए उद्योग है और वे विषय भी दुर्लभ होते जा रहे हैं। यदि यह कहा जाये कि विश्व के शीर्षस्थ बुद्धिजीवी भी संसार के साधन में, अन्वेषण में दिन–रात एक कर रहे हैं तो अतिशयोक्ति नहीं है। शरीर की दुर्बलता से रोगों की वृद्धि, आयु का ह्रास तथा अनेक कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि हो गयी। आज का संचय प्रायः अन्यायपूर्ण है, स्वरूपतः पदार्थ विकृत हो गए हैं। शुद्ध रूप में पदार्थ को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। बुद्धि चञ्चल एवं तर्क दूषित हो गयी है। यज्ञ में जो एकरूपता तथा तितिक्षा अपेक्षित है, वह भी नहीं है। आज मनुष्य ने भौतिक उन्नति की है। ऋषि–मुनियों ने भौतिक यन्त्रवृद्धि को सर्वथा हेय दृष्टि से देखा है। इससे बहिर्मुख वृत्ति बढ़ती है। विषयेच्छा को बल मिलता है।

आज भी पदार्थ पहले मन में आता है और पीछे व्यक्त होता है। परन्तु संकल्प इतना हीनवीर्य हो गया है कि वह बिना मूर्त (पदार्थ) के मूर्त को व्यक्त नहीं कर पाता। इसीलिए अविष्कारों एवं यन्त्रों की आवश्यकता होती है। महर्षि कर्दम ने संकल्प से ही समस्त ऐश्वर्य प्रकट कर लिया था। यज्ञादि सूक्ष्म साधनों से अभीष्ट प्राप्त हो जाता था। सात्त्विक या राजस साधनों से ही उद्देश्य पूर्ण होता था।

कलियुग के अन्त में तमोगुण इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि सचराचर प्राणि–जगत् जड़मय हो जाता है। आकृतियाँ क्षीण होते–होते नष्ट हो जाती हैं। ऐसी कल्पना की है कि उस समय सत्युग के दिव्य–देहधारी अवशिष्ट कुलपुरुष पुनः सृष्टि–विस्तार करते हैं। इस प्रकार फिर आदियुग प्रारम्भ होता है। विश्व नवजीवन प्राप्त करता है। इसी क्रम से यह युगचक्र चलता रहता है।

# पञ्चम् अध्याय

# त्याग और तपस्या की मूर्ति

**'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'**

अर्थात् कर्म से नहीं, प्रजा से नहीं, त्याग से कोई–कोई अमृतत्व प्राप्त होते हैं।

'त्याग' का सांगोपांग विचार जितना भारतीय संस्कृति में हुआ है उतना किसी अन्य सामाजिक व्यवस्था में नहीं। मनुष्य में दो सहज प्रवृत्तियाँ हैं – एक भोग की और दूसरी त्याग की। यदि यह कहा जाए कि जीवन की चरितार्थता इन दो वृत्तियों का योग समन्वय करने में है तो अनुचित न होगा। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि उसने त्याग का वास्तविक मूल्य जानकर मनुष्यों से त्याग का आचरण कराने के लिए एक ऐसी अपूर्व सामाजिक पद्धति चला दी है कि उसका अनुकरण कर पृथ्वी के सभी मनुष्य लाभान्वित हो सकते हैं। अपने सीमित ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर यह कहने का साहस अवश्य किया जा सकता है कि मानव जीवन को केन्द्र मानकर जितनी भी सामाजिक व्यवस्थाओं की रचना या कल्पना की गयी है, उनमें त्याग और भोग का ऐसा समन्वय नहीं किया जा सका जैसा कि हिन्दू–जीवन और हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में किया गया है। प्राणिमात्र के सम्मुख त्याग और भोग के समन्वय का उच्चतम आदर्श उपस्थित करते हैं। अवतारी महापुरुषों के जीवन में यह आदर्श इसलिए पूर्णता की चरम सीमा को पहुँचा हुआ मिलता है कि उनमें ईश्वरीय अंश की मात्रा सर्वाधिक किंवा पूर्णता को लिए हुए होती है। श्रीकृष्ण की लीला इस दृष्टि से कितना ऊँचा आदर्श उपस्थित करती हैं। भोग, वासना या कामना का यत्किञ्चित गन्ध भी नहीं है। त्यागमय जीवन पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ कितना ऊँचा, कितना पवित्र, कितना महान्, यह एक ही उदाहरण है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने किष्किन्धा और लंका को जीतकर अपने अधीन नहीं किया। अपना कोई शासक भी नियुक्त नहीं किया। वहाँ के निवासियों को ही वहाँ का शासन सौंप देना उस रामराज्य का एक चिह्न था जिसकी नींव भोग पर न डालकर त्याग

पर डाली गयी थी। राजा जनक को विदेह कहा गया है उसका मर्म भी यही था कि राजा जनक जनकपुरी के राज्य के मालिक होते हुए भी उसका उपभोग किसी वासना प्रधान भावना से नहीं करते थे। वे राजा होते हुए भी 'भोक्ता' नहीं थे। त्याग भाव से राज्य का सञ्चालन, नियन्त्रण एवं संरक्षण उसी आदर्श के तो अनुरूप था जिस त्याग–भाव से राज्य का सञ्चालन, नियन्त्रण एवं संरक्षण होना चाहिए। यह साधना साधारण नहीं है। कमल का पत्ता निर्जीव, वासनारहित और कामनाशून्य होने से जल में रहता हुआ भी उससे स्निग्ध नहीं होता उसी प्रकार मानव के लिए संसार में रहकर अलिप्त रहना तभी सम्भव है, जबकि वह भोग के साथ त्याग का समन्वय करके भोग को त्याग के अधीन रख सकता है। भर्तृहरि का कहना कितना सत्य है –

**विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना–**
**स्तोऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।**
**शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा–**
**स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्।।**

विश्वामित्र तथा पराशर–सरीखे महामुनि भी तो केवल पानी, पत्तों तथा हवा पर निर्भर थे, जब कमल के समान सुन्दर स्त्री–मुख को देखते ही मोह में फँस गये, तब जो लोग, दूध, घी से मिले हुए चावल का सेवन करते हैं, उन लोगों का यदि इन्द्रिय संयम हो जाए तो यह मानना चाहिए कि विन्ध्य पर्वत भी सागर में तैर सकता है। इस स्थिति से मानव का उद्धार करने के लिए ही तो त्याग और भोग का हमारी संस्कृति में किया गया है।

इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा ने मानव के सामने अपने व्यवहार से जो परम पुनीत आदर्श उपस्थित किया और अवतारी तथा सिद्ध महापुरुषों के जीवन से जिसका उच्चतम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया उसका उपदेश भी उसने अपनी वाणी 'वेद' के रूप में दे दिया। यजुर्वेद में कहा है –

**ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**
**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।**

'इस दृश्य जगत में जो कुछ भी है, वह सब ईश, भगवान्, परब्रह्म परमात्मा से ओतप्रोत है। उस संसार का भोग त्यागभाव से ही करो। कभी किसी का धन मत छीनो।' त्याग का सुन्दर उपदेश है और पर्यावरण को संरक्षित रखने का आदेश है। मानव का आचरण कैसा भी पतित क्यों न हो जाय, फिर भी

सत्य की निष्ठा, सत्य के आचरण और सत्य के व्यवहार का महत्त्व भी कम होना सम्भव नहीं है। त्याग और भोग के समन्वय की आधारशिला पर ही भारतीय जीवन की प्राचीनतम किंवा सर्वप्रथम मर्यादा अथवा व्यवस्था की रचना की गयी थी। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** ही उसका मूल मन्त्र था। इस मूलमन्त्र को सामने रखकर मानव के व्यक्तिगत जीवन की आश्रम व्यवस्था का निर्माण किया गया। आश्रम–व्यवस्था में मानव के जीवन को चार भ.गों में बाँटकर अभ्युदय के उत्कर्ष पर पहुँचने के लिए चार सीढ़ियाँ बना दी गयी थीं। आयु की न्यूनतम अवधि सौ वर्ष मानकर पहले भाग को ब्रह्मचर्य, दूसरे को गृहस्थ, तीसरे को वानप्रस्थ और चौथे को संन्यास नाम देकर चारों के लिये पच्चीस–पच्चीस वर्ष की अवधि नियत की गयी थी।

ब्रह्मचारी में शिक्षा प्राप्त करने के लिए अहङ्कार न हो इसके लिए ब्रह्मचारी को गुरु के चरणों में आत्मसमर्पण करके, आश्रम में जीवन बिताने और भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने के लिए कहा गया। राजघराने के बालकों तक के लिए यही व्यवस्था थी। महाभारत के समय इस व्यवस्था में विकार पैदा हो गया। शिष्य गुरु के पास न जाकर गुरु का शिष्यों के पास आना आवश्यक हो गया। गुरु के चरणों में आत्मत्याग करने वाला विद्यार्थी या ब्रह्मचारी कभी अभिमान या अहङ्कार के वशीभूत नहीं हो सकता। गृहस्थ को सब आश्रमों का वैसे ही आधार बताया गया है जैसे वायु सब प्राणियों का आधार है। मनु महाराज ने कहा है –

**यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।**
**तथा गृहस्थसमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।।**

**(मनुस्मृति ३–७७)**

**यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।**
**तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।**

इसलिए यह भी कहा है –

**यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।**
**गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।।**

दान तथा अन्न से तीनों आश्रमों के पालन का भार गृहस्थी पर डालकर उसको अनुभव कराया गया है कि जैसे नदी स्वयं अपना जल नहीं पीती और प्राणिमात्र के लिए उसका तट खुला रहता है वैसे ही उसको भी अपने उपार्जित धन का उपभोग स्वयं नहीं करना है और अपने घर का द्वार सदा ही खुला रखकर

भिक्षा के लिए आने वाले ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी का पालन करना है। त्यागमयी भावना से गृहस्थ को उस प्रकार ओतप्रोत कर दिया गया है। गृहस्थाश्रम में गृहस्थ धर्म की अनुज्ञा से प्राप्त भोग भोगे, पर भोगासक्त न रहे। **धन्यो गृहस्थाश्रमः** कहकर उसका महत्त्व गाया गया है। पर गृहस्थ को इस आश्रम से प्राप्त करना है, 'वैराग्य का अचल पद' यह बात वह न भूले।

जीव को परमार्थ–पथ पर चलना है, यह सही है। पर इसके साथ हमारे धर्म की यह शिक्षा है कि वह इस पथ पर चलते हुए दूसरे का भी कल्याण–साधन करे। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है कि गङ्गा जी समुद्र से मिलने चलती है, पर रास्ते में पापियों के पापों को नष्ट करती है, तटवर्ती वृक्षों को सींचती है, इस तरह बहता गङ्गा जल समुद्र में जा मिलता है। इसी प्रकार मनुष्य को अन्य अनेक जीवों का कल्याण–साधन करता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त हो, यही शिक्षा है।

पहला आश्रम पूँजी एकत्रित करने के लिए है और दूसरा आश्रम उसी पूँजी को समाज सेवा में लगाने के लिए है। गृहस्थाश्रम में भोग विधेय है पर उसके साथ बहुत बड़ा त्याग करने को भी कहा गया है। कुटुम्ब का पालन करना, समाज को धारण करना इत्यादि गृहस्थाश्रम के ही मुख्य कर्तव्य हैं। इस प्रकार भोग से वासनाओं का क्षय होने पर ही वह वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करने का अधिकारी होता है। वानप्रस्थी और संन्यासी का जीवन तो है ही त्यागमय। यहाँ तक कि संन्यासी को संसार के समस्त सम्मान का अधिकारी बनाकर भी उसको मान–सम्मान से सदा दूर रहने को ही कहा है। इसके लिए कहा गया है –

**असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तु तपःक्षयः।**

असम्मान से उसके तप की वृद्धि होती है और सम्मान से तप का नाश।

गीता में दी गयी उस व्यवस्था का उल्लेख करना आवश्यक है जिसमें यह कहा गया है कि काम करते हुए भी उससे अलिप्त कैसे रहा जा सकता है–

**योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।**
**सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।**

**(गीता, ५–७)**

अर्थात् जिसने अपने को योगमय कर लिया है, जिसने आत्मशुद्धि कर ली है, जिसने आत्मनियन्त्रण करके इन्द्रियों पर भी काबू पा लिया है, जिसने अपने को सबके साथ तन्मय कर लिया है वह कर्म करते हुए भी उससे लिप्त नहीं होता।

आगे तो यहाँ तक कहा है कि 'सब कर्मों को ब्रह्म के अर्पणकर और उनमें आसक्ति न रखकर जो कर्म करता है, वह वैसे ही पाप से लिप्त नहीं होता, जैसे कि पानी में रहने पर भी कमल के पत्ते उससे गीले नहीं होते।' वेद में भी कहा है –

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**
**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।**

अर्थात् सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखते हुए भी जो कर्म करता रहता है, उसमें अन्यथा बुद्धि, नास्तिक बुद्धि अथवा निराशा की भावना पैदा नहीं होती और वह कर्मों में लिप्त भी नहीं होता। त्याग और भोग के समन्वय से पैदा होने वाली यह स्थिति कितनी ऊँची, पवित्र और महान् है। याज्ञिक कर्मकाण्ड में **'इदं अग्नये – इदं न मम'** आदि में **'इदं न मम'** अर्थात् यह मेरा नहीं है, की भावना को बार–बार प्रकट किया जाता है। गीता के सारभूत इस कथन का भी आशय यही है –

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
**मा कर्म फलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्माणि।।**

वैदिक धर्म की आश्रम व्यवस्था निर्माण करने वाले ऋषियों को आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्त जानने का कोई अवसर मिलना सम्भव ही नहीं था। तथा जो समाज व्यवस्था उन्होंने निर्मित की वह मानव–मनोविज्ञान का गम्भीर अध्ययन कर आज के मनोवैज्ञानिकों ने जो सिद्धान्त निकाले हैं, उनकी कसौटी पर ठीक ही जँचती है।

प्रकृति में जैसे रात–दिन का समन्वय है, ठीक उसी प्रकार हमारी संस्कृति के अनुसार हमारे जीवन और हमारी समाज व्यवस्था से त्याग और भोग का समन्वय भी प्रायः स्वाभाविक रूप से ही किया गया था।

स्पष्ट है कि हिन्दू संस्कृति में नारी के महनीय स्वरूप की पहचान कराने के लिए अपनी संस्कृति के स्वरूप को जानना आवश्यक है। अतैव हमने संस्कृति में त्याग और भोग की चर्चा की है। हमारी सभ्यता और संस्कृति के दो पीठ हैं – त्याग और तपस्या। जैसा कि पीछे चर्चा की गई है कि हमारे ऋषि–मुनियों ने उद्घोष किया है – **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।'**

भारतीय नारी ने इसी मूल मन्त्र को अपने जीवन का आधार बनाया। हमारा प्रतिदिन बलिवैश्यदेवकर्म इसी त्यागवृत्ति का दैनन्दिन आचरण है। हमारा

अद्वैत वेदान्त सच्चा साम्यवादी धर्म है जो जगत् के प्राणीमात्र को अपना बल ही नहीं प्रत्युत् अपना रूप समझता है। अत: त्याग हमारी संस्कृति का आधारपीठ है और जिसमें मनुष्य अपने कालुष्य को जलाकर पवित्र तथा विशुद्ध बना लेता है। तपस्या के बिना त्याग की भावना कथमपि जागृत नहीं हो सकती। अत: भारतीय संस्कृति त्याग तथा तपस्या के ताने–बाने से बुनी हुई एक विचित्र शाटी है जिसका रंग शताब्दियों के काले धब्बे पड़ने पर आज भी उसी प्रकार नेत्र रञ्जक तथा चटकीला है और इस सभ्यता और संस्कृति की प्रतीक है – भारतीय नारी।

नारी त्याग और तपस्या की जाज्वल्यमान विभूति है। इन दोनों तत्त्वों के समन्वय से हमारी आर्य नारी का स्वरूप संगठित हुआ है। नारी जीवन का मूल मन्त्र है – त्याग और इस मन्त्र को सिद्ध करने की क्षमता उसे प्रदान की है तपस्या ने। हम ठीक–ठीक नहीं कह सकते कि उसके जीवन के किस अंश में इन महनीय तत्त्वों के विलास का दर्शन हमें नहीं मिलता है, परन्तु यदि हम उसके पूर्व–जीवन को 'तपस्या' का काल तथा उत्तर जीवन को 'त्याग' का काल माने तो इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं होगी। नारी के तीन रूप हमें दीख पड़ते हैं– कन्यारूप, भार्यारूप तथा मातृरूप। कौमारकाल नारी–जीवन की साधनावस्था है और उत्तरकाल उस जीवन की सिद्धावस्था है। हमारी संस्कृति के उपासक संस्कृत कवियों ने नारी की इन अवस्थाओं का चित्रण बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया है।

## कन्या रूप

हमारी जन्मभूमि भारत के आदि–मध्यावसान में परमब्रह्म स्वयं नारी रूप से अवस्थित हैं। भगवती श्रुति कहती है – **'त्वं कुमार उत वा कुमारी'**। यह भारतभूमि के सम्बन्ध में स्वरूप–सिद्ध स्थिति है। उत्तर में हैमवती, मध्य में विन्ध्यवासिनी और दक्षिण में समुद्र तट पर यही श्रीपराशक्ति कौमारावस्था में विराजमान कन्याकुमारी से अभिहित होती है।

यह कहना उचित नहीं है कि भारतीय गृहस्थ घर में कन्या का जन्म नहीं चाहता, जब तक वैदिक साहित्य का यह वचन जागरूक है –

**अथ य इच्छेदुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियात्।**

**(बृहदारण्यक ६.४.१७)**

तब तक किसी भारतीय को कन्या जन्म सुनकर दु:खित नहीं होना चाहिए। यह तो वर्तमान की नासमझी और अभिशाप है कि घर में नवजात कन्या

शत्रुवत प्रतीत होती है। वैदिक सभ्यता जब विकास पर थी, तब यहाँ के लोग इच्छानुसार पुत्र–पुत्री प्राप्त कर सकते थे। उदाहरण के लिए सन्तान अभिलाषी वैवस्वत मनु महाराज की पत्नी में पुत्रेष्टि यज्ञ के अवसर पर होता कन्या के लिए याचना की थी –

**तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत।**
**दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता।।**
**(श्रीमद्भागवत् ९–१–१४)**

इला इसी यज्ञ का प्रसाद थी।

नारी का सर्वप्रथम रूप वह है जब कि वह नवजात पुत्री के लिए भूमिष्ठ होती है। आदर्श घरों में वह माता–पिता के पुत्रनिर्विशेष वात्सल्य को प्राप्त करके बड़ी होती है। अपने शैशव और बाल–सुलभ क्रीड़ाओं से वह परिवार के आमोद–प्रमोद में उतनी ही सहायक होती है जितनी उसके अग्रज और अनुज। कुछ और बड़ी होने पर जब वह खेलने लगती है तब चतुर माता उसको घर में खेल द्वारा अनायास ही गृहनिर्माण की कला और गृह व्यवस्था की शिक्षा देती है। भाई–बहनों के साथ प्रेमपूर्वक सम्भाषण और व्यवहार सिखाती है –

**मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसामुत स्वसा। (अथर्ववेद ३.३०.३)**

अथर्ववेदीय ऋषि कहता है कि बहिन से दुर्व्यवहार करना भाई के लिए पाप है –

**पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।**

वैसे तो वेदों के सूक्त भी पुत्रों के लिए हैं, परन्तु फिर भी कहीं–कहीं पुत्री के लिए भी वैदिक ऋषियों ने कुछ कहा है। यदि शिक्षा के क्षेत्र में बात करें तो सूक्त है कि सूर्यदेव ने अपनी पुत्री उषा को ज्ञान देकर तेजस्वी बनाया –

**स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं धात्। (ऋग्वेद १.७१.५)**

जब तक शरीर में कैशोर के लक्षणों का उदय नहीं होता, उसकी माता उसके परिधान की ओर विशेष ध्यान नहीं देती। ऐसी अवस्था वाली बालिका का पारिभाषिक नाम 'नग्निका' है – **नग्निकाऽनागतार्त्तवा** (अमरकोश २.६.८)।

नारी की विविध रूपों में कल्पना की गयी है। वह जगदम्बिका है, जगज्जननी है, सृष्टि–स्थिति तथा प्रलयङ्कारी है। जब वह पुत्री बनकर आती है तो दो कुलों को गौरवान्वित करती है। वनवास में जगज्जननी सीता को देखकर राजा जनक कहते हैं –

## पुत्री पवित्र किए कुल दोऔ

अपनी सहज सरलता के कारण दो अपरिचित कुलों को एक सम्बन्ध से बाँध देती है। जब वह भगिनी रूप में लजाती हुई बन्धु के सम्मुख आती है और कम्पित कर उसे राखी बाँधती है तो हृदय में एक नवजीवन का संचार कर देती है। जब वह नर के सम्मुख नारी रूप में आती है तब वह नर के आधे रूप को पूर्ण करने में अर्धाङ्गनी के वेश में आती है, तो वह घनीभूत सरलता के रूप में अवतरित होती है। सीता के चरित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी स्त्री अपने लक्ष्य तक तभी पहुँच सकती है जब उसे कन्या रूप में यथोचित स्नेह मिला हो। उसका लालन–पालन भी पुत्रवत् हुआ हो। जब उसे ऐसा पति मिले जो यथार्थ में उसे अपना आधा अङ्ग समझे। ऐसी सास मिले जो अपनी कन्या से भी अधिक प्यार करे। जब उसे ऐसे पुत्र मिलें, जो उसका गर्व करें। यदि आज सीता का आदर्श रूप हमारे समक्ष है तो श्रेय जाता है महाराज जनक के पिता होने का। सीता को पाकर उन्होंने अपने को धन्य माना था। सीता के जन्म के समय उन्होंने अपार हर्ष प्रकट किया था। जिस समय सीता को गोद में उठाया था, उन्होंने अनुभव किया था कि उनके जैसा सुखी व्यक्ति संसार में दूसरा नहीं है। उनका हृदय उमंग और उत्साह से भर गया था और उनका मस्तक गर्व से ऊँचा उठ गया था। उसी क्षण वे इस प्रयत्न में लग गये थे कि सीता आदर्श नारी बने और उन्हें सफलता मिली।

प्राचीन काल में कन्या का लालन–पालन पुत्र के ही समान होता था। इसके काफी प्रमाण मिलते हैं। सीता की चर्चा तो कर ही चुके हैं। पार्वती, सावित्री, दमयन्ती, द्रौपदी भी इसके उदाहरण है। जिन राजघरानों में इनका जन्म हुआ, उनमें पुत्र जन्म भी हुए होंगे। पर इनके लालन–पालन पर इतना अधिक जोर दिया था कि इतिहास इन देवियों के इर्द–गिर्द ही केन्द्रित रहा।

दमयन्ती तो इतनी सुन्दर और सुयोग्य थी कि उनके स्वयंवर में देवता मनुष्य का रूप धारण करके आए थे कि उन्हीं में से किसी को वर ले। सावित्री का इतना दुलार था कि उसे छूट दी गयी कि वह अखिल विश्व का भ्रमण कर अपने मन का वर चुन ले। पार्वती और द्रौपदी का भी लालन–पालन और विवाह धूमधाम से किया गया।

यद्यपि कन्या किसी को दी जाती है तो इस दृष्टि से देने वाले का स्थान ऊँचा होना चाहिए। परन्तु समाज में कन्या–पक्ष को वर–पक्ष से नीचा माना गया

है। वाल्मीकि रामायण में भी महर्षि वाल्मीकि ने इस व्यावहारिक पक्ष को इंगित किया है –

**सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात्।**
**प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि।।**
**(वाल्मीकि रामायण २–११८–३५)**

अर्थात् वरपक्ष समकक्ष हो या उनसे हीन, कन्या के पिता को वर–पक्ष से प्राय: अपमानित होना पड़ता है, फिर चाहे वह पृथ्वी पर इन्द्र के समकक्ष भी क्यों न हो?

कन्या के विवाह के विषय में विचार करते समय मनु जी कहते हैं – 'यदि कन्या की अवस्था विवाह योग्य पूरी न हुई हो, कुछ–कुछ कमी रह गयी हो तो भी यदि कोई उत्तम कुलीन–सुन्दर, सजातीय और गुणवान् वर मिल जाये तो उसके साथ कन्या का विवाह कर देना चाहिए' (मनुस्मृति ९.८८–८९)। कन्या के लिए योग्य वर का विवाह अनुसन्धान करने में कितनी कठिनाई होती है, इसे भुक्तभोगी जानते हैं। मनु जी आगे लिखते हैं – 'कन्या ऋतुमती हो जाये और जीवन भर पिता के घर में रह जाये तो भी गुणहीन वर से उनका विवाह कदापि न करे।' अभिभावक के द्वारा विवाह की उपेक्षा होने पर यदि कन्या स्वयं अपना पति चुन ले तो उसे कोई पाप नहीं होगा और उसके साथ विवाह करने वाला पुरुष भी दोष का भागी नहीं हो सकता' (मनु ९.९०–९१)। इस प्रकार आर्य धर्मग्रन्थों में एक सीमा तक नारी को विवाह की स्वतन्त्रता दी गयी है।

मनु जी ने कन्या के विक्रय का भी विरोध किया है। वे कहते हैं कि शूद्र भी शुल्क के रूप में कुछ लेकर या रुपये–पैसे लेकर अपनी कन्या का दान न करे, क्योंकि यदि कन्या का पिता धन लेता है तो वह अपनी कन्या को गाय–भैंसों की तरह बेचता है। किसी एक वर को कन्या का वादा करके दूसरे के साथ उसका विवाह करना भी निन्दनीय माना है।

कन्या के रूप में नारी का चित्रण हमें कालिदास की कविता में उपलब्ध होता है। कालिदास आर्य–संस्कृति के प्रतिनिधि ठहरे। उन्होंने आर्यकन्या के आदर्श को 'पार्वती' के रूप में अभिव्यक्त किया है। आर्यकन्या के अदम्य, अजेय तथा जितेन्द्रिय बनाने का मुख्य साधन 'तपस्या' है। कुमारसम्भव में इसके महत्त्व को बड़े ही भव्य शब्दों में प्रकट किया है। शिवजी के द्वारा मदन–दहन के अनन्तर भग्नमनोरथा पार्वती जगत् की समग्र आशाएँ छोड़कर तपस्या की

साधना में जुट गयी। उसकी तपस्या इतनी कठोर थी कि शरीर से उपार्जित मुनियों की तपस्या उसके सामने नितान्त प्रभाहीन तथा प्रभावहीन प्रतीत होती है। प्रकृति के नाना प्रकार के कष्टों को झेलकर अन्तत: वह अपनी कामनासिद्धि में सफल होती है। उसका मनोरथ तक फलसम्पन्न होता है। कालिदास ने पार्वती के तप का रहस्य विशेषरूप से प्रकट किया है –

**इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन:।**
**अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेमपतिश्च तादृश:।।**
**(कुमारसम्भव ५.२)**

पार्वती की तपस्या का फल था – तथाविध प्रेम उच्च कोटि का अलौकिक प्रेम और तादृश पति, उस प्रकार का मृत्यु को जीतने वाला पति। जगत् के समस्त पति मृत्यु के क्रीत दास हैं। एक ही व्यक्ति मृत्यु को जीतने वाला है और वह है मृत्युञ्जय महादेव। मृत्यु को जीतने की क्षमता एक में ही है, और वह व्यक्ति है देवों में महान् देव अर्थात् महादेव। आज तक कोई भी कन्या मृत्युञ्जय को पति वरण करने में समर्थ नहीं हुई और इस युगल जोड़ी का प्रेम भी कितना उत्कट, कितना अलौकिक है? कालिदास ने 'तथा विधं' शब्द के भीतर गम्भीर अर्थ की अभिव्यञ्जना की है, शङ्कर ने पार्वती को अपने मस्तक पर स्थान दिया है। पत्नी को इतना उच्च स्थान प्रदान करना आदर की पराकाष्ठा है। गौरी की यह साधना भारतीय कन्याओं के अनुकरणीय वस्तु है। हमारी कन्याओं के समक्ष 'पार्वती' महान् आदर्श है। भारतीय समाज में 'गौरीपूजन का रहस्य' इस महती तप साधना के भीतर अन्तर्निहित है।

वैदिक काल में कन्या आजन्म ब्रह्मचारिणी रह सकती थी। पर रामायण काल में कन्या का विवाह अनिवार्य हो गया था। अत: 'कन्यापितृत्व' सभी मानकांक्षी लोगों के लिए दु:खदायक था, क्योंकि कन्या का वरण कौन करेगा, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। माता–पिता अपनी कन्या की बढ़ती हुई आयु देखकर चिन्तित हो जाते थे, क्योंकि उन्हें यह आशङ्का थी कि वरगण उसे कहीं अस्वीकार न कर दें। जब सीता की अवस्था विवाह के योग्य हुई तब उनके पिता जनक उसी प्रकार चिन्ताग्रस्त हो गए, जिस प्रकार एक निर्धन व्यक्ति अपनी स्वल्प सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर, क्योंकि कन्या के पिता को चाहे वह इन्द्र का समकक्ष ही क्यों न हो, समान और निम्न श्रेणी वाले लोगों को अनादर ही प्राप्त होता हैं

उपर्युक्त कथनों का यह आशय नहीं कि कन्याओं से द्वेष, द्रोह या घृणा

की जाती हो। जन्मजात कन्याओं का मार डालने या उनके परित्याग का रामायण में उल्लेख कहीं नहीं मिलता। कन्या के जन्म का परिवार में स्वागत नहीं होता था, यह कथन भी उचित नहीं। कन्या अपने पिता की 'दयिता' थी। नि:सन्तान यक्ष सुकेतु को ताटका नामक कन्यारत्न दीर्घ तपस्या के पश्चात् प्राप्त हुई थी। इस पर भी यदि 'कन्यापितृत्व' चिन्ता का विषय होता था तो इसका कारण था– कन्या के भावी जीवन को सुखी बनाने की उत्कट लालसा। राजा जनक ने सीता के विवाहार्थ विशाल स्वयंवर का आयोजन क्यों किया तथा अनेक राजाओं से शत्रुता क्यों मोल ली? केवल इसीलिए कि उनकी पुत्री को संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर पति रूप में प्राप्त हो सके। अपनी कुब्जा कन्याओं के लिए अनुरूप भर्ता ढूँढने में राजा कुशनाभ ने जो विचार–विमर्श और उद्योग किया, उससे भी यही सिद्ध होता है कि कन्या परिवार में उपेक्षा का विषय नहीं थी तथा उसके विपरीत जीवन को सुखमय बनाने के लिए उसके अभिभावक पूरा प्रयत्न करते थे। यही नहीं अविवाहित कन्याओं को माङ्गलिक तथा उनकी उपस्थिति को शुभ शकुन माना जाता था। उत्सवों में कुमारी कन्याओं की उपस्थिति वाञ्छनीय थी। रामायण में वर्णन आता है कि राम के अयोध्या लौटने पर कन्याओं ने उनका स्वागत किया था। राज्याभिषेक के महोत्सव में आठ अलङ्कृत कन्याएँ नूतन राजा का अभिषेक करती थीं। युवराज के नगर प्रवेश पर द्विजातियों की कन्याएँ उनकी प्रदक्षिणा करके उन्हें फल समर्पित करती थीं।

यदि शिक्षा–दीक्षा के सम्बन्ध में चर्चा करें तो ज्ञात होता है कि कन्याओं को विवाह से पूर्व अपने घरों में समुचित शिक्षा मिल चुकी होती थी। क्योंकि सभी धार्मिक कृत्यों में अकेले या पति के साथ पूर्ण योग देना अनिवार्य था। अत: उन्हें विवाह के पहले ही वैदिक और स्मार्त क्रियाकलापों की तथा उनमें प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों की शिक्षा दे दी जाती थी। राम के वन जाने के समय कौशल्या अग्नि में मन्त्रों सहित आहुति दे रही थी। महारानी कैकेयी ने अपने पिता के घर में ही अस्त्र–शस्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी। इसी कारण विवाह पश्चात् देवासुर संग्राम में महाराज दशरथ के साथ कैकेयी भी गयी थीं और उनकी सहायता की थी। लङ्का में हनुमान ने एक स्वच्छ जल वाली नदी देखकर सोचा कि सीता अपना सायंकालिक कृत्य करने के लिए यहाँ अवश्य आएँगी। वानर स्त्रियों में भी वैदिक क्रियाकलाप का ज्ञान परिलक्षित था। बाली की पत्नी तारा को मन्त्रवित् कहा गया है। जब बाली सुग्रीव से लड़ने गया तो तारा ने अपने पति की

विजय–कामना से स्वस्ययन किया था। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि स्त्रियों को वैदिक कर्मकाण्ड की शिक्षा दी जाती थी।

कन्याओं को व्यावहारिक और नैतिक शिक्षा भी दी जाती थी। राजा कुशनाभ अपनी पुत्रियों को क्षमा का आदर्श उपदेश देते हैं। राजकुमारियों को राजधर्म की भी शिक्षा दी जाती थी। युवराज–पत्नी होने के नाते सीता राजधर्म में परिनिष्ठित थीं। क्षात्रधर्म का उन्हें पूर्णतया बोध था। उनका पौराणिक ज्ञान पर्याप्त था। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से वह सुपरिचित थी। कुशनाभ की कन्याएँ नृत्य–गान में कुशल थी। स्त्री–तपस्विनी हेमप्रभा की सखी हेमा 'नृत्यगीतविशारदा' थी।

कन्याओं को पति–वरण में स्वतन्त्रता नहीं थी। इस कार्य के लिए वे 'पितृवशा' थीं। स्वयंवर का उल्लेख होने पर भी वह स्वेच्छासम्मत नहीं था। जब वायु ने कुशनाभ की कन्याओं से विवाह का प्रस्ताव किया तो उन्होंने कहा कि हमारे पति वहीं होंगे, जिन्हें पिता अर्पित करेंगे। कामोन्मत्त राजा दण्ड को भार्गव कन्या अरजा ने कहा कि 'मैं कुमारिका हूँ और अपने पिता के सर्वथा अधीन हूँ। मेरे पिता से आप मेरी याचना करें। आपकी प्रार्थना पर वे मुझे आपको दान कर देंगे, ऐसी दशा में सम्भ्रान्त आर्य परिवारों में प्रणय–विवाहों या गन्धर्व–विवाहों के लिए अनुकूल वातावरण नहीं था।

भारतीय संस्कृति में कन्या–पूजन का विधान है। नवरात्र में जब दुर्गा की उपासना की जाती है, उस समय कन्या की पूजन से ही हमारी पूजा की सार्थकता है। 'दुर्गासप्तशती' और श्रीमद्देवीभागवत में 'कन्यापूजन' का उल्लेख है।

अतः कहा जा सकता है कि हिन्दू शास्त्रों में नारी के कन्या रूप, मातृत्वरूप और गृहिणी पातिव्रत्य के रूप में पूजा की गयी है। वह कन्या, भगिनि, माता तथा धर्मपत्नी के रूप में सम्मानीय है। वह पवित्रता, सरसता, आकर्षण और मधुरिमा की मूर्ति है। घर में कन्या के जन्म में हमारा कर्तव्य है कि सीता, सावित्री, पार्वती, दमयन्ती सरीखी आदर्श देवियों का स्मरण करें, हर्षोत्सव मनाएँ और उन्हें सुयोग्य नारी बनाएँ। यदि हमने इतना कर लिया तो समाज में हमें सीता–सावित्री के पुनः दर्शन हो सकते हैं।

## पत्नी रूप

भारतीय समाज में नारी एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है।

आर्यपुरुष ने सदा ही उसे अपनी अर्धाङ्गिनी माना है। इतना ही नहीं व्यवहार में पुरुष–मर्यादा से नारी मार्यादा सदा ही उत्कृष्ट मानी गयी हैं। भारतीय संस्कृति इस भावना से परिपूर्ण है –

**यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**
**यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रियाः।।**

आर्य संस्कृति में नारी समाज के प्रति यह केवल शाब्दिक सद्भावना का प्रदर्शन ही नहीं है। भारतीय गृहस्थ जीवन में पदे–पदे इसकी व्यावहारिकता सिद्ध होती है। स्कन्द पुराण में पतिव्रता स्त्री के लिए कहा है कि संसार में वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है तथा वह भाग्यवान् पति धन्य है, जिसके घर में पतिव्रता स्त्री विराजती है। पतिव्रता स्त्री के पुण्य से उसके पिता, माता और पति – इन तीनों के कुलों की तीन–तीन पीढ़ियाँ स्वर्गलोक में जाकर सुख भोगती हैं। पतिव्रता का चरण जहाँ–जहाँ धरती का स्पर्श करता है, वह स्थान तीर्थभूमि की भाँति मान्य है। वहाँ भूमि पर कोई भार नहीं रहता, वह स्थान परम पावन हो जाता है। गृहस्थ का मूल भार्या है, सुख का मूलकारण भार्या है, धर्मफल की प्राप्ति तथा संतान की वृद्धि का भी भार्या ही कारण है। जैसे गङ्गा में स्नान करने से शरीर पवित्र होता है, उसी प्रकार पतिव्रता का दर्शन करके सम्पूर्ण गृह पवित्र हो जाता है –

**धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः।**
**धन्याः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता।**
**पितृवंश्या मातृवंश्याः पतिवंश्यास्त्रयस्त्रयः।**
**पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुञ्जते।**
**पतिव्रतायाश्चरणो यत्र यत्र स्पृशेद् भुवम्।**
**सा तीर्थभूमिर्मान्येति नात्र भारोऽस्ति पावनः।**
**भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च।**
**भार्या धर्मफलायैव भार्या संतानवृद्धये।**
**यथा गङ्गावगाहेन शरीरं पावनं भवेत्।**
**तथा पतिव्रतां दृष्ट्वा सदनं पावनं भवेत्।।**

**(स्कन्द, ब्रह्मखण्ड, अ.७)**

सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया, आधे से वे पुरुष, आधे से नारी हो गये। वाम भाग से स्त्री और दक्षिण भाग से पुरुष हुए–

**स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह।**
**स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः।।**

धर्मप्राण भारत में वेद, पुराण, स्मृति, इतिहास तथा प्राचीन संस्कृति और सद्धेतुसंवलित तर्कों के द्वारा तथा प्राकृतिक विज्ञान से भी स्त्रियों को पुरुष की अर्धाङ्गिनी माना गया है। सभी गृहस्थों के घर में स्त्रियाँ लक्ष्मी समझी जाती हैं। जिस घर में स्त्रियाँ नहीं रहती है, वह घर जंगल कहा जाता है –

**न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।**

नारी सृष्टि की उत्पादिका–प्रतिपालिका है और कष्ट में सान्त्वना देने वाली है और कण्टकाकीर्ण मार्ग को सुगम बनाने का एकमात्र साधन भी वही है। वह दाम्पत्य–स्नेह, सुख की सरिता का उद्‌गम है। जन्मान्तर का सम्बन्ध पाणि (हाथ) की पवित्रता, नारी का तपोमय स्वरूप, कन्यादान की श्रेष्ठता, स्त्री को प्रसन्न रखने का यत्न, जाया–पद तथा दम्पत्ति की एकरूपता – ये सात भाव सर्वोच्च आदिम आर्य–संस्कृति के अन्तर्गत हैं जो मानव–जीवन की पूर्णता और दाम्पत्य–प्रेम की पवित्रता के द्योतक हैं –

**जन्मान्तरीयसम्बन्धस्तथा पाणिपवित्रता।**
**तपःप्रधाना नार्यश्च कन्यादानस्य श्रेष्ठता।।**
**स्त्रियः प्रसादाय कृतिः जायात्वमेकरूपता।।**

हमारी प्राचीन हिन्दू–संस्कृति में गृहस्थ–जीवन को एक यज्ञ का स्वरूप दिया गया था और उस यज्ञ में स्त्री अर्धाङ्गिनी के रूप में पुरुष को सहयोग प्रदान करती थी, जिसका अत्यन्त सौम्य रूप हमें कवि–कुलगुरु महाकवि कालिदास के शब्दों में मिलता है –

**विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।**
**अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्।।**

**(रघुवंश १–५६)**

निर्गत वनस्थली में ऋषिराज वसिष्ठ अपनी भार्या अरुन्धती के साथ सायंकाल की होम–क्रिया सम्पन्न कर रहे हैं। नारी–शिक्षा का कैसा देदीप्यमान उदाहरण है। अशिक्षित नारी क्या इस प्रकार सहयोग प्रदान करने में समर्थ हो सकती थी? यह यज्ञ का स्थूल स्वरूप था। परन्तु इसी यज्ञ की भावना जब अन्तर्मुखी हो जाती है, तब नारी का समस्त जीवन ही यज्ञमय होकर एक पवित्र साधना का रूप धारण कर लेता है। भगवान् श्रीराम ने यदि व्रत धारण किया था

पितृवचन–पालन का तो सती सीता ने उस यज्ञ को पूर्ण करने के लिए अनुगमन किया और अन्त में सीता वनवास भी क्या सीता के पक्ष में यज्ञ ही नहीं था? प्रजापालक राम क्या सीता की लगन–भावना के अभाव में रामराज्य का ऐसा सुन्दर चित्र समुपस्थित करने में समर्थ होते हैं? वह उनके जीवन–यज्ञ की अर्धाङ्गिनी थी। त्याग में ही उसका गौरव था और अपने प्राप्य को उसने कठिन तपस्या करके ही पाया था, राज्याधिकारियों के समक्ष फरियाद करके नहीं।

जैसे एक पहिये का रथ नहीं चल सकता और एक पँख की चिड़िया नहीं उड़ सकती वैसे ही भार्या से रहित अकेला पुरुष कोई भी कार्य नहीं कर सकते–

**एकचक्रो रथो यद्वदेकपक्षो यथा खगः।**
**अभार्योऽपि नरस्तद्वदयोग्यः सर्वकर्मसु।।**

भारत के संतों और आचार्यों ने जहाँ वैराग्य की प्राप्ति के प्रसंग में नारी–निन्दा की है, वहाँ उन्हीं संतों और आचार्यों ने स्त्री धर्म की प्रशंसा करने में भी कोई कसर नहीं रक्खी। नारी का सबसे बड़ा गुण पातिव्रत्य पालन है। पति को वह परमेश्वर के रूप में देखती है। वह एक मन और वचन से पूर्ण निष्ठा तथा भक्ति भाव से पूजा अर्चना करती है। ऐसी ही पतिव्रता स्त्रियों का संसार में आदर होता है और वे ही संसार राज्य करने की क्षमता रखती हैं और वन को भी राजप्रासादों से अधिक सुखकर बनाने में समर्थ होती हैं।

स्त्री के वास्तविक आभूषण उसके सुन्दर गुण हैं। गुणवती स्त्री दीन–हीन मनुष्य के घर को साकेत तुल्य बना देती है, जिस प्रकार पाटलप्रसून अपनी कण्टकमय डाली को रम्य कर दिखाता है, ऐसी देवी बाहरी शोभा–सुन्दरता की परख नहीं करती। उसका हृदय इतना सुन्दर होता है कि उसकी दिव्य सुन्दरता से सभी कुछ सुन्दर हो जाता है। महर्षि गर्ग का कथन है कि जिस घर में सद्गुणसम्पन्न नारी सुखपूर्वक निवास करती है, उस घर में लक्ष्मी जी निवास करती हैं। हे वत्स करोड़ों देवता भी उस घर को नहीं छोड़ते –

**यद् गृहे रमते नारी लक्ष्मीस्तद् गृहवासिनी।**
**देवताः कोटिशो वत्स न त्यजन्ति गृहं हि तत्।**

महात्मा कबीर ने भी ऐसी देवी की स्तुति की है –

**पतिव्रता मैली भली, गले काँच की पोत।**
**सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससिकी जोत।।**

मनुष्य को पृथ्वी से स्वर्ग तक पहुँचने के लिए एकमात्र साधन पतिव्रता नारी है। भारतीय स्त्रियों ने अपने पातिव्रत्य धर्म की रक्षा के लिए कितने कष्ट सहे हैं, इतिहासवेत्ता इससे अपरिचित नहीं है। यदि देखा जाए तो हमारे देश की आन–बान–शान नारी समाज ने ही रक्खी है। सोवले के शब्द नारी धर्म की उत्कृष्टता बतलाने के लिए किसी अंश तक न्यून नहीं है। वे कहते हैं 'मैं नारी का महत्त्व इसलिए नहीं मानता कि विधाता ने उसे सुन्दर बनाया है। न उससे इसलिए प्रेम करता हूँ कि वह प्रेम के लिए उत्पन्न की गयी है। मैं तो उसे इसलिए पूज्य मानता हूँ कि मनुष्यत्व केवल उसी में जीवित है। हिन्दी के कविकुलचूड़ामणि महात्मा तुलसीदास ने मानस में स्त्रियों का उल्लेख इस प्रकार किया है –

**जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत अस कहहीं।।**
**उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।।**
**मध्यम पर पति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र मित्र जैसें।।**
**धर्म बिचारि समुझि कुरु रहहीं। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहहीं।।**
**बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई।।**

नारी धर्म का निर्देश करते हुए धर्मशास्त्र कहता है कि स्त्रियों के लिए पृथक् रूप से कोई यश, व्रत या उपवास करने की आवश्यकता नहीं है, केवल पति–पारायणता के द्वारा ही वे उत्तमगति को पा सकती है –

**नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।**
**पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते।।**

धर्मशास्त्र का यह आदेश विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित है। इसमें नारी के प्रधान धर्म – पातिव्रत्य रहस्य भरा है। नारी सदा पुरुष की चेरी बनी रहे, यह भाव नहीं है। नारी जीवन को आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक त्रिविधोन्नति के पथ पर प्रतिष्ठित रखने के लक्ष्य से ही पातिव्रत्य–धर्म का विधान है। पातिव्रत्य–पालन की जो अक्षय महिमा शास्त्रों में कही गयी है, वह **'रोचनार्था फलश्रुति'** नहीं, अक्षरशः सत्य है। पातिव्रत्य के प्रभाव से नारी अन्तःकरण में सत्त्वगुण की इतनी अधिक वृद्धि हो सकती है कि **'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्'** के आधार पर उसके लिए ज्ञान की प्राप्ति तक सम्भव हो जाए। शास्त्रों का कथन है कि पातिव्रत्य की ऐसी पूर्ण निष्ठा प्राप्त कर लेने पर नारी को जीव–विकास की पूर्णता अर्थात् कैवल्यपद मोक्ष की प्राप्ति के लिए

जीव–क्रमोन्नति की स्वाभाविक कक्षाओं को क्रमशः पार करने और उसके लिए पुरुषयोनि में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। निष्ठा के अनुसार ये पातिव्रत्य धर्म पालन के आध्यात्मिक लाभ है। पातिव्रत्य के यथोचित पालन से नारी में स्वाभाविक रूप से ही सिद्धियों के रूप में दैवी शक्तियों का आविर्भाव होता है। यह पातिव्रत्य धर्म–पालन का आधिदैविक लाभ है। रामायण, महाभारत आदि भारतीय इतिहास ग्रन्थों और पुराणों में पातिव्रत्य के प्रभाव से त्रिकालदर्शिनी सिद्धि–सम्पन्ना अनेकों नारियों के उदाहरण मिलते हैं। वही भारतभूमि है और वही नारी परम्परा है। भारतीय नारी अपने सतीत्व धर्म का यथावत् पालन कर आज भी वही असाधारण दैवी शक्तियाँ प्राप्त कर सकती हैं, इसमें सन्देह नहीं। यह पातिव्रत्य के आधिभौतिक लाभ, पूर्ण सुखमय गार्हस्थ्य जीवन, उत्तम मेधावी धर्मनिष्ठ सन्तान आदि सहस्रों रूपों में स्पष्ट अनुभव किए जाते हैं।

स्पष्ट है कि प्रकृति के बिना पुरुष पंगु है। प्रारम्भ से ही शक्ति की उपासना बतायी जाती है। सावित्री की दीक्षा दी जाती है। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु– कोई क्यों न हो, जब तक उनके पूर्व उनकी शक्ति नहीं, तब तक वे अधूरे हैं, तब कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। शक्ति के बिना शिव शव है, सीता के बिना राम का कोई अस्तित्व नहीं, नटेश्वर नारी के बिना अर्धाङ्ग है, राधा के बिना कृष्ण अधूरे हैं। जिस सम्प्रदाय में शक्ति की उपासना नहीं, वह नीरस सम्प्रदाय है। नारी प्राणदात्री है, वह सरसता का संचार करके सृष्टि के सृजन कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए सुन्दर से सुन्दर सर्वश्रेष्ठ साधन है, नारी जगदम्बिका है, जगज्जननी है, सृष्टि स्थिति तथा प्रलयङ्कारी है।

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और भवभूति – इन महामान्य कवियों ने भारतीय पत्नी की रूप छटा का वर्ण बड़ी सुन्दर शैली में किया है। भगवती, जगज्जननी सीता के शील, सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को उपशम तथा शान्ति नहीं प्रदान करती। जानकी का चरित्र भारतीय नारी के पातिव्रत्य धर्म का आदर्श प्रतीक है। वाल्मीकि रामायण के अनेक प्रसंग इस कथन के प्रमाणभूत हैं।

जब दण्डकारण्य में भगवान् श्रीराम, श्री सीता जी और श्री लक्ष्मण जी अत्रि मुनि के आश्रम में गएं थे तब अत्रि पत्नी अनसूया ने श्री सीता जी से कहा था 'सीते, तुमने यह बड़ा सुन्दर किया जो वन में पति का साथ देने के निमित्त राजमहल के भोगों को लात मार दी, क्योंकि दुष्ट स्वभाव वाले, स्वेच्छाचारी,

सद्गुणों से रहित पति को भी सती स्त्रियाँ परमेश्वर के ही रूप में देखती हैं।'

राम–वनवास के समय श्री सीता जी के उद्गार हैं – 'जैसे बिना तार के वीणा व्यर्थ और बिना पहिये के रथ, उसी प्रकार बिना पति के स्त्री को सुख नहीं मिल सकता, चाहे उसके सौ पुत्र क्यों न हों' –

**नातन्त्री विद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः।**
**नापतिः सुखमेधेत् या स्यादपि शतात्मजा।।**

**(अयोध्याकाण्ड)**

'पिता, भाई और पुत्र का दान परिमित होता है। पर पति स्त्री के लिये अमित–दानी है। उसकी पूजा कौन नहीं करेगी'–

**मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।**
**अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत्।।**

**(अयोध्याकाण्ड)**

रावण के द्वारा बारम्बार प्रार्थना करने पर सीता ने जो अवहेलना सूचक वचन कहे हैं वे भारतीय नारी का गौरव सदा उद्घोषित करते रहेंगे। वह कहती हैं कि इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से – नहीं नहीं, बायें पैर से भी नहीं छू सकती –

**चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।**
**रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्।।**

**(५–२६–१०)**

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि को सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिए अनेक कटु वचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि हृदय आनन्दातिरेक से गद्गद् हो उठता है। भगवती सीता के कथन में कितनी मार्मिकता है। वे कह रही हैं कि मनुष्य उसी वस्तु के लिए उत्तरदायी होता है, जिस पर उसका अधिकार होता है। मैं अपने हृदय की स्वामिनी हूँ। उसे मैंने अपने वश में कर रक्खा है। वह सदा अपने चिन्तन में रत रहा है। अङ्गों पर मेरा काबू नहीं। पराधीन ठहरे। यदि रावण ने बलात्कार से उनका स्पर्श कर लिया तो इसमें मेरा अपराध ही क्या –

**मदधीनं तु यत् तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते।**
**पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा।।**

मेरे चरित्र पर लाञ्छन कथमपि उचित नहीं है, मेरे निर्बल अंश को

पकड़कर आपने आगे किया है, परन्तु मेरे चरित्र के संबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है – उसका नारीत्व, स्त्रीत्व और सबल अंश है– पत्नीत्व और पातिव्रत। नरशार्दूल, आप मनुष्यों में श्रेष्ठ है, परन्तु क्रोधावेश में आकर आपका यह कथन साधारण पामर जन के समान है। मैं आपकी हृदय से भक्ति करती हूँ। मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है कि आप जैसे शार्दूल ने मेरे स्वभाव को मेरी भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया है, मेरा उपहास करने के लिए मेरे स्त्रीत्व को आगे रक्खा है, कितने महत्त्वपूर्ण शब्द है –

**त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता।**
**लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्।।**
**च प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।**
**मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्।।**

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे–सादे निष्कपट शब्दों में। अनादृता भारतीय ललना का यह उद्गार कितना हृदयवेधक है। सुनते ही सुहृदय व्यक्ति की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

महाकवि कालिदास ने सीता के जिस चरित्र का विलास अपनी वैदग्ध्यमयी वाणी के द्वारा अभिव्यक्त किया है, उसमें पारिजात की सुगन्ध है, मानव चित्त को विकसित तथा विस्मयस्तिमित कर देने की अद्भुत क्षमता है।

माता अरुन्धती ने जगत् की ललनाओं के लिए पातिव्रत्य धर्म का उपदेश देकर अमर हो गयी हैं। आज भी विवाह के समय उनका स्मरण किया जाता है – जब पुरोहित कन्या से कहता है कि 'हे कन्ये, वशिष्ठ पत्नी देवी अरुन्धती का दर्शन कर जो अपने पातिव्रत्य के माहात्म्य से सब कुछ कर सकती है। इसके दर्शन से तू साध्वी बन।'

ऋग्वेद में दशम मण्डल में सूक्तों की द्रष्ट्री साध्वी घोषा ने स्त्री–जगत् के निमित्त अश्विनीकुमारों से दया, दक्षिणा, धन, धान्य, विद्या, बुद्धि, आरोग्य आदि गुणों से युक्त पति को प्रदान करने की प्रार्थना की है। ऋषिका सूर्या ने स्त्रियों के सौभाग्यवती रहने की अभ्यर्थना श्री भगवान् से कही है और उनको आशीर्वाद सहित उपदेश दिया है। यथा –

**सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।**
**ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।।**

अर्थात् हे वधू तु ससुराल में जाकर अपने सदाचरण और सबके साथ अच्छे बर्ताव से सास, ससुर, ननद के ऊपर आधिपत्य जमाकर सर्वत्र महारानी होकर रह।

महाभारत की गान्धारी का पातिव्रत्य धर्म भी भारतीय नारियों का आदर्श है। पति धृतराष्ट्र नेत्रहीन है तो गान्धारी ने भी संसार की चकाचौंध से वैराग्य लेकर अपने नेत्रों पर भी पट्टी बाँध ली और धर्म का बखूबी पालन किया। भारतीय नारी का यही त्यागमय जीवन है। पति के कल्याण तथा मङ्गल के निमित्त आत्म–निषेध या आत्मसमर्पण ही 'नारीत्व' है। पुरुष की पूर्ति नारी के संगम में है। बिना नारी के सहयोग वह अपने पुरुषार्थ में कृतकार्य नहीं हो सकता। नारी तो दिव्य गुणों की प्रतिमा है, अलौकिक गुणों की मूर्ति है।

हमारा गार्हस्थ्य जीवन भगवत्प्राप्ति का एक सोपानमात्र है। भगवान् की प्राप्ति अनुराग से सुलभ है। भक्ति ही उस प्रियतम को पाने के लिये एक सुगम राजमार्ग है, कहने में यह जितना सरल है, करने में यह उतना ही कठिन है। प्रेमतत्त्व एक दुरूह तत्त्व है जिसे यथार्थतः जानना उतना ही कठिन नहीं है जितना उसका आचरण में लाना। गार्हस्थ्य जीवन में हमें इसी प्रेम–तत्त्व की साधना सिखलायी जाती है। महाकवि भवभूति ने इस तत्त्व की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है –

**अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्**
**विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।**
**कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं**
**भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते॥**

यह प्रेम सुख में और दुःख में अद्वैत अर्थात् एकाकार रहता है। समग्र अवस्थाओं में अनुकूल रहता है। इससे हृदय को विश्राम मिलता है। बुढ़ापा इसके रस को आनन्द को हरण नहीं कर सकता। समय के बीतने पर बाहरी आवरण के हट जाने पर यह परिपक्व स्नेह–सार में स्थित रहता है। वही यह कल्याणकारी–भद्रप्रेम है और किसी ही भाग्यशाली पुरुष को प्राप्त होता है।

पाश्चात्य विद्वान् सर आर्थर मेहिड ने भारतीय गृहस्थ धर्म की प्रशंसा में कहा है –

''हिन्दू आदर्श के अनुसार स्त्री गृहस्थी की पुजारिन है। वह घर के तुलसी आदि पवित्र वृक्षों को जल देती है, होम की अग्नि सँभाल कर रखती है, स्नान और पूजा पाठ से शुद्ध होकर अन्न को भी पवित्र करती है। उसकी

गृहसेवा भक्ति का एक अङ्ग होती है। वह घर से बाहर केवल तीर्थ यात्रा के लिए जाती है, परन्तु घर के भीतर वह समस्त व्यापारों का केन्द्र होती है और विभिन्न वय एवं श्रेणी के पुरुषों से अलग न रहकर उनकी घरेलू चर्चाओं, क्रियाओं तथा विचारों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती रहती है।

कला–कौशल सीखने में वह कभी अयोग्य नहीं समझी गयी है। संस्कृत साहित्य में अनेक विदुषी नारियों तथा स्त्री कवियों के उदाहरण मिलते हैं। तरुणी स्त्रियों के लिए ही तो संस्कृत के शिक्षा–विशारद चौसठ कलाओं की तालिका बनाते हैं। श्रीशङ्कराचार्य ने तो एक विदुषी महिला के साथ शास्त्रार्थ तय किया था। सीता, द्रौपदी, सावित्री और दमयन्ती आदि आदर्श महिलाएँ शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य कलाओं के द्वारा भी अपने–अपने पति का प्रेम बनाये रखना जानती थीं और आज की हिन्दू गृहणियों की भाँति ही वे उनकी सच्ची सङ्गिनी थीं।''

काव्य–प्रकाश में आचार्य मम्मट ने उपदेशों के तीन प्रकार बतलाए हैं– (क) प्रभुसम्मित उपदेश – राजाज्ञा के अनुरूप उपदेश जिसका अक्षरश: पालन होता है, यह वेदादि उपदेश हैं। (ख) सुहृत्सम्मित उपदेश – मित्र के हितोपदेश के समान शब्द, जिनमें उचित अनुचित दोनों मार्ग दिखलाए जाते हैं। (ग) कान्तसम्मित उपदेश – प्रियतम के कमनीय वचन के समान उपदेश, जो रसमय होने से शीघ्र ही हृदय पर प्रभाव डालते हैं। उनका उपदेश इतना प्रभावशाली होता है कि आप उसे मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं – जैसे रसप्रधान काव्य। इस प्रकार साहित्य में नारी का प्रभाव विशेष रूप से अभिव्यक्त किया है। वह शक्ति की मूर्ति है, प्रेम का अवतार है, अनुराग की वाटिका है, रस का उत्स है, हृदयकला को विकसित करने वाले प्रभातवायु का हिलोरा है, मानस में आनन्द–लहरी उठाने वाले मन्द–मन्द प्रवाहित पवन है।

महाकवि कालिदान ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में महर्षि कण्व ने अपनी पोष्या पुत्री शकुन्तला को सुसराल जाते समय बड़ा ही सुन्दर उपदेया दिया। कण्व कहते हैं –

**शुश्रूषस्व गुरून्! कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने**
**भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।**
**भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी**
**यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।**

नारी ससुराल में जाकर सास–ससुर आदि बड़ों की सेवा करना, अपने

पति की अन्य पत्नियों के साथ मित्रता, प्रेम का बर्ताव करना, यदि कभी पति का तिरस्कार भी मिले तो क्रोध के वशीभूत होकर उनके प्रतिकूल आचरण भूलकर भी न कर बैठना। दास–दासियों के प्रति सदा दया का भाव बनाये रखना और प्रचुर भोग–सामग्री प्राप्त करके अभिमान से फूल मत जाना। इस प्रकार का आचरण करने से ही युवतियाँ 'गृहिणी' के सामान्य पद पर प्रतिष्ठित होती हैं और जो इसके विपरीत आचरण करती हैं, वे तो अपने कुल के लिए उपाधिरूप – क्लेशदायक बन जाती हैं।

कविवर कालिदास ने शास्त्रों में विस्तार से कहे हुए पातिव्रत्य धर्म का निचोड़ बहुत थोड़े शब्दों में इस श्लोक में दिया है। संस्कृत वाङ्मय के इतिहास ने सीता, सावित्री, शैव्या, अनुसूया, मदालसा, सती देवहूति, शतरूपा, तपती, दमयन्ती, शकुन्तला, सुकन्या, आत्रेयी आदि अनेकों पतिव्रता नारियों का उल्लेख है जो भारत की अन्य नारियों के लिए आदर्श है। अपने पातिव्रत्य धर्म का पालन करके उन्होंने भारत के स्वर्णिम इतिहास में अपनी प्रतिष्ठा बनायी है। हमारे पुराण सती–महात्म्य स्तोत्र से ओतप्रोत हैं। सती अपने सतीत्व–बल से सहस्रों मनुष्यों का उद्धार करती है। सती स्त्री का पति सम्पूर्ण पापों से मुक्त होता है। पातिव्रत्य के तेज से सती के स्वामी को कर्मफल का भोग नहीं करना पड़ता। वह सारे कर्मबन्धन से छूटकर सती के साथ भगवान् के परमधाम में आनन्द लाभ करता है–

**पुरुषाणां सहस्त्रं च सती स्त्री हि समुद्धरेत।**
**पतिः पतिव्रतानां च मुच्यते सर्वपातकात्।।**
**नास्ति तेषां कर्मभोगः सतीनां व्रततेजसा।**
**तया सार्द्धं च निष्कर्मी मोदते हरिमन्दिरे।।**

**(स्कन्दपुराण)**

वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता में भी नारी के पातिव्रत्य धर्म की चर्चा करते हुए कहा है कि सती स्त्री सहस्त्रों पुरुषों का उद्धार कर देती है। पृथ्वी पर जितने भी तीर्थ हैं, वे सब सीता–साध्वी के चरणों में लौटते हैं। सम्पूर्ण देवताओं और मुनियों का जो तेज है वह सब सती नारियों में स्वभावतः रहता है। तपस्वी जनों का सारा तप, व्रत करने वालों को व्रत का सम्पूर्ण फल तथा दाताओं के दान का समस्त फल मिलाकर जितना होता है, वह सब पतिव्रता देवियों में ज्यादा रहता है। साक्षात् भगवान् नारायण, भगवान् शिव, जगद्विधाता ब्रह्मा जी तथा सम्पूर्ण देवता और महर्षि भी पतिव्रताओं से सदा डरते हैं। पतिव्रता का पति तथा

उसका पुत्र – ये दोनों सदा निर्भय रहते हैं। उन्हें देवताओं और यम से भी किञ्चित् भय नहीं होता। जो सौ जन्मों से उत्तम पुण्य का संचय करते आ रहे हैं, उन्हीं के घर में पतिव्रता कन्या जन्म लेती है। पतिव्रता के जन्म देने वाली माता परम पवित्र है तथा उसके पिता भी जीवनमुक्त हैं। समस्त लोकों की रचना करने वाले विधाता ने कहीं भी स्त्रियों के सिवा दूसरा कोई ऐसा रत्न नहीं उत्पन्न किया है जो देखने, सुनने तथा स्पर्श और स्मरण करने पर भी मनुष्यों को आनन्द प्रदान करने वाला हो। उन्हें के लिए धर्म और अर्थ का संग्रह होता है। अत: मान ही जिनका धन है, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों को उचित है कि वे घर में अबलाओं को गृहलक्ष्मी समझकर सदा उनका आदर करें –

**पुरुषाणां सहस्रं च सती स्त्री च समुद्धरेत्।**
**पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि**
**तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु तत्।।**
**तपस्विनां तपः सर्वं व्रतिनां यत्फलं व्रते।**
**दाने फलं च दातॄणां तत्सर्वं तासु संततम्।।**
**स्वयं नारायणः शम्भुर्विधाता जगतामपि।**
**सुराः सर्वे च मुनयो भीतास्ताभ्यश्च संततम्।।**
**सतीनां च पतिः साध्वीपुत्रो निःशङ्कः एव च।**
**न हि तस्य भयं किञ्चिद् देवेभ्यश्च यमादपि।।**
**शतजन्मपुण्यानां गेहे जाता पतिव्रता।**
**पतिव्रताप्रसूः पूता जीवन्मुक्तः पिता तथा।।**
**श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं स्मृतमपि नृणां ह्लादजननं**
**न रत्नं स्त्रीभ्योऽन्यत् क्वचिदपि कृतं लोकपतिना।**
**तदर्थं धर्मार्थौ सुतविषयसौख्यानि च ततो**
**गृहे लक्ष्म्यो मान्याः सततमबला मानविभवैः।।**

यह था प्राचीन भारतीय संस्कृति में नारी का पत्नीरूप – जिसमें कोई प्रतिद्वन्द्विता, कोई संघर्ष नहीं। एक अनुगामित्वधर्म है, जो मानों विश्व–चक्र की पूर्ति के निमित्त नारी द्वारा सहज स्वाभाविक रूप से अपना लिया गया था। पति में प्रभु की मूर्ति प्रतिष्ठित करके वह अपने अपनत्व का समर्पण कर देती थी और वह आत्मनिवेदन इतना पूर्ण, इतना गम्भीर, इतना व्यवस्थित होता था कि कोई परिस्थिति, कोई संकट, कोई विपद् उसे उसकी स्वात्म स्थिति से च्युत करने में

समर्थ नहीं थी। यही उनके जीवन की साधना थी और इसी साधना का आश्रय लेकर जब वह इस क्षुद्र अहं की सीमा को लाँघ जाती थी, तब प्रकृति उसके आगे शीश झुकाती थी। ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियाँ उसके अलौकिक तेज के समक्ष व्यर्थ, निष्प्रभ हो जाती थीं। सृष्टि उनके इङ्गित पर नाचती थी। ऐसे में यदि कुष्ठ–रोगी पति की साध्वी स्त्री शाण्डिली सूर्य की गति रोक दे तथा उसके प्रभाव से वह ब्रह्मसामर्थ्यवत् भगवान् भास्कर एक ही स्थान पर अचल हो जाएँ अथवा साक्षात् यमराज यदि वचनबद्ध होकर सावित्री के स्वामी के जीवन को लौटा दें तो इसमें विस्मय ही क्या!

आधुनिक युग में यह सन्देह होता है कि यह सब सत्ययुग की बातें हैं, कलियुग में इनकी सम्भावना नहीं। परन्तु राजपूताने का स्वर्ण इतिहास आज भी विलुप्त नहीं हुआ है। चूडावत सरदार की नवोढ़ा पत्नी का अपूर्व बलिदान आज भी कनकाक्षरों में जगमगा रहा है। नारी का सहयोग पुरुष को बन्धन नहीं, मुक्ति के रूप में मिलना चाहिए। सौन्दर्य की मूर्ति और कोमलता की प्रतिमा वह सरदार–पत्नो अपने जीवन की इस महत्ता को मधुरतम क्षणों में भी विस्मृत नहीं कर सकी थी। क्षणिक सौन्दर्य का क्या मूल्य है और उसका सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है, इसे वह जानती थी और फलस्वरूप उसकी मुण्डमाल सरदार के जीवन की प्रेरणा बनकर उसे देश के प्रति अपना कर्तव्य निष्फल करने में समर्थ कर सकी। कितनी दृढ़ता थी उस कोमल ह्दय में। परन्तु ये देवियाँ देह और प्राण की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठी हुई थीं। इन्होंने अपने पति से सम्बन्ध स्थापित किया था एक ऐसे धरातल पर जहाँ वियोग की सम्भावना नहीं, जहाँ स्थूल शरीर का विच्छेद उनकी अभेद स्थिति में बाधक नहीं बन सकता। ऐसे कितने ही उदाहरण हमें राजपूताना के इतिहास में उपलब्ध हो सकते हैं और वहाँ के जौहर यज्ञ ने मानों नारी की पवित्रता को अग्नि में तपाकर एक अत्युज्ज्वल स्थायी–प्रभा प्रदान कर दी है।

यदि प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टि से नारीत्व की गरिमा का मूल्यांकन किया जाए तो भारतीय नारी अपने मातृत्व और पातिव्रत्य धर्म का अनुपालन करती हुई आज भी इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ पर अंकित है।

नारीत्व के भारतीय आदर्श और पाश्चात्य आदर्श की तुलना करने के आधार दो बड़े महाकाव्य हैं – एक वाल्मीकि रामायण, दूसरा होमर का इलियड। इन दोनों महाकाव्यों की कथावस्तु में अद्भुत साम्य है। रामायण में राम की पत्नी

सीता का रावण अपहरण कर लेता है। उसी प्रकार मेनेलास की स्त्री हेलेन का भी पेरिस द्वारा अपहरण होता है। जैसे राम रावण को युद्ध में परास्त करके श्रीसीता का उद्धार करते हैं, उसी तरह मेनेलास भी पेरिस को युद्ध में परास्त करके हेलेन का उद्धार करता है। दोनों कथावस्तुओं के बीच इतनी साम्यता होते हुए भी वाल्मीकि और होमर द्वारा वर्णित स्त्रीत्व के आदर्श में आकाश–पाताल का अन्तर है। यही आदर्श भारतीय संस्कृति का पाश्चात्य से अन्तर स्पष्ट करता है। पेरिस द्वारा अपहृत होने के पश्चात् हेलेन उसकी पत्नी बनकर रहती है। जब मेनेलास उसे छुड़ाकर लाता है, तब फिर वह पूर्ववत् मेनेलास की भार्या हो जाती है। महाकवि होमर की कल्पना में ही यह बात नहीं आ सकी कि स्त्री के लिए पतिभक्ति का आदर्श भी हो सकता है। वास्तव में 'पतिव्रता' और 'पातिव्रत्य' शब्दों से जो अर्थ ग्रहण होता है, उसको द्योतित करने योग्य पाश्चात्य भाषाओं में कोई शब्द ही नहीं है। हमारे ऋषियों की ही यह गवेषणा है कि स्त्री के लिए सर्वोच्च आदर्श पतिभक्ति का का ही है। उसके लिए अन्य धार्मिक विधि–विधान के पालन की आवश्यकता नहीं, यदि वह पति के प्रति अनन्य भक्ति प्राप्त कर सकती है तो उसका जीवन सफल हो जाएगा और वह पूर्णता को प्राप्त हो जाएगी। पुत्र का सबसे बड़ा धर्म पितृभक्ति है। इस गुण से उसे ऐहिक सुख तो प्राप्त होगा ही, उसकी आध्यात्मिक उन्नति भी होगी। शिष्य का सबसे बड़ा धर्म गुरुभक्ति है। इसके लिए ज्ञान प्राप्त करने का वही सर्वोत्तम साधन है। इसी प्रकार नारी का सबसे बड़ा धर्म पतिभक्ति है।

होमर के विचारानुसार भारतेतर देशों में इसी विचार का प्रवाह है — ''स्त्री केवल भोग की सामग्री है, और चूँकि वह शरीर से अबला है, इसलिए जो कोई भी उस पर अधिकार कर ले उसी के हाथों उसे आत्मसमर्पण कर देना होगा। उसकी अपनी इच्छा या कर्तव्यभावना का प्रश्न ऐसा है कि जिसके उठने में कोई गुंजाइश ही नहीं। ('कल्याण' से साभार)

हमारे दार्शनिक संत विवेकानन्द जी ने भी जब शिकागो के अधिवेशन में अपना प्रथम भाषण दिया था तो उन्होंने ने भी यही उद्गार व्यक्त किए थे कि नारी भोग की सामग्री नहीं है।

पाश्चात्य विद्वान् जे. टिसल डेविस ने आदर्श विवाह पद्धति का उल्लेख किया है —

विवाह की कौन विधि से समाज में सामञ्जस्य और स्थायी व्यवस्था

रह सकती है – हिन्दू जाति ने इसी का पता लगाने का प्रयत्न किया। जिस प्रकार यूरोप के राजपरिवार राज्य के विचार से ही विवाह सम्बन्ध करते थे और जिस प्रकार संतानोत्पत्ति शास्त्री मानवजाति की प्रगति के लिये व्यक्तिगत भावना के त्याग का उपदेश देता है, उसी प्रकार हिन्दू जाति में भी समाजहित के लिये, जीवन के प्रलोभनों से बचने की दृष्टि से विवाह की व्यवस्था की गयी है। हिन्दुओं की वैवाहिक विधि का यही अभिप्राय है। मानव जाति की उन्नति के लिए ही हिन्दूशास्त्र माता को गृहस्थाश्रम में स्वेच्छा से तपस्विनी का जीवन बिताने और अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को बुद्धि एवं आत्मा के कठोर नियन्त्रण में रखने की शिक्षा देते हैं। स्त्री जाति के साथ प्रकृति ने जो कठोरता की है, उसे चुपचाप सहने में कुछ स्त्रियाँ अपनी तौहीन समझती हैं, परन्तु इस हीनता के बोध से बचने का उपाय मातृभाव का परित्याग नहीं बल्कि उसे एक निःस्वार्थपूर्ण आदर्श का अनुगामी बना देना है।

यही कारण है कि श्रुति, स्मृति–पुराण, इतिहास आदि से लेकर वर्तमान समय तक के संत–महात्माओं की वाणी में विविध सद्‌गुणों की प्रतिमा, ब्रह्मवादिनी, विदुषी, माता, पत्नी, सती, पतिव्रता, गृहिणी आदि के रूप में प्रशंसा की गयी है। उसकी महिमा के अमित गुण गाये गये हैं। अन्त में यही कहा जा सकता है –

**नारी में अति उज्ज्वल सतीत्व,**
**उज्ज्वल सतीत्व में महातेज**
**उस महातेज में दीपक से**
**नारी रखती है रवि सहेज।।**
**जीवन की उष्ण दुपहरी में**
**नारी तरुवर की घनी छाँव।**

## मातृ–रूप

पुत्र के लिए माता का स्थान पिता से भी बढ़कर है, क्योंकि वह उसे गर्भ में धारण कर चुकी है तथा माता द्वारा ही उसका पालन–पोषण हुआ है। अतः तीनों लोकों में माता के समान कोई गुरु नहीं है। गङ्गा के समान कोई तीर्थ नहीं है, भगवान् विष्णु के समान कोई प्रभु नहीं है, शिव के समान कोई पूजनीय नहीं है तथा माता के समान कोई गुरु नहीं है। भार्या के समान कोई मित्र नहीं है, पुत्र

के समान कोई प्रिय नहीं है, बहिन के समान मान्य कोई स्त्री नहीं है तथा माता के समान कोई गुरु नहीं है। देश वही श्रेष्ठ है जो गङ्गा के समीप हो। पत्तों में तुलसी का पत्ता श्रेष्ठ है, वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है तथा गुरुजनों में माता ही सबसे श्रेष्ठ गुरु है। धर्मज्ञ पुत्र माता और पिता दोनों को एक साथ देखने पर पहले माता को प्रणाम करके पीछे पिता रूपी गुरु को नमस्कार करे। माता, धरित्री, जननी, दयार्द्र हृदया, शिवा, त्रिभुवनश्रेष्ठा, देवी, निर्दोषा, सर्वदुःखहा, परम आराधनीया, दया, शान्ति, क्षमा, धृति, स्वाहा, स्वधा, गौरी, पद्मा, विजया, जया तथा दुःखहन्त्री– ये माता के ही इक्कीस नाम है। जो मनुष्य इन नामों को सुनता है, वह सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। –

**पितुरप्यधिका माता गर्भधारणपोषणात्।**
**अतो हि त्रिषु लोकेषु नास्ति मातृसमो गुरुः।।**
**नास्ति गङ्गासमं तीर्थं नास्ति विष्णुसमः प्रभुः।**
**नास्तिशम्भुसमः पूज्यो नास्ति मातृसमो गुरुः।।**
**नास्ति भार्यासमं मित्रं नास्ति पुत्रसमः प्रियः।**
**नास्ति भगिनीसमा मान्या नास्ति मातृसमो गुरुः।।**
**देशो गङ्गान्तिकः श्रेष्ठो दलेषु तुलसीदलम्।**
**वर्णेषु ब्राह्मणः श्रेष्ठो गुरुर्माता गुरुष्वपि।।**
**मातरं पितरं चोभौ दृष्ट्वा पुत्रस्तु धर्मवित्।**
**प्रणम्य मातरं पश्चात् प्रणमेत् पितरं गुरुम्।।**
**माता धरित्री जननी दयार्द्रहृदया शिवा।**
**देवी त्रिभुवनश्रेष्ठो निर्दोषा सर्वदुःखहा।।**
**आराधनीया परमा दया शान्तिः क्षमा धृतिः।**
**स्वाहा स्वधा च गौरी च पद्मा च विजया जया।।**
**दुःखहन्त्रीति नामानि मातुरेवैकविंशतिम्।**
**शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यः सर्वदुःखाद् विमुच्यते।।**

**(बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्ड)**

नारी मातृदेवता है। भारतीय संस्कृति अपना एक खास निरालापन लिए हुए है। उसका निर्माण अध्यात्म की सुदृढ़ भित्ति पर उन त्रिकालदर्शी ऋषियों द्वारा हुआ है जो दिव्यदृष्टि सम्पन्न, राग–द्वेषशून्य एवं समदर्शी थे। उनकी दृष्टि इहलोक तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने अपनी तपः पूत बुद्धि से समाधिजन्य

दिव्य ईश्वरीय ज्ञान के आधार पर जो सिद्धान्त स्थिर किए थे वे सर्वथा निर्दोष, भ्रान्तिशून्य, त्रिकालसत्य एवं मानव बुद्धि से परे हैं। भारतीय संस्कृति ने नारी को माता के रूप में उपस्थित कर इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि वह मानव के कामोपभोग की सामग्री न होकर उसकी वन्दनीया एवं पूजनीया है। मानवधर्मशास्त्र में जननी का गौरव उपाध्याय से दस लाख गुणा, आचार्य से लाख गुणा तथा पिता से हजार गुणा बढ़कर बताया गया है –

**उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।**
**सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते।।**

माता की महिमा के विषय में श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास में एवं नीतिग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा है। भगवती श्रुति का उपदेश है –

**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव।**

यहाँ माता का स्थान सर्वप्रथम है। मातृत्व में देवत्व की भावना का समावेश करके उसे देवताओं के समतुल्य माना है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि गर्भधारण के समय से लेकर गुरुकुल भेजने के समय तक पुत्र का पालन–पोषण करते हुए वह अपना जैसा परिचय देती है, उससे यही प्रमाणित होता है कि नारी का स्त्रीत्व मातृत्व ही है –

**जनको जन्मदातृत्वात् पालनाच्च पिता स्मृतः।**
**गरीयान् जन्मदातुश्चै योऽन्नदाता पिता मुने।।**
**तयोः शतगुणे माता पूज्या मान्या च वन्दिता।**
**गर्भधारणपोषाभ्यां सा च ताभ्यां गरीयसी।।**

अर्थात् जन्मदाता और पालनकर्ता होने के कारण सब पूज्यों में पूज्यतम जनक और पिता कहलाता है। जन्मदाता से अन्नदाता पिता श्रेष्ठ है। इनसे भी सौ गुणी श्रेष्ठ वन्दनीया माता है, क्योंकि वह गर्भधारण तथा पोषण करती है।

अपने बच्चे को प्रथम शिक्षा माता ही देती है। उसके संस्कारों का विकास करती है। सन्तान चाहे कुपुत्र निकल जाए परन्तु जन्मदात्री माता कभी कुमाता नहीं बन पाती – **''कुपुत्रो जायते क्वचदपि कुमाता न भवति''**। उसका स्नेह और वात्सल्य अपनी सन्तान तक ही सीमित नहीं रहता। द्वार पर भिक्षा के लिए आए हुए गुरुकुलवासी ब्रह्मचारियों को उनकी माताओं के सदृश सप्रेम भिक्षा देकर वह उनको 'मातृवत् परदारेषु' अर्थात् परायी स्त्री को माता समझने का पाठ पढ़ाती है और इस प्रकार प्रत्यक्ष में समाज की जननी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त

करती है। कुदृष्टियुक्त कोई पुरुष उसके पातिव्रत्य–तेज के समक्ष नहीं ठहर पाता और उसके मातृत्व के प्रति श्रद्धावनत होने के लिए बाध्य होता है।

नारी को यह मातृत्व पुरुष के साथ समानता के सिद्धान्तानुसार किये गये किसी बँटवारे में नहीं मिला। यदि ऐसा होता तो वह वन्दनीया न हो पाती। शास्त्रीय दृष्टि में उसका यह मातृत्व दयामयी जगन्माता का प्रसाद है, जिनका रूप कहलाने का गौरव सारे नारी समाज को प्राप्त हुआ है। विष्णुपुराण की सूक्ति है –

**देवतिर्यङ्मनुष्येषु पुन्नामा भगवान् हरिः।**
**स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया** . . . . . ।।

इसका आशय यह निकलता है कि सामान्य रूप में देव समाज, तिर्यक्–योनि तथा मानव समाज के पुरुषत्व में भगवान् विष्णु की अभिव्यक्ति है और स्त्रीत्व में लक्ष्मी की। माता का यह प्रेम केवल मनुष्य योनि तक ही सीमित नहीं है। वह तो पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर आदि अन्य योनियों में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। चिड़िया और कुक्कटी अंडे रखकर कुछ दिन उनको सेती है और बच्चे निकल आने पर दाना चुगा चुगाकर तब तक उनका पालन–पोषण करती है, जब तक पर निकल आने से उनमें स्वयं उड़ने और दाना–तुनका चुगने की शक्ति नहीं आ जाती। कच्छपी दूर रहकर भी अपने अण्डों को भगवत्प्रदत्त अपनी अनुसारणशक्ति से ही बच्चे निकलने तक सेती है एवं गाय, भैंस, बकरी, बिल्ली आदि भी बच्चे जनकर बाहरी आपत्तियों से तब तक उनकी रक्षा करती हैं जब तक वे माता का दूध छोड़कर घास–भूसा आदि खाद्य पदार्थ खाकर आत्मनिर्भर नहीं हो जाते। स्नेह की प्रबलता में माता असमर्थ होने पर भी अपनी सन्तान को विपत्ति से बचाने के लिए जान जोखिम में डालकर आक्रमणकारी पर प्रत्याक्रमता करने का शक्ति भर प्रयास करती हैं, इसमें चाहे वह सफल हो या विफल। मातृप्रेम का एक ज्वलन्त उदाहरण है –

देवपत्तन नगर में सगुरी और निगुरी नाम की दो स्त्रियाँ रहती थी। एक दिन की बात है कि सगुरी का शिशु पालने में लेटा हुआ था। माता पास बैठी काम कर रही थी। इसी अवसर में निगुरी आकर बच्चे को उठाकर ले गयी। सगुरी ने तत्क्षण उसके पास जाकर अपना बच्चा माँगा, किन्तु निगुरी ने उत्तर दिया कि 'बच्चा तो मेरा है, तेरा कहाँ से आया?' इसपर झगड़ा बढ़ा, यहाँ तक कि सगुरी ने अपने पुत्र को पाने के लिए नगर के अधिपति ने वादी प्रतिवादी को बुलाकर पूछा कि 'बच्चा किसका है?' उत्तर में दोनों ने ही अपना अपना बताया। इससे

अधिपति पहले तो कुछ असमंजस में पड़ा; परन्तु पीछे कुछ विचारकर उसने अपना मत प्रकट किया – 'महाभागो! हमने तुम्हारा विवाद सुनकर यह निर्णय किया है कि इन बच्चे के बीच से दो टुकड़े कर दिये जायँ और एक–एक टुकड़ा तुम दोनों को दे दिया जाये। बोलो, इसमें तुम दोनों सम्मत हो न?' इस निर्णय को सुनकर निगुरी तो कुछ न बोली और चुपचाप खड़ी सुनती रही। पर सगुरी फूट–फूटकर रोने लगी और अधिपति से प्रार्थना करती हुई बोली कि 'महोदय ! यह बच्चा कृपाकर निगुरी को ही दे दीजिये, यह इसी का है। इसके टुकड़े न कराइये।' सगुरी की विकलता से अधिपति तथा अन्य सभ्यों के चित्त द्रवीभूत हो गये और उनको निश्चय हो गया कि बच्चा दयावती सगुरी का ही है, निगुरी का नहीं। इसलिये अधिपति के आज्ञानुसार बच्चा सगुरी को मिल गया, जिसको पाकर वह प्रसन्न हो अपने घर गयी और निगुरी को उसके झूठ और परधनलोलुपता के फलस्वरूप कारागार भोगना पड़ा। सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक मातृमण्डल की महत्ता लोक और वेद में जागरूक है। स्नेहमयी माता की सबसे बड़ी अभिलाषा यही रहती है कि मेरा पुत्र चिरायु हो और इसके साथ ही वह नीरोग, विद्वान्, बलवान्, धनी, धार्मिक एवं सर्वगुण सम्पन्न बने। ऋग्वेद में सूक्त है जिसमें ऋषि कहता है कि **'देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत्'** अर्थात् पवित्र एवं पूज्य माता ने हमें जन्म दिया है। माता की शक्ति महान् हैं उसे मैं प्रार्थना से प्रसन्न करता हूँ – **'मातुर्महि स्वतवस्तद् हवीमभिः।'** वेद में यह भी कहा गया है कि माता को दक्षिणा एवं दान आदि कार्यों में लगाया जाता है – **'युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणायाः'**।

नारी का पत्नी रूप से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवशाली स्वरूप है उसके मातृत्व में। मातृत्व मानो पत्नीत्व पूर्णत्व को प्राप्त हो जाता था। परन्तु वह मातृत्व का मोह का बन्धन बनकर सन्तान की वास्तवकि प्रगति में बाधक नहीं बनता था।

महारानी शतरूपा ने अपने पुत्र–पुत्रियों को ज्ञान और सदाचार की ऐसी उत्तम शिक्षा दी थी कि उसके प्रभाव से अपने जीवन में सदा यशस्वी और परोपकारी बनकर मोक्ष के अधिकारी हुए। माता सती देवहूति ने आदि विद्वान् कपिल को जन्म दिया, जिन्होंने साँख्यदर्शन का प्रणयन कर संसार को कैवल्य का मार्ग सुझाया।

तेजस्विनी विदुला ने तेजोहीन और भीरू संजय नामक अपने पुत्र को

ओजस्वी भाषण द्वारा उत्साहपूर्ण उपदेश देकर उसके कातर हृदय में संचार कर दिया था, जिससे प्रभावित होकर संजय रणक्षेत्र में गया और पराक्रमपूर्वक उत्साह के साथ युद्ध करके अपने पूर्व विजेता सिन्धुराज को पराजित कर विजयी होकर घर लौटा और फिर धन्यवाद सहित अपनी माता के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

हमारी पुरातन माताएँ अपनी सन्तानों का निर्माण करती थीं। उन्हें आदर्श के साँचे में डालती थी और तब उन्हीं में आदर्श यथार्थ की सम्भाव्यता में मुखरित हो उठता था। माता मदालसा का यह राग –

**शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि।**

उसके पुत्रों के लिए एक स्थायी प्रेरणा बन गया और इस संसार की वास्तविकता को पहचानकर वे जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त हुए। मदालसा का मातृत्व सफल हो गया।

माता कौशल्या को मर्यादा पुरुषोत्तम की जननी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कौशल्या का वात्सल्यमय हृदय यद्यपि राम–वियोग की आशङ्का से शतधा विदीर्ण हो रहा था, तथापि उनका मातृत्व भाव–वियोगजनित दुःख से व्याकुल होकर भी धर्म का विचार कर पुत्र को वन जाने की आज्ञा देकर उन्होंने यह आशीर्वाद दिया था –

**न शक्यते वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।**
**शीघ्र च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे।।**
**यं पालयासि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।**
**स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।।**

अर्थात् हे पुत्र! मैं तुझे किसी प्रकार रोक नहीं सकती, अब तू वन को जा। पर जल्दी लौटकर आना (अर्थात् चौदह वर्ष से अधिक मत ठहरना) और सत्पुरुषों के मार्ग पर चलना। प्रेम और नियम के साथ तू जिस धर्म के पालन में प्रवृत्त हुआ है, वही धर्म तेरी रक्षा करेगा। रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने कहा है –

**जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।**
**जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।।**

माता कैकेयी और सुमित्रा ने क्रमशः भरत और लक्ष्मण–शत्रुघ्न जैसे पुत्रों को जन्म दिया जिन्होंने धीरता, वीरता, भ्रातृ–प्रेम और भगवद्भक्ति का जीता–जागता आदर्श स्थापित कर संसार का महान् उपकार किया है। अपने तरुण, नव–विवाहित पुत्र लक्ष्मण को अग्रजानुगामी बनाकर वनवास की अनुमति

प्रदान करती हैं। लक्ष्मण का त्याग सराहनीय है, परन्तु इसका श्रेय लक्ष्मण को नहीं, उनकी माता सुमित्रा को है जिन्होंने यह उपदेश दिया –

**पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई।।**
**नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम विमुख सुत ते हित जानी।।**

लक्ष्मण की नवोढ़ा पत्नी को इसका श्रेय है जिन्होंने अनुराग वेला में विराग को, संयोग को स्वर्णक्षण में दीर्घ वियोग को अपना सौभाग्य समझकर प्रसन्नता से वरण कर लिया था। प्रातः स्मरणीया माता देवकी ने षोडशकलावतार उन भगवान् श्रीकृष्ण को जन्म दिया था, माता यशोदा ने पालन–पोषण किया, उन भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के सदुपदेश एवं पावन चरितों से भक्ति को भवसागर से पार उतरने का मार्ग दिखाया।

माता कुन्ती ने पाण्डवों को धर्म पर दृढ़ रहते हुए क्षात्रधर्म और प्रजापालन करने का उपदेश और आशीर्वाद दिया था, जिसके अनुसार चलकर वे सर्वथा कृतकार्य रहे। धर्मप्राणा गान्धारी ने अपने दुराग्रही पुत्र सुयोधन को असन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लाने के लिए सामदान द्वारा राजनीति और धर्मनीति के उत्तमोत्तम उपदेश दिए थे।

हमारा सम्पूर्ण वाङ्मय स्नेहमयी माताओं के मातृत्व से आप्लावित है। मरीचि, अत्री, अङ्गिरा, व्यास, वशिष्ठ, भारद्वाज, नारद, पराशर, भीष्म, शङ्कराचार्य आदि अनेक मातृसेवक महापुरुषों के नाम हैं जिन्होंने अपने जन्म से जननी और जन्मभूमि के नाम की उन्नत धवल ध्वजा फहरायी, देश को परमोन्नति के शिखर पर आरूढ़ रक्खा और अभ्युदय तथा निःश्रेयस के आनन्द का अनुभव कराया। धन्य है वे सज्जन, जो अहैतुक स्नेह करने वाली परम सुहृद् माता की सेवा कर महर्षि सुमन्तु के वचनानुसार इस लोक और परलोक के सुख में भागी होते हैं –

**आयुः पुमान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुण्यं बलं श्रियम्।**
**पशुं सुखं धनं धान्यं प्राप्नुयान्मातृवन्दनात्।।**

अर्थात् माता की सेवा करने वाला सत्पुरुष दीर्घायु, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुण्य, बल, लक्ष्मी, पशु, सुख, धन, धान्य – सब कुछ प्राप्त कर सकता है। पुत्र के लिए माता का हस्त–स्पर्श प्यासे के लिए जल–धारा के समान होता है। यहाँ तक भी कहा है कि माता के समान शरीर को पोषण करने वाली अन्य कोई नहीं है। स्कन्द पुराण में कहा है कि मनुष्य तभी वृद्ध होता है, तभी दुःखित होता है और तभी उसके लिए जगत् शून्य होता है जब उसे माँ का वियोग होता है–

**तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दुःखितः।**
**तदा शून्यं जगत्तस्य यदा मात्रा वियुज्यते।।**
**(स्कन्दपुराण मा.कौ. ६.१०२.१०३)**

इसके विपरीत हतभाग्य है वे लोग जो सर्वसुखसम्पादयित्री हितैषिणी माता के विरुद्ध रहते हैं। ऐसों के लिए शास्त्र की यह भर्त्सना है –

**धिगस्तु जन्म तेषां वै कृतघ्नानां च पापिनाम्।**
**ये सर्वसौख्यदां देवीं स्वोपास्यां न भजन्ति वै।।**

अर्थात धिक्कार है उन कृतघ्न, गुनमेटे, पापी, दुर्जनों को जो सर्वसौख्यदा माता की सेवा–शुश्रूषा नहीं करते। जगती तल में उनका जन्म लेना वृथा है। भारतवर्ष सदा से मातृवर्ग का सेवक रहा है। जाति, व्यक्ति, समाज और देश का सौभाग्य सच्ची हितैषिणी माता के ऊपर निर्भर है। स्कन्दपुराण में तो यहाँ तक कहा है –

**नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः।**
**नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसम प्रपा।।**

अर्थात् माँ के समान छाया नहीं है, माँ के समान कोई गति नहीं है, माँ के समान कोई त्राता नहीं है और माँ के समान क़ोई प्याऊ नहीं है। अहैतुक स्नेह करने वाली माता ही एक ऐसी है, जिसका प्रेम सन्तान पर जन्म से लेकर शैशव, बाल्य, यौवन एवं प्रौढ़ावस्था तक एक सा बना रहता है। महर्षि मनु का उपदेश है कि पुरुष को चाहिए कि वह बूआ, मौसी और बड़ी बहिन के साथ माता का सा व्यवहार करे और अपनी सगी माता तो इनसे भी बड़ी है ही –

**पितृर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।**
**मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी।।**

मनु ने स्त्रियों को बहुत अधिक सम्मान दिया है। स्त्री के मातृत्व की प्रशंसा में लिखते हैं कि सन्तान को जन्म देने वाली होने के कारण स्त्रियाँ बड़ी भाग्यशालिनी हैं, वे घर की दीप्ति हैं। वस्त्राभूषण से उनका आदर करते रहना चाहिए। स्त्री और श्री में कोई भेद नहीं है –

**प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।**
**स्त्रियः श्रियश्च लोकेषु न विशेषोऽस्ति काचन।।**
**(मनु. ९.२६)**

पाश्चात्य विद्वान् नीत्शेने ने कहा है कि –

"I know of no book in which so many delicate

and kindly things are said of the woman as in the law book of Manu, these old gray heads and Saints have a manner of being gallant to women which perhaps cannot be surpassed." (Antichrist pp. 214-15).

मनुस्मृति को छोड़कर मेरे देखने में ऐसी कोई दूसरी पुस्तक नहीं आयी जिसमें स्त्रियों के प्रति इतने अधिक ममतापूर्ण और दयापूर्ण उद्गार हों। इन प्राचीन श्वेत जटाधारी ऋषियों–मुनियों का स्त्रियों के प्रति सम्मान का कुछ ऐसा ढंग है कि उसका कदाचित् अतिक्रमण नहीं हो सकता।

नारी का यह सनातन मातृत्व ही उसका स्वरूप है। वह मानवता की नित्य माता है। भगवान् राम–कृष्ण, भीष्म–युधिष्ठिर, कर्ण–अर्जुन, बुद्ध–महावीर, शङ्कर–रामानुज, गाँधी–मालवीय आदि जगत् के सभी बड़े–बड़े पुरुषों को नारी ने ही सृजन किया और बनाया है। उसका जीवन क्षणिक वैषयिक आनन्द के लिये नहीं, वह तो जगत् को प्रतिक्षण आनन्द प्रदान करने वाली स्नेहमयी जननी है। उसमें प्रधानता है प्राणों की, हृदय की।

वेदशास्त्र विहित सोलह प्रकार की माताओं का उल्लेख है –

**स्तन्यदात्री गर्भधात्री भक्ष्यदात्री गुरुप्रिया।**
**अभीष्टदेवपत्नी च पितुः पत्नी च कन्यका।।**
**सगर्भजा च या भगिनी स्वामिपत्नी प्रियाप्रसूः।**
**मातुर्माता पितुर्माता सोदरस्य प्रिया तथा।।**
**मातुः पितुश्च भगिनी मातुलानी तथैव च।**
**जनानां वेदविहिता मातर षोडश स्मृताः।।**

अर्थात् दूध पिलाने वाली, गर्भ धारण करने वाली, भोजन देने वाली, गुरुपत्नी, इष्टदेव की पत्नी, सौतेली माँ, सौतेली माँ की पुत्री, सगी बड़ी बहन, स्वामी की पत्नी, सास, नानी, दादी, सगे बड़े भाई की पत्नी, मौसी, बूआ और मामी, ये सब मिलकर सोलह माताएँ हैं।

प्रातः स्मरणीया मा शारदा और कस्तूरबा तो आधुनिक युग की ज्योतिष्मती देवियाँ थीं। वे अशिक्षित थीं, विद्यालय की कोई उपाधि उनके पास नहीं थी, परन्तु अपने रागनिर्गत अनुराग–सुधा से विश्व को आप्लावित करके वे माताएँ आज भी मानो भारतीय नारी आदर्श की संरक्षा कर रही हैं। ये माताएँ समाज में अपना स्थान खोजने नहीं गयी थीं, वरन् समाज, ही वात्सल्य का

भिखारी होकर उनके आँचल की छाया में अभयदान माँगने जाता था। वासना और तृप्ति का उनके जीवन में कोई स्थान नहीं था। इसीलिए तो माता का स्थान स्वर्ग से भी ऊँचा है –

**जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।**

कवियों के ये उद्गार 'माँ' के प्रति –

**'माँ' जब मुझको कहा पुरुष ने, तुच्छ हो गये देव सभी।**
**इतना आदर, इतनी महिमा, इति श्रद्धा कहाँ कभी?**
**उमड़ा स्नेह सिन्धु अन्तर में, डूब गयी आसक्ति अपार।**
**देह, गेह, अपमान, क्लेश, छिः, विजयी मेरा शाश्वत प्यार।।**

जाति व्यक्ति समाज और देश का सौभाग्य सच्ची हितैषिणी माता के ऊपर निर्भर है। अतः सभी का मुख्य कर्तव्य है कि वे परमधर्म समझकर माता की सेवा–शुश्रुषा अवश्य करें जिससे इस लोक में यश और परलोक में सुख प्राप्य हो।

प्राकृती मानवी माता के समान देवमाता भी पूजनीय है। परब्रह्मरूपिणी जगज्जननी श्री दुर्गा देवी ही विश्व परमाराध्या अम्बा है –

**प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य**

ये ही जगदम्बा समस्त प्रणियों में मातृरूप अवस्थित है और मानव क्या देवता भी बार–बार उनका नमन करते हैं –

**या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।**
**नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।**

यजुर्वेद में कहा है कि 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च, अर्थात् वे जगदम्बा एक है, पर भक्तानुग्रह–विग्रहरूप में अनेक रूपों को धारण करती है। वे ही नारायणीरूप में श्री और लक्ष्मी हैं।

भक्तों के शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक विद्या–बुद्धि एवं आर्थिक–सम्पत्ति प्रदान करने के निमित्त वे महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती – इन तीन रूपों को धारण करती है। गृहप्रतिष्ठा, विवाह आदि अवसरों पर भक्तजन प्रार्थना करते हैं –

**ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।**
**वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्त मातरः।।**

लौकिकं व्यवहार के लिये तीनों देवियों की उपासना करते हैं। उचित

है क्योंकि उसके अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों सिद्ध होते हैं और धर्म होता है– **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।''** जिस पर सरस्वती की कृपा होती है, उस पर महाकाली 'युद्ध की प्रधान देवी' तथा महालक्ष्मी (साधना की देवी) स्वयं प्रसन्न हो जाती हैं।

शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री – ये नौ रूप उन्हीं आद्या माता के हैं, जिनकी आराधना चैत्र एवं आश्विनी के शुक्लपक्ष के पहले नौ दिनों में होती है। ये ही नवदुर्गा कहलाती हैं। महाविद्यास्वरूपिणी इन्हीं भगवती के काली, तारा, षोडश, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातङ्गी और कमला – ये दस नाम प्रसिद्ध हैं। तन्त्रशास्त्र के पारङ्गत विद्वान् भक्त साधक इनकी आराधना अनुष्ठान करके अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। माताओं के अवतार इस प्रकार हैं –

**कृष्णरूपा कालिका स्याद् रामरूपा च तारिणी।**
**बगला कूर्ममूर्तिः स्यान्मीनो धूमावती भवेत्।।**
**छिन्नमस्ता नृसिंहः स्याद् वराहश्चैव भैरवी।**
**सुन्दरी जामदग्न्यः स्याद् वामनो भुवनेश्वरी।।**
**कमला बुद्धरूपा स्याद् दुर्गा स्यात्कल्किरूपिणी।**
**स्वयं भगवती काली कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।।**
**स्वयं च भगवान् कृष्णः कालीरूपोऽभवद् व्रजे।**

भगवती कालिका कृष्णरूपा है, देवी तारिणी श्रीराम स्वरूपा है, बगलामुखी देवी कूर्मावतार की मूर्ति है, धूमावती मीनावतार है। सुन्दरी देवी परशुराम और भुवनेश्वरी वामन की स्वरूपभूता है। भगवती कमला बुद्धरूपा तथा दुर्गा कल्किरूपिणी है। श्रीकृष्ण तो साक्षात् षोडशकलापूर्ण भगवान् हैं। कालीरूप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ब्रज में प्रकट हुए। इस प्रकार मत्स्यादि दस प्रधान अवतार लेकर मातृशक्ति दुर्जन–दमन और सज्जनसंरक्षण रूप लोक का कल्याण करती हैं। यज्ञादि शुभ कार्यों में मण्डप के मध्य अग्निकोण में वेद की विधि से अथवा तन्त्रोक्त रीति से श्रीगणपति के सहित सोलह माताओं का पूजन किया जाता है। ये सोलह माताएँ हैं –

**गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।**
**देवसेना स्वधा स्वाहा शान्तिः पुष्टिर्धृतिः क्षमा।।**
**आत्मनो देवताश्चैव तथैव कुलदेवता।**

देवियाँ इस प्रकार हैं –

१. गौरी अर्थात् योग–धैर्य–सौन्दर्य आदि गुणों की अधिष्ठात्री।
२. पद्मा अर्थात् धन–सम्पत्ति आदि की अधिष्ठात्री।
३. शची अर्थात् बाल–वीर्यादि विविध कामनाओं की अधिष्ठात्री।
४. मेधा अर्थात् शास्त्र–तत्त्वज्ञान की अधिष्ठात्री।
५. सावित्री अर्थात् संसार की सृष्टि क्रिया की अधिष्ठात्री।
६. विजया अर्थात् कामादि आन्तर रिपु विजय की अधिष्ठात्री।
७. जया अर्थात् बाह्य शत्रुओं पर जय की अधिष्ठात्री।
८. देवसेना अर्थात् सैन्य–सञ्चालन–कौशल की अधिष्ठात्री।
९. स्वधा अर्थात् पितरों के श्राद्धादि की अधिष्ठात्री।
१०. स्वाहा अर्थात् देवताओं के यज्ञादि की अधिष्ठात्री।
११. शान्ति अर्थात् योगियों के चित्तोपशम की अधिष्ठात्री।
१२. पुष्टि अर्थात् भोगियों की भोग प्राप्ति की अधिष्ठात्री।
१३. धृति अर्थात् जगत् की पालन–क्रिया की अधिष्ठात्री।
१४. क्षमा अर्थात् विश्वव्याप्त वात्सल्य की अधिष्ठात्री।
१५. इष्टदेवी यथा पार्वती जी, लक्ष्मी जी, सरस्वती जी।
१६. कुलदेवी यथा शाकम्भरी।

विष्णुमाया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, शान्ति, जाति, लज्जा, क्षान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ, भ्रान्ति, व्याप्ति और चिति – ये तेईस रूप उसी एक जगदम्बा को अनेक कायव्यूह से है, जिसके प्रति शुम्भदैत्य – निराकृत देवताओं ने प्राचीन काल में प्रणाम–अञ्जलियाँ समर्पित की थीं।

अकारादि प्रत्येक अक्षर में अपनी अलौकिक शक्ति से विराजमान जगदम्बा वर्ण–मातृकाओं के रूप में योगियों द्वारा पूजित होती है।

वास्तुपूजा के अवसर पर मण्डप के वायुकोण में तथा अन्य शुभ कृत्यों में मण्डप के नैर्ऋत्यकोण में सम्पूजित, जगदम्बा की अंशस्वरूपिणी चौंसठ योगिनियों का उल्लेख आता है। कर्मठों द्वारा उपासिता ये योगिनियाँ यजमान द्वारा पूजित और प्रसन्न हों, मनोवाञ्छित फल देकर भक्त को कृतार्थ करती हैं। ये सब विविध नाम रूप केवल एक जगदम्बा श्रीदुर्गादेवी के ही नामान्तर और रूपान्तर हैं। उनकी उक्ति है –

**एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।**

जो कोई उनकी स्तुति करता है, विविध उपचारों से उनकी पूजा करता है तो वे वत्सला परमाम्बा धन–सन्तति देकर ऐहलौकिक कामनाओं को पूर्ण कर देती है और साधकों को सद्बुद्धि देकर परमार्थिक आनन्द प्राप्त करा देती है –

**स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्गन्धधूपादिभिस्तथा।**
**ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे तथा शुभम्।।**

अतः स्पष्ट है कि देवमाताओं के अतिरिक्त जिन साधारण मातृशक्तियों ने राष्ट्र का संरक्षण किया है तथा त्याग, तपस्या, सात्त्विकता, सेवा, भगवद्भक्ति आदि के द्वारा इतिहास के पृष्ठों को अलंकृत करते हुए आदर्श स्थापित किया है, वे जगन्माता की विशिष्ट विभूतियाँ हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने आज्ञा दी है –

**भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः**
**बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्याः . . .**

पति, भ्राता, पिता, कुटुम्बी, सास, ससुर, देवर, बन्धु–बान्धव – इस प्रकार स्त्री के सभी सम्बन्धियों का कर्त्तव्य है कि उसका सभी प्रकार सम्मान करें।

सती अनुसूया की आशीर्वादात्मिका आज्ञा के उत्तर में पतिपरायणा सीता ने **'मातृवद्वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित्'** कहकर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि धर्मज्ञ राम परनारी के प्रति माता–सरीखा व्यवहार करते हैं। भगवती श्रुति की घोषणा में मातृदेवता से भक्त वनो का आदेश है। इसी घोषणा में माता की आराधना का विधान है। नारी तो जगदम्बिका है, वह तो सबकी जननी है, अतः उसकी जो निन्दा करता है, वह तो अपनी उस जननी की निन्दा करता है, जिसके शरीर में समस्त तीर्थों का निवास है। इसीलिए कहा है कि दरिद्र हो, रोगी या देशान्तर गया हो, माता के दर्शन मात्र से व्यक्ति परम सुख को प्राप्त करता है–

**दरिद्रो वापि रोगी वा देशान्तरगतोऽपि वा।**
**मातुर्दर्शनमात्रेण लभन्ते परमं सुखम्।।**

# षष्ठ अध्याय
# भारतीय नारी और वृक्ष

**विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं,**
**विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्।**
**विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति,**
**विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः।।**

विश्वेश्वरि, तुम विश्व का पालन करती हो, विश्वात्मिका हो, अतः समस्त विश्व को धारण करती हो। तुम विश्वाधिपति की भी वन्दनीया हो। जो लोग भक्तिपूर्वक तुम्हारे सामने सिर झुकाते हैं, वे सम्पूर्ण विश्व के आश्रयरूप हो जाते हैं।

अशेष वैषम्यमय नियतपरिणामशील विश्वप्रपञ्च के बहिरावरण भेद करके जिनकी सूक्ष्म दृष्टि इसके प्राणों के भीतर प्रवेश कर गयी है, जीव–जगत् के बाह्य परिचय से तृप्त न होकर जिन्होंने इसके अन्तर्निहित सत्य का अनुसन्धान किया है और वह सत्य जिनकी अनुभूति के समक्ष प्रकट हो गया है, उनके लिए यह विश्व--जगत् ही एक अभिनव स्वरूप में प्रकाशित हो जाता है। उन्होंने देखा है कि एक अद्वितीय महामहिमा–मण्डिता, विचित्राभरण–शोभिता सच्चित् प्रेमानन्दमयी, महाशक्ति इस विश्व–प्रपञ्च के रूप में नित्य नवायमान आकृति–प्रकृति के साथ अपने को अभिव्यक्त करके अनादि–अनन्तकाल अपने ही साथ आप खेल रही है। वे जो कुछ देखते हैं, जो सुनते हैं, जो स्पर्श करते हैं, जो आस्वादन करते हैं, सभी में एक विचित्र विलास–निपुणा चैतन्यमयी महाशक्ति का नित्य नया परिचय प्राप्त करते हैं। सभी रूपों में वे उस महाशक्ति के ही सौन्दर्य को देखते हैं, समस्त रसों में उसी के माधुर्य का आस्वादन करते हैं, समस्त शब्दों में उसी की वाणी सुनते हैं, समस्त गन्धों में उसी की अङ्ग–गन्ध सूँघते हैं और सभी स्पर्शों में उसी के स्नेह–सरस, कोमल, दिव्य स्पर्श का अनुभव करते हैं। आनन्द ज्ञान, अनन्त प्रेम, अनन्त वीर्य, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त सौन्दर्य–माधुर्य, अनन्त आनन्द और शान्ति की अक्षय, अव्यय, अटूट भण्डार और उद्‌गम स्थानरूपा यह अद्वितीय महाशक्ति अपने को ही इस बहुधा विभक्त जगत् के रूप में प्रकट करके

और अपने ही अङ्गीभूत इस जगत् में विचित्र ज्ञान–प्रेम–वीर्य–ऐश्वर्य का खेल खेलकर अनादि अनन्तकाल नित्य–नूतन रूप में आप ही अपना आस्वादन कर रही है– यह सुमहान् दृश्य उनकी दृष्टि के सम्मुख समुज्ज्वल रूप में प्रकट हो जाता है।

भारतीय साधकों ने इस विश्व प्रकृति की–विश्व–जननी–विश्वरूपिणी महाशक्ति की अशेष सौन्दर्यमयी नारी के रूप में और परम कल्याणमयी जननी के रूप में उपलब्धि की है। भारतीय तत्त्वदर्शी साधकों ने विश्वविधायिनी अनन्त–वैचित्र्यप्रसादिनी महाशक्ति का एक ऐसी महानारी के रूप में साक्षात्कार किया था। उस महानारी में कर्मशक्ति और ज्ञानशक्ति, शासनशक्ति और संरक्षणशक्ति, उत्पादिनीशक्ति और संघटिनी शक्ति सभी नित्य परिपूर्णता में प्रतिष्ठित है। अतएव वह प्रेम, सौन्दर्य, माधुर्य और आनन्द से मण्डित होकर प्रकट है। कर्मक्षेत्र में उसका हिंसा–भाजन कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, उसके ज्ञान में कोई आवरण तथा विक्षेप नहीं है, उसकी सङ्कल्प सिद्धि में कोई अन्तराय नहीं है, उसमें अपने–पराये का भेद नहीं है। देवता और असुर सभी उसकी सन्तान हैं, मनुष्य, पशु–पक्षी, कीट–पतंग सभी को उसने प्रसव किया है। सबकी सब प्रकार की शक्तियों में उसी की शक्ति खण्ड–खण्ड रूप से लीला कर रही है। अतएव शान्ति और आनन्द, प्रेम और कोमलता, धीरता और स्थिरता एवं सौन्दर्य और माधुर्य उसके प्रत्येक अङ्ग–प्रत्यङ्ग में नित्य निवास करते हैं। इसीलिए उसकी रमणीय रमणी–मूर्ति है।

किसी भी राष्ट्र का निर्माण अकेले पुरुष पर नहीं हो सकता। पुरुष और नारी – दोनों ही महानता के समान अधिकारी हैं और मानव–समाज की समुन्नति दोनों के ही समान सम्मान पर निर्भर करती आयी हैं। किसी भी युग में किसी समाज ने उत्कर्ष–प्राप्ति में नारियों के सम्मान की अवहेलना का कोई भाव प्रदर्शित नहीं किया और न ही असभ्यावस्था में नारियों की उपयोगिता किसी रूप में कम की जा सकी। राष्ट्र की स्त्रियाँ पत्नी रूप में पतियों को साहस प्रदान करती हैं तथा मातृरूप से भावी सन्तति को इस प्रकार शिक्षित करती हैं जिससे कि वह स्वतन्त्रता, आत्म–सम्पन्न और आचरण की उच्चता के लिए किए गए हमारे प्रयत्नों का अनुगमन कर सके। कोई भी पक्षी एक पंख से उड़ने की क्षमता नहीं रखता, इसी प्रकार कोई भी राष्ट्र स्त्री और पुरुष–दोनों में से केवल किसी एक वर्ग के द्वारा उन्नत नहीं हो सकता। हम अभिन्न नहीं हैं, हममें भिन्नताएँ हैं,

किन्तु ऐसी भिन्नताओं में, जो एक दूसरे की विरोधिनी न होकर परस्पर पूरक का काम करती है। देवी के बिना देव नहीं, उसी प्रकार स्थूल तत्त्व के बिना चेतन तत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। चेतन तत्त्व स्थूल को चेतना देता है तथा स्थूल चेतना को साकार रूप। एतद्कारण भारतीय मनीषियों ने नारी को केवल साधारणतः, दुर्बलता, कोमलता, स्नेह–ममता, पुरुषसेवा–परायणता की प्रतिमा में ही नहीं देखा अपितु नारी की कोमलता और मधुरता में उन्होंने महाशक्ति का प्रकाश देखा। नारी को शक्तिस्वरूपिणी बताया।

शारीरिक रचना की दृष्टि से पुरुष एवं नारी अपनी पूर्णता के लिए एक–दूसरे पर अवलम्बित हैं और दोनों का पारस्परिक पूर्ण सहयोग ही समाज के विभिन्न क्षेत्रों में विकास को संभव बनाता है। फिर भी विकास क्षेत्र में नारियों का योगदान पुरुषों की अपेक्षा अधिक है। वीर्य और ऐश्वर्य का सौन्दर्य और माधुर्य रूप में प्रकाश ही नारीत्व है। नारी के अङ्ग–प्रत्यङ्ग में सौन्दर्य और माधुर्य, कोमलता और सहिष्णुता गुण–समूह लीला कर रहे हैं। अन्तर में अनन्त शक्ति का आधार है, इसी से नारी पुरुष को गर्भ में धारण करती है, महान् वीर्य सम्पन्न पुरुषों को जन्म देती है। नारी पुरुष की जननी है, पौरुष की जननी है। नारी शक्ति से ही विश्व की समस्त शक्तियों का जन्म होता है, समस्त खण्ड–शक्तियों का उद्भव होता है, फिर जब प्रत्येक खण्डशक्ति नारी–शक्ति में उन्नीत होती है– तभी उसकी पूर्णता सुखसम्पन्न होती है। विपरीत परिस्थितियों में भी कष्ट सहन करने, संवेदनशील एवं लालन–पालन करने में विशेष गुणों से मण्डित है। इतना ही नहीं इस तत्त्वसाधिका महाशक्ति ने जब प्रकृति–प्रदत्त धरोहर के पालन–पोषण में महती भूमिका निभाने का एक समुज्ज्वल, स्वर्णिम इतिहास भारतीय साहित्य में अंकित किया, उस समय स्मृतिकार को कहना पड़ा –

**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**
**यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।**

इतिहास के पन्ने खोलें तो एक ऐसी अमूल्य निधि पाते हैं जहाँ स्वयं कष्ट सहकर पेड़–पौधों, वनस्पतियों एवं वृक्षों की रक्षा करने के लिए भारतीय नारियों ने अनेक उदाहरणों से स्वयं को मण्डित किया है।

वस्तुतः वृक्षों से भारतीय नारी का भावात्मक सम्बन्ध है। समर्पित भाव से वृक्षों की सेवा, उनकी पूजा और संरक्षण प्रकृति को प्राणयुक्त मानने की विचारधारा को पल्लवित करता है। वृक्षारोपण, वृक्षों की देखभाल और संरक्षण

करना – ये सब प्रेरणाएँ मानों उन्हें सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्राप्त हुई हैं। भारतीय महिलाएँ – चाहे निरक्षर हों या साक्षर, वृक्षों को अपना संगी–साथी मानकर भावात्मक रूप से अंगीकार करती हुई इतिहास के पन्नों में दिखाई देती हैं। अपने प्रत्येक प्रकार, रूप और दशा में आज भी अनन्वयालङ्कार का विषय बनी हुई हैं। उसकी महनीय विलक्षणता तो इसी में सन्निहित है कि वह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों क्षेत्रों में सती, साध्वी और तपस्विनी बनी हुई है। वैज्ञानिक क्षेत्र में वैदिक मुनि–पत्नियों और ब्रह्मवादिनी देवियों की ज्ञान–परम्परा और अनेकों ऋषिकल्प मन्त्राविष्कारिणी मुनि–कन्याओं की अलौकिक प्रतिभा आज भी तत्त्वज्ञों और मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में भारतीय नारी की विचारधारा और कल्पना–सृष्टि में जीवित है। उसके रग–रेशे में आज भी उसकी अपनी लोकोत्तर प्राचीन दैवी भावनाएँ और अलौकिक उदात्त परम्पराएँ नामशेष नहीं हुई हैं। साहित्य के प्रत्येक पन्ने में नव–नव्य परिकल्पनाओं में हमें भारतीय नारी के दर्शन होते हैं। रामायण, महाभारत, पुराण ऐसे महाकाव्य हैं जो भारतीय संस्कृति के उपजीव्य ग्रन्थ हैं। इनके रचयिता भी पर्यावरण को पल्लवित, पुष्पित करने के लिए सजग थे। वाल्मीकि और व्यास ऐसे महाकवि हैं जिन्होंने अरण्य–कुटियों में निवास किया, झरनों का कलकल नाद सुना, कलिकाओं का आमोद वितरण देखा और शीतल मन्द–सुगन्ध पवन का वहन अनुभव किया। प्रकृति की नैसर्गिक सुषमा ने उन्हें जन्म से ही आवृत्त किया। ऐसी परिस्थिति में प्रकृति की ओर झुकाव स्वाभाविक है। इसी परम्परा को कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने आगे बढ़ाया और प्रकृति का विविध विवेचन किया। इसी परम्परा में वैदिक ऋषियों ने देवत्व के दर्शन किए, वाल्मीकि उसके प्रत्येक रूप पर नाच उठे, वही प्रकृति कालिदास के लिए संश्लिष्ट सौन्दर्य लेकर उपस्थित हुई। कालिदास प्रकृति के सूक्ष्म द्रष्टा हैं। 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' उनके प्राकृतिक वर्णन की सुन्दर रचनाएँ हैं, जिसमें प्रकृति जीवन के स्पन्दन के साथ–साथ सजीव प्रतीत होती है और मनुष्य को नयी शक्ति प्रदान करती हैं। कालिदास की पार्वती और शकुन्तला निसर्ग कन्याएँ हैं जिनका निर्माण प्रकृति के सौन्दर्य तत्त्वों से हुआ है।

महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के चतुर्थ–अङ्क में प्रकृति वर्णन सूक्ष्म और हृदयग्राही है। कण्व के आश्रम में भारतीय चिन्तन के अनुरूप प्रकृति और जीवन समरस हैं, उनमें आत्मीय सम्बन्धों की अपूर्व स्थिति है। वृक्षों को जीवधारी बताया है। दुष्यन्त से विवाह के पश्चात् शकुन्तला के विदा के

अवसर पर कण्व ऋषि भाव–विभोर होकर तपोवन के वृक्षों, पादपों और लता–पुष्पों को विदा करने को कहते हैं। कण्व ऋषि का वृक्षों को किया गया सम्बोधन उन्हें जीवधारी सिद्ध करता है। उस समय मानवीय भावनाओं की कोमलतम अभिव्यक्ति, प्रकृति की साहचर्य भावना की सुकुमारता से तादात्म्य स्थापित कर काव्यात्मक सौन्दर्य को लेकर उपस्थित हुई है। प्रकृति को इंगित कर ऋषि का कथन है –

**पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या**
**आदत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।**
**आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमय यस्या भवत्युत्सवः**
**सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।**

अर्थात् हे वृक्षों, तुम्हें सींचने के पहले जिसने स्वयं पानी नहीं पिया, आभूषण प्रिय होने पर भी जिसने स्नेहवश तुम्हारे पत्ते नहीं तोड़े, नवीन कलियों के उद्भव के समय जो उत्सव मनाया करती थीं, वे शकुन्तला आज पतिगृह को जा रही है, तुम सब मिलकर उसको आज्ञा दो। अचेतन प्राणियों के प्रति चेतन मानव की आत्मीयता और पर्यावरण का सुन्दर उदाहरण है।

इतना ही नहीं शकुन्तला की विदाई के अवसर पर वृक्ष उसे मांगलिक वस्त्र प्रदान करते हैं। वह नवमालिका और सहकार के विवाह की बात करती है और अनसूया का यह कथन कि पिता कश्यप को आश्रम वृक्ष और लतापुष्प शकुन्तला से भी अधिक प्रिय है। शकुन्तला का यह कथन कि मेरा भी तो इन वृक्षों के साथ सगे भाई जैसा स्नेह है, सम्बन्धों की अभिव्यक्ति का प्रतीक है।

यद्यपि पौराणिक काल की शकुन्तला के समय में पारिस्थितिकी असंतुलन एवं अशुद्ध पर्यावरण जैसी कोई समस्या नहीं थी, फिर भी भविष्य–द्रष्टा कवियों के मस्तिष्क में अवश्य ही यह धारणा रही होगी कि मानव–अस्तित्व के लिए पर्यावरण का शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। दो सहस्र पूर्व शकुन्तला का वृक्ष पालन भारतीय संस्कृति की उज्ज्वल छवि के रूप में विश्व प्रसिद्ध है। शकुन्तला की सखियाँ प्रियंवदा एवं अनसूया छोटी गगरियाँ लेकर सदैव वृक्षों को सींचती थी–

**सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।**
**विश्वासाय विहङ्गनामालबालाम्बुपायिनाम्।।**

**(अभिज्ञानशाकुन्तलम्)**

अर्थात् ऋषि कन्याएँ वृक्षों की जड़ों में पानी देकर वहाँ से हट गयी थीं। जिससे आश्रम के पक्षी जन वृक्षों की भाँति थावलों का जल निःशङ्क होकर पी सकें।

ऋषि कन्याओं द्वारा सम्पन्न वृक्ष–संरक्षण कार्य भारतीय लोक भावना का प्रतिनिधित्व करता है। वह केवल किसी आदेश या निर्देश के पालन में यह कार्य नहीं करती थीं, बल्कि स्वयं वृक्षों को अपने सहोदर जैसा स्नेह करने की ललक उसके हृदय में प्रकृति–प्रदत्त थी।

'रघुवंश' में कालिदास रघु के यश के वर्णन भी प्रकृति में व्याप्त देखते हैं। तभी तो वह लिखते हैं कि हंसों की पंक्तियों में, नक्षत्रों में, कुमुद पुष्पों से भरे हुए जलाशयों में रघु के यश का ऐश्वर्य ही मानो फैला हुआ था। गन्ने की छाया में बैठी हुई धान की रखवाली करने वाली स्त्रियाँ अपनी रक्षा करने वाले राजा के गुणों के विकास की कथा का गान उसकी कुमारावस्था में आरम्भ करके गाती थीं–

**हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु।**
**विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव।।**
**इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।**
**आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्योजगुर्यशः।।**

**(रघुवंश, ४–१९, २०)**

स्पष्ट है कि पौराणिक काल की शकुन्तला जैसी नारी भी यह समझती थी कि वर्षा, भूमि के उर्वरता, क्षरण की रुकावट, हमारा भोजन, हमारा आच्छादन, हमारा सौन्दर्य, हमारा माधुर्य–सब कुछ इन वृक्षों में निहित है। वृक्ष जब पृथ्वी पर छत्र की तरह तनकर छा जाते हैं तो वे प्रदूषण को दूर भगाने वाले सजग प्रहरी की तरह दीख पड़ते हैं।

भारतीय दृष्टिकोण से ईश्वर की कर्तृत्व–शक्ति स्त्री स्वरूपा है। यही कारण है कि प्रत्येक दुःख एवं विपत्ति के समय समाज में समस्त देवता–आदर्श व्यक्ति प्राण पाने के लिए शक्ति को पुकारते हैं और जहाँ पुरुष वर्ग असफल सिद्ध होता है, वहाँ स्त्री वर्ग विजय प्राप्त करता है और असत् को दूर भगाकर सत् की पुनः प्रतिष्ठा करता है। जगत् में ईश्वर की इस शक्ति का प्रतीक नारी है, जिसका पावनतम और मधुरतम नाम 'माँ' है। नारी 'मातृदेवता' है। भारतीय संस्कृति ने उसको माता के रूप में उपस्थित कर इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि वह मानव के कामोपभोग की सामग्री न होकर उसकी वन्दनीया एवं

पूजनीया है। नारी को यह मातृत्व पुरुष के साथ समानता के सिद्धान्तानुसार किए गए किसी बँटवारे में नहीं मिला। शास्त्रीय दृष्टि में उसका यह मातृत्व दयामयी जगन्माता का प्रसाद है, जिसका रूप कहलाने का गौरव सारे नारी–समाज को प्राप्त हुआ हैं विष्णुपुराण की सूक्ति है –

**देवतिर्यङ्मनुष्येषु पुन्नामा भगवान् हरिः।**
**स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया ...............।।**

इसके अतिरिक्त जिन महिलाओं ने राष्ट्र का संरक्षण किया है तथा त्याग, तपस्या, सात्त्विकता, सेवा आदि के द्वारा इतिहास के पृष्ठों को अलंकृत करते हुए आदर्श स्थापित किया है, वे जगन्माता की विशिष्ट विभूतियाँ हैं। प्रत्येक स्त्री मातृत्व को प्राप्त कर अपने को पूर्ण मानती हैं। परन्तु कहीं–कहीं भाग्य प्रबल होता है। व्यक्ति हार जाता है। नारी 'माँ' नहीं बन पाती, वह निःसन्तान रह जाती है। अधिकांश स्त्रियाँ बन्ध्यत्व को अभिशाप समझती हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वात्सल्य के रूप में अपनी दिव्यता को प्रकट करने से यह उन्हें वञ्चित रखता है। परन्तु भारतीय दर्शन नैराश्यवाद का नहीं है, उसमें सदैव उत्तरोत्तर विश्वास और उन्नति का मार्ग है। शास्त्रों में हमें ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं, जिसके पालन से सारे कष्ट दूर हो जाते हैं। 'अग्निपुराण' का यह श्लोक देखें जहाँ नारी 'माँ' कहलाने के सुख से वंचित नहीं रह सकती –

**कि धर्म्मविमुखैर्म्मर्त्यैः केवलं स्वार्थ हेतुभिः।**
**वरुपुत्रा वरं ये तु परार्थैकानुवृत्तयः।।**
**पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।**
**परेषासुपकुर्व्वन्ति तारयन्ति पितामहान्।**
**छेत्तारमपि संप्राप्तं छायापुष्पफलादिभिः।**
**पूजयन्त्येव तरवो मुनिवेद्वषवर्जिताः।।**
**पितरं नीपहिंसन्ति द्रुमा द्रविणलोभतः।**
**तारयन्ति च मे सम्यक् सर्व्वस्यातिशयदायकाः।।**
**तस्मात्ते पुत्रवत् स्थाप्या विधिवद्द्विजपुङ्गव।**
**द्विजैः पितृमनुष्याणामभोज्याः स्युर्यदा सदा।।**
**जलकृत् वृक्षरोपी यः प्रतिग्राहारुचिर्हिजः।**
**एते स्वर्गान्न हीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः।।**

**(वह्निपुराण तड़ागप्रशंसा अध्याय)**

स्वार्थी तथा धर्महीन पुत्रों से मनुष्य को क्या लाभ? अर्थात् कुछ नहीं। उससे श्रेष्ठ तो वृक्षरूपी पुत्र है जो निःस्वार्थ रूप से उसको सदा छाया, पुष्प, फल प्रदान करते हैं। अपने पितामहों का संसार सागर से उद्धार करते हैं। वह अपने को काटने वाले को भी मुनि के समान द्वेष रहित होकर छाया, फल–फलादि से पूजते हैं। वृक्ष मनुष्य के समान धन के लोभ से अपने पितरों की हिंसा नहीं करते हैं, वह तो अपने समीप आने वालों का उचित रूप से आतिथ्य–सत्कार करते हैं तथा उनका उद्धार करते हैं। इसीलिए हे द्विजश्रेष्ठ, वृक्षों को सदा पुत्रवत् विधिवत् लगाकर उनका उचित पालन–पोषण करना चाहिए। जब सदा पितृगण मनुष्यों को ब्राह्मण अभोज्य होते हैं, जलदान देने वाला, वृक्षों को लगाने वाले तथा ब्राह्मण ये प्रतिग्राह में रुचि नहीं रखते अर्थात् निःस्वार्थ भाव से कार्य करते हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व में भी कहा है कि जो वृक्ष लगाता है, उसके लिए ये वृक्ष पुत्ररूप होते हैं, इसमें संशय नहीं है। उन्हीं के कारण परलोक में जाने पर स्वर्ग तथा अक्षय लोक प्राप्त होता है –

**तस्य पुत्रा भवन्त्येते पादपा नात्र संशयः।**
**परलोकगतः स्वर्गलोकांश्चाप्नोति सोऽव्ययान्।।**

वृक्षों की तुलना पुत्र से की है कि फूलों से युक्त और सुगन्ध से भरे अकेले ही सुन्दर वृक्ष से सारा वन उसी प्रकार सुवासित हो जाता है जैसे अकेले सुपुत्र से वंश कीर्तियुक्त हो जाता है –

**एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।**
**वासितं वै वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा।।**

'वराहपुराण' में भी कहा है कि जिस प्रकार वंश में एक भी सुपुत्र अपने कुल का उद्धार कर लेता है, उसी प्रकार फल पुष्प वाले वृक्ष अपने स्वामि का नरक से उद्धार कर लेते हैं –

**यथा सुपुत्रः कुलमुद्धरेद्धि यथातित्रृतस्नान्नियमप्रयत्नात्।**
**तथात्र वृक्षाः फलपुष्पभूता स्वं स्वामिनं नरकादुद्धरन्ति।।**

भगवती पार्वती को अपने हाथ से लगाए गए देवदारु से कितना प्रेम हैं, इसे महाकवि कालिदास के शब्दों से जाना जा सकता है कि हे राजन्, वह जो तुम्हारे सामने बड़ा सा देवदारु का वृक्ष दिखाई दे रहा है, इसे शङ्कर अपने पुत्र के समान मानते हैं क्योंकि स्वयं पार्वती ने अपने वक्षस्थल के घटरूपी स्तनों के रस से सींच–सींचकर इसे इतना बड़ा किया है –

**अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।**
**यो हेमकुम्भस्तननिः सतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।।**

पार्वती इसे कितना प्यार करती है। एक बार एक जंगली हाथी ने आकर गण्डस्थल को रगड़ते हुए इस देवदारु वृक्ष की छाल उधेड़ डाली। इसके बाद पार्वती ने दैत्यों के अस्त्रों से चोट खाए हुए अपने पुत्र स्कन्द के समान इसके सम्बन्ध में भी शोक किया –

**कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।**
**अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः।।**

वस्तुतः भगवती पार्वती ने सम्भवतः यह सोचकर ही ऐसा किया होगा कि वृक्ष यही सन्देश देते हैं कि 'देना ही जीवन है' और उनका पुत्रवत् पालन करना नारी की मातृत्व भावना की पूर्ति करता है।

वृक्षों को पुत्रवत् पालन–पोषण करने में दधीचि पत्नी प्रातिथेयी (सुवर्चा) का स्थान भी अग्रगणी है। पति की सेवा में अहर्निश संलग्न रहने वाली प्रातिथेयी के लिए तपोवन का प्रत्येक प्राणी पुत्र की भाँति पालनीय था। वृक्षों और लताओं पर भी ये माता की भाँति स्नेह रखती थीं। वृक्ष और लताएँ भी प्रातिथेयी के लिए चेतन थे। तपोवन के वृक्ष भी प्रत्युपकार की भावना लिए माता को बिना माँगे ही आवश्यकतानुसार फल–फूल अर्पण करते थे। प्रातिथेयी के पुत्र का पीपल वृक्ष ने पालन किया था, जिससे इस बालक का नाम देवताओं ने पिप्पलाद रखा। पिप्पलाद ऋषि इसी पीपल वृक्ष के नीचे लोकों की हित कामना से बहुत काल तक तप में लीन रहे।

'मत्स्यपुराण' में कहा गया है कि जो स्त्री उपवास करके आम, आँवला, कैथ, बेर, कदम्ब, चम्पक, अशोक, पुनांग, जायफल, पीपल, केला, वट, अनार, नीम, महुआ आदि अनेक प्रकार के वृक्षों का दान करती हैं उसके दोनों स्तन कैथ के समान और दोनों जंघाएँ केले के सदृश सुन्दर होती हैं। वह अश्वत्थ (पीपल) के दान से वन्दनीय और नीम के दान से सुगन्धयुक्त होती है, वह चम्पा के दान से चम्पा की सी कान्ति वाली और अशोक के दान से शोकरहित होती है। महुआ के दान से मधुर–भाषिणी होती है और वट के दान से उसका शरीर कोमल होता है, बेर स्त्रियों के लिए सदा महान् सौभाग्यदायी होता है –

**आम्रामलकपित्थानि बदराणि तथैव च।**
**कदम्बचम्पकाशोकपुंनागविविधद्रुमान् ।।**

अश्वत्थपिप्पलांश्चैव कदलीवटदाडिमान्।
पिचुमन्दं मधूकं च उपोष्य स्त्री ददाति या।।
स्तनौ कपित्थसदृशावूरु च कदलीसमौ।
अश्वत्थे वन्दनीया च पिचुमन्दे सुगन्धिनी।।
चम्पके चम्पकाभा स्यादशोके शोकवर्जिता।
मधूके मधुरं वक्ति वटे च मृदुगात्रिका।।
बदरी सर्वदा स्त्रीणां महासौभाग्यदायिनी।
(मत्स्यपुराण, १८७/२९–३१)

इस प्रकार वृक्षों के दान से स्त्रियों के सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

### कविसमय –

भारतीय साहित्यशास्त्र में कवि–शिक्षा के अन्तर्गत आचार्यों ने ऐसी बहुत सी बातों का विवेचन किया है जो लोक, शास्त्र और देश–काल के विरुद्ध हैं, परन्तु कविगण परम्परा से प्राप्त रूढ़ अर्थ में उनका वर्णन करते हैं। 'काव्यालंकार' के रचयिता भामह और 'काव्यादर्श' के कर्ता दण्डी ने इन बातों को दोष कहा है। ये दोनों आचार्य देश, काल, कला, लोक–न्याय और आगम की विरोधी तथा प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त से हीन बातों को 'दोष' कहते हैं। दण्डी का मत है –

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभः।।

यहाँ दण्डी ने स्पष्ट ही इन दोषों को काव्य में 'वर्ज्य' भी कहा है। 'काव्यालंकार' के रचयिता वामन ने प्रथम बार इन दोनों के लिए 'काव्यसमय' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार देश, काल और स्वभाव के विरुद्ध अर्थ, लोक–विरुद्ध बातें, कला और चर्तुवर्ग तथा शास्त्र और विधाओं के विरुद्ध बातें दोष या काव्य–समय है –

देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि।
कलाचतुर्वर्गशास्त्र विरुद्धार्थानि विधाविरुद्धानि।।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम राजशेखर ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने वामन के 'काव्य–समय' से आगे बढ़कर 'कवि–समय' शब्द का प्रयोग किया और अलौकिक (लोक–विरुद्ध) तथा अशास्त्रीय 'शास्त्रविरुद्ध' बातों को भी स्वीकृति प्रदान करके, ऐसे वर्णनों को 'कवि–समय' की संज्ञा दी। राजशेखर

का कहना है कि प्राचीन काल के कवि परम्परा से जिन बातों का वर्णन करते आ रहे हैं, आज इस काल और देश में वे बातें नहीं मिलती तो भी उन्हें हम दोष नहीं कह सकते। जबकि शास्त्र अनन्त हैं, काल अनन्त है और देश भी अनन्त हैं। इसीलिए उन्होंने ऐसे वर्णनों के लिए एक शास्त्रीय शब्द'कवि–समय' प्रयोग किया और उन्हें मान्यता प्रदान की।

'कवि–समय' का शाब्दिक अर्थ है कवियों का आधार या सम्प्रदाय। राजशेखर ने अपने 'काव्यमीमांसा' नामक साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ में कवि–समय की परिभाषा देते हुए कहा है कि अशास्त्रीय (शास्त्रबहिर्भूत), अलौकिक (लोक में अज्ञात) तथा केवल परम्परा में प्रचलित जिस अर्थ का कवि–लोक वर्णन करते हैं, वह कवि–समय है –

**अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं ।**
**यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।**

इस प्रकार राजशेखर के मतानुसार यद्यपि देश, काल आदि के विरुद्ध बातों का वर्णन करना कवित्व का दोष है, तथापि कुछ ऐसी बातें कवि–जन परम्परा से वर्णन करते आए हें, जिन्हें निर्दोष मान लेना उचित है।

राजशेखर के परवर्ती आचार्यों में कवि–समयों का जो विवेचन किया है, वह प्रायः राजशेखर के आधार पर ही। इस सम्बन्ध में राजशेखर के परवर्ती आचार्यों में 'काव्यानुशासन' के कर्ता हेमचन्द्र, 'काव्यानुशासन' के ही रचयिता वाग्भट्ट, 'काव्यकल्पलता–वृत्ति' के कर्ता अमरचन्द्र, 'अलंकारशेखर' के रचयिता केशवमिश्र तथा हिन्दी के आचार्यों में केशवदास और जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के नाम उल्लेखनीय हैं। केशवदास ने अपनी 'कविप्रिया' में कवि–रीतियों के वर्णन में कहा है कि कवियों के वर्णन करने की कला होती है कि वे कभी सच्ची बात को झूठ और झूठा वर्णन करते हैं। तीसरे प्रकार के कवि ऐसे भी होते हें जो सब बातों का वर्णन नियमानुकूल करते हैं –

**साँची बात न बरनही, झूँठी बरननि बानि।**
**एकनि बरनैं नियम कै, कविमत त्रिविध बखानि।**

यहाँ केशव का अभिप्राय कवि–परिपाटी में परम्परागत द्वारा गृहीत कवि–समयों से ही है।

हिन्दी के साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कवि–समय की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनका आधार राजशेखर की परिभाषा ही है। 'हिन्दी–साहित्य–कोश' में

कवि–समय की परिभाषा इस प्रकार दी है – कवि–समय का अर्थ है कवि–समाज में प्राचीन परम्परा से मानी जाती हुई बातें और परिपाटियाँ। साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक 'शब्द–कोश' में राजेन्द्र द्विवेदी ने भी कवि–समय का ऐसा ही अर्थ दिया है – 'कवियों का आचार या सम्प्रदाय शास्त्र और लोक विरोधी वे बातें जिनका कवि–लोग परम्परा से वर्णन करते आ रहे हैं।' यथा अशोक वृक्ष में फल नहीं होते और सुन्दरियों के पदाघात से उसमें फूल आ जाते हैं, कामदेव के धनुष–बाण पुष्पों के होते हैं, कोकिल केवल वसन्त में ही कूंजती हैं आदि बातें बिना वैज्ञानिक परीक्षण के ही कवि–समाज में निश्चित चली आ रही हैं। इन्हें ही कवि–समय कहा जाता है।

**राजशेखर ने कवि–समय के तीन प्रधान भेद किए हैं –**

(क) स्वर्ग्य कवि–समय, (ख) पातालीय कवि–समय, और (ग) भौम कवि'समय।

(क) स्वर्ग्य कवि–समय के अन्तर्गत स्वर्ग लोक की बातों से सम्बन्धित काव्य प्रसिद्धियाँ आती हैं।

(ख) पातालीय कवि–समय के अन्तर्गत पाताल से सम्बन्धित प्रसिद्धियाँ आती हैं।

(ग) भौम कवि–समय के अन्तर्गत पृथ्वी–लोक से सम्बन्धित कवि–परिपाटियाँ आती हैं। इनका क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। इनके अनेक भेद–प्रभेद हैं। वृक्षों से सम्बन्धित चर्चा भी इसी कवि–समय के अन्तर्गत है।

**वृक्ष, लता–पुष्पादि सम्बन्धी कवि–समय –**

इस प्रकार के कवि–समयों की संख्या सर्वाधिक है। संस्कृत साहित्य में स्त्रियों के पदाघात तथा विभिन्न अंगों के स्पर्श से अशोक, बकुल, प्रियंगु, तिलक, कुरबक, मन्दार, चम्पक, आम, नमेरू और कर्णिकार में दोहर–संचार (पुष्पोद्‌भव) सम्बन्धी अनेक कवि–प्रसिद्धियाँ मिलती हैं। वस्तुत: कवि–समय में वृक्षों के दोहर–संचार के लिए स्त्रियों की कुछ क्रियाओं को कवि–समय मान लिया गया था।

यथा कर्पूरमंजरी में वर्णन आता है –

**कुखअअतिलअसोआ आलिंगणदसणग्गचरणहआ।**
**विअसन्ति कामिणीणं ता ताणं देहि दोहलअं।।**

रमणियों के आलिङ्गन से कुरबक, दृष्टिपात करने से तिलकवृक्ष और पाद–प्रहार से अशोकवृक्ष खिलता है। इसीलिए इन कुरवक, तिलक और अशोकवृक्ष का का दोहन (विशेष इच्छा) को पूर्ण करो।

'मेघदूत' में कालिदास लिखते हैं कि जिस उज्जयिनी नगरी में प्रातःकाल सारसों के सरस–मधुर कूंजन को बढ़ाती हुई प्रस्फुटित कमल के सौरभ से सुगन्धित तथा शरीर के अनुकूल शिप्रा नदी की हवा प्रार्थना करने में कुशल प्रियतम की भाँति स्त्रियों की सम्भोगजन्य परिश्रान्ति को दूर करती है –

**दीर्घीकुर्वन्पटुमदकलं कूजितं सारसानां**
**प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।**
**यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः**
**शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः।।**

स्वयं राजशेखर ने इस प्रकार के कवि–समयों को देश–काल–विरुद्ध नहीं माना है। एतत् सम्बन्धी कवि–समयों के अनुसार अशोक वृक्ष में फल नहीं होते और सुन्दरियों के पदाघात से विकसित हो जाते हैं –

**अशोकशाखी निखिलद्रुमेषु धन्यस्त्वया पादतलाहोऽयम्।**
**तेषां प्रसन्नो हि विलासबाणः क्रीडन्ति दासैरिव यैर्मृगाक्ष्यः।।**

समग्र वृक्षों में यह अशोक का वृक्ष तुम्हारे पाँव से ताड़ित होने से धन्य है। क्योंकि मृगनयनियाँ दासों के समान जिनके (वृक्षों या मनुष्यों के) साथ खेला करती हैं उन पर कामदेव प्रसन्न होता है। कामिनी की लात मारने से अशोक वृक्ष फूलने लगता है ऐसी कवि प्रसिद्धि है।

कर्णिकार वृक्ष के आगे स्त्रियों के नृत्य करने से उसमें फूल आते हैं। कुरबक स्त्रियों के आलिंगन से खिलता है। इसी प्रकार कवि–समयों में यह माना गया है कि चम्पक स्त्रियों के मृदु हास्य से, तिलक उनके वीक्षण मात्र से, मनेरु उनके गान से, प्रियंगु उनके स्पर्श से, मन्दार इनके नर्म काव्य से, वकुल उनकी मुख–मदिरा से सिंचकर और आम उनके मुख की वायु पाकर पुष्पित हो जाते हैं। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में इसी प्रकार का वर्णन आता है –

**अरोचकी पादपजातिमध्ये जाने नितान्तं बकुलद्रुमोऽयम्।**
**चैत्रेऽपि यः पुष्पविकासहेतोर्गण्डूषमाकाङ्क्षति मृगाक्षि।।**

हे मृगनयनी, वृक्ष जाति में अर्थात् सम्पूर्ण वृक्षों में यह मौलसिरी का पेड़ अत्यन्त रुचिहीन है। यह मैं जानता हूँ। परन्तु वह भी चैत्र में खूब फूले इस रुचि

से तुम्हारे मुख में भरी सुरा के गण्डूव की अभिलाषा करता है। मौलसरी के वृक्ष पर कामिनी के मुख की शराब का कुल्ला पड़ने से मौलसरी का वृक्ष फूलने लगता है, ऐसी कवि–प्रसिद्धि है।

वृक्ष–दोहद सम्बन्धी कवि–समयों के अतिरिक्त इस वर्ग में कवि–समयों में वृक्ष–लता–पुष्पादि–सम्बन्धी अन्य बातें भी आती हैं –

**तरुणो वि रूअरेहारहस्सेण फुल्लति, या उणा रइरहस्सं जाणन्ति।**

पेड़–पौधे भी नवयुवतियों के सौन्दर्य के प्रभाव से विकसित हो जाते हैं, यद्यपि ये वृक्ष रति–रहस्य के भेद को नहीं जानते।

इनके अनुसार कुमुद का वर्णन जलाशयों में ही होना चाहिए और वह दिन में नहीं खिलता, चन्दन में फूल और फल का वर्णन नहीं होना चाहिए और वह मलय पर्वत पर ही होता है तथा उसमें नाग लिपटे रहते हैं। नीलोत्पल का वर्णन भी जलाशय में ही होना चाहिए और वह भी दिन में नहीं खिलता। यथा नदी में नीलोत्पल के वर्णन का उदाहरण –

**गगनगमनलीलालम्भितास्वेदबिन्दून्**
**मृदुभिरनिलवारैः खेचराणां हरन्तीम्।**
**कुवलयवनकान्त्या जाह्नवीं सोऽभ्यपश्यद्**
**दिनपतिसुतयेव व्यक्तदत्ताङ्कपालीम्।।**

उसने गंगा नदी को देखा जो मृदुल हवाओं के द्वारा आकाशचारियों के आकाश में चलने से उत्पन्न स्वेद–बिन्दुओं को दूर कर रही थीं तथा कुवलयवन की कान्ति से ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो यमुना के द्वारा गोद में ली गई हों। इसमें गंगा के जल में नील–कमल का वर्णन किया गया है।

कमल दिन में ही खिलते हैं, उनके मुकुल नहीं होते, उनमें लक्ष्मी का वास होता है और हेमन्त–शिशिर को छोड़कर सभी ऋतुओं में उसका वर्णन होना चाहिए। जैसे –

**मालतीविमुखश्चैत्रो विकासी पुष्पसम्पदाम्।**
**आश्चर्यं जातिहीनस्य कथं सुमनसः प्रियः।।**

अर्थात् पुष्प सम्पत्ति को विकसित करने वाला चैत्र मालती–पुष्प से विमुख रहता है अर्थात् उसे विकसित नहीं करता। आश्चर्य है कि जाति विहीन वसन्त पुष्पों का कैसा प्रिय है?

चन्दन वृक्ष में फूल–फल का उदाहरण –

**यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलकुसुमवर्जितो विहितः।**
**निजवपुषैव परेषां तथापि सन्तापमपहरति।।**

अर्थात् यद्यपि चन्दनवृक्ष को ब्रह्मा ने फल—फूल से विहीन बनाया तथापि यह अपने शरीर से ही दूसरों के दुःख को दूर करता है। तीसरा उदाहरण अशोक में फल का वर्णन न करना है —

**दैवायत्ते हि फले किं क्रियतामेतदत्र तु वदामः।**
**नाऽशोकस्य किसलयैर्वृक्षान्तरपल्लवास्तुल्याः।।**

फल जो दैवाधीन है अतः इस विषय में क्या किया जाए, किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि अशोक के किसलयों के समान अन्य वृक्ष के पल्लव नहीं होते।

प्रियंगु के पुष्प पीले होते हैं, परन्तु उन्हें पीला नहीं बताना चाहिए। भूर्जपत्र का वर्णन हिमालय में ही होना चाहिए। मालती वर्ष में दो बार फूलती है और शेफालिका के पुष्प रात में ही झड़ते हैं।

मलयाचल पर ही चन्दन का होना —

**तापापहारचतुरो नागावासः सुरप्रियः।**
**नाऽन्यत्र मलयादद्रेर्दृश्यते चन्दनद्रुमः।।**

सन्ताप दूर करने में विदग्ध, नागों की आवासभूमि तथा देवताओं का प्रिय चन्दन—द्रुम मलयाद्रि के अतिरिक्त अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ता।

हिमालय पर ही भूर्जपत्रों की उत्पत्ति —

**न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।**
**व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेख क्रिययोपयोगम्।।**

जिस हिमालय पर गैरिक आदि धातुओं से जिन पर अक्षर लिखा जाता है ऐसे और हाथों के शरीर पर लगे लाल—बिन्दुओं के समान रक्तवर्ण भूर्जपत्र विद्याधारियों के प्रेम—पत्र लिखने में उपयुक्त होते हैं।

दिन में नीलकमलों का अविकसित होने का उदाहरण —

**आलिख्य तत्रमसितागुरुणाभिरामं**
**रामामुखे क्षणसभाजितचन्द्रबिम्बे।**
**जातः पुनर्विकसनावसरोऽयमस्ये—**
**त्युक्त्वा सखी कुवलयं श्रवणे चकार।।**

अर्थात् किसी सखी ने सायंकाल चन्द्रमा के समान सुन्दरी के मुख पर

अगरु से सुन्दर पत्र बनाकर कानों में यह कह कर कि इसके विकसित होने का सयमय आ गया नीलकमल बना दिया।

शेफालिका के कुसुमों का रात्रि में भ्रंशन वर्णन करना –

**त्वद्विप्रयोगे किरणैस्तथोग्रैर्दग्धाऽस्मि कृत्स्नं दिवसं सवित्रा।**
**इतीव दुःखं शशिने गदन्ती शेफालिका रोदति पुष्पवाष्पैः।।**

अर्थात् हे नाथ, आपके वियोग में सूर्य के द्वारा उग्र किरणों से दिन भर जलमयी हो गई हूँ। इस प्रकार चन्द्रमा से दुःख सुनाती हुई शेफालिका पुष्परूपी वाष्पों से रो रही है।

इस प्रकार वृक्ष–लता–पुष्पादि सम्बन्धी अनेक कवि–समय कवि–परम्परा में मिलते हैं। स्पष्ट है कि कवि–समय कवि–परम्परा द्वारा मान्य प्रसिद्धियाँ हैं और इन्हें दोष नहीं कहा जा सकता। कवि–समय कवि के प्रकृति–निरीक्षण और शास्त्रानुसंधान के परिचायक हैं तथा काव्य में इनका प्रयोग सौन्दर्य और चमत्कार की सृष्टि करता है। मूल रूप में भी इनका वर्णन शास्त्र विरुद्ध नहीं है, परम्परा का परिणाम या फल है। कवि–समयों में हमारी सांस्कृतिक परम्परा का सजीव चित्र भी मिलता है। वृक्ष–दोहन सम्बन्धी कवि–समय भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य–पक्ष का अच्छा उद्घाटन करते हैं। अन्य विषयक कवि–समयों में भारतीय कवियों के प्रकृति निरीक्षण, प्रकृति के प्रति उनके हृदय की समीपता तथा सौन्दर्य–कल्पना सम्बन्धी परिष्कृत रुचि का निदर्शन मिलता है। कवि–समयों के रूप में एक सुदीर्घ विचार परम्परा भी जीवन्त है और उससे अतीत से हमारा रागात्मक सम्बन्ध बना हुआ है। राजशेखर ने कवि–समय को इसीलिए कवि–मार्ग का उपकारक कहा है –

**कविमार्गानुग्राहीं कथमेष दोषः**

यदि प्राचीन काल में भारतीय–विदुषियों ने अपने मातृत्व के बल पर अथवा धार्मिक–संस्कारों की रक्षा करते हुए वृक्षों के प्रति अपना स्नेह–भाव प्रदर्शित किया है तो बीसवीं शताब्दी में भी अनेक महिलाओं ने वृक्षों के लिए अपने जीवन का बलिदान देकर ममता का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया और विश्व–इतिहास में अपना स्थान बनाया है। पाँच सौ वर्ष पूर्व जांभो जी ने जो उपदेश दिया था, उसी से प्रेरित होकर श्रीमती करमा एवं श्रीमती गौरा ने खेजड़ी वृक्षों की रक्षा करते हुए अपने प्राण न्यौच्छावर कर दिए थे। इसी प्रकार जोधपुर राज्य के तिलासणी गाँव में खेजड़ी वृक्ष की रक्षार्थ श्रीमती खींचगी खोखर एवं

श्रीमती नेतृनेणा ने अपने प्राण न्यौच्छावर कर दिए। महिलाओं द्वारा वृक्षों की रक्षा की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना 'खेजहली' गाँव में महिलाओं द्वारा सामूहिक बलिदान की है। उस गाँव में महिलाएँ खेजड़ी की रक्षा हेतु वृक्षों से चिपक गई थीं। अमृता देवी, दामी, चीमा आदि अनेक महिलाओं ने वृक्षों के लिए अपना जीवन बलिदान दे दिया। इससे स्पष्ट है कि महिलाएँ वृक्षारोपण ही नहीं करती अपितु उनकी रक्षा हेतु अपने प्राण भी न्यौच्छावर कर देती हैं। महिलाएँ इस तथ्य से अवगत हैं कि उनके द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले ये घरेलू कार्य प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा के बिना सम्पन्न नहीं हो जाएँगे।

भारतीय महिलाओं ने वृक्ष–परम्परा को जीवन्त बनाए रखने में विशेष योगदान दिया है। यदि वे वृक्षों के प्रति उपवास करती हैं तो यहाँ भी आज के युग की वैज्ञानिकता ही झलकती है जिसे प्राचीन मनीषियों ने अपने सूक्ष्म दृष्टि से बहुत पहले ही अनुभव कर लिया था। आश्रम और अरण्यों में निवास करने वाले ऋषि–मुनियों ने कभी प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ने नहीं दिया अपितु अपने स्नेह को अचेतन के प्रति उडेला और उसे चेतना के धरातल पर प्रतिष्ठित किया।

यह है भारतीय नारी की अवशिष्ट गौरवमयी परम्परा। किन्तु यदि यह आधुनिक दृष्टि से भी पूर्णत: शिक्षित होकर अपने वैदिक विशुद्ध श्रेयात्मक रूप में खड़ी हो जाए तो वह समाज की विचारात्मक और रचनात्मक सभी समस्याओं को हल कर सकती है। ब्रह्मा की सृष्टि में नारी अपूर्व वस्तु हैं, फिर चाहे वह किसी भी रूप में हो, किन्तु उसका मानव–रूप तो और भी विलक्षण है। इस रूप में तो वह ऐसी प्रतीत होती है मानो समस्त सृष्टि का सौन्दर्य–माधुर्य, सुख–शान्ति, लालन–पालन चाहे सन्तान का हो अथवा प्रकृति–प्रदत्त उपहारों का हो और रक्षणावेक्षण उसके अपने ही हाथ की वस्तु है। इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है कि नारी का भारतीय रूप तो न केवल अद्भुत अपितु लोकोत्तर महिमान्वित है।

किसी विद्वान् ने तो यहाँ तक कहा है कि विधि ने भारतेतर देशों की नारियों के निर्माण में जिस मृतिका का उपयोग किया है उससे भारतीय नारी की रचना नहीं हुई है, अपितु इसके लिए उसने किसी दूसरी ही दिव्य मृतिका से काम लिया है।

कदाचित् यह कथन भी असंगत नहीं है कि भारतीय नारी देखने में

प्राकृतिक मालूम होती हैं, परन्तु है वह असल में विशुद्ध पारमार्थिक तत्त्वों की बनी वस्तु। तभी तो वह अपने माता, भगिनी, पुत्री, पत्नी आदि विविध और विभिन्न रूपों में आज भी प्रतिमावत् पूज्य है।

'कुमारसम्भव' में भारतीय–नारी की इसी रूप–रेखा को कालिदास ने इन शब्दों में आरती उतारी है –

**इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपता समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।**
**अवाप्यते वा कथमन्मथा द्वयं तथाविधं प्रेमपतिश्च तादृशः।।**

(तप से सौन्दर्य को सफल बनाने की इच्छा क्या पवित्रता के विश्व की भी अनोखी बात नहीं है? दार्शनिकता की भी सीमा से बाहर की वस्तु नहीं है? परन्तु भारतीय नारी की तो यह नित्य की सुलभ लोक परम्परा है।)

# सप्तम् अध्याय
# नारियों के व्रत और त्यौहार

यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि संस्कृति किसी देश विशेष की सीमा में सीमित नहीं होती। निरन्तर प्रगतिशील मानव—जीवन प्रकृति और मानव समाज के जिन—जिन असंख्य प्रभावों और संस्कारों से प्रभावित होता रहता है उन सबके एक सामूहिक स्वरूप को ही आज हम संस्कृति के नाम से सम्बोधित करते हैं। ये संस्कार किसी एक निश्चित काल अथवा किसी एक देश विशेष के नहीं होते। युगों से मानव अनवरत चिन्तन और अनवरत कर्म के व्यापार में व्यापृत रहता आया है। इसका यह चिन्तन और इसके ये कर्म कभी प्राकृतिक प्रभाव से प्रभावित, कभी आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित एवं कभी नाना स्थलों के निवासियों के पारस्परिक सम्पर्क से सम्पन्न होते हैं। इन कामों में भले, बुरे, सुन्दर और असुन्दर — सब तरह के काम आ जाते हैं। प्रत्येक काम को हम संस्कृति नहीं कहते, पर जिन कामों की किसी देश विशेष के समस्त समाज पर एक अमिट छाप लग जाती है, वह छाप ही अन्त में उस देश अथवा उस देश के निवासियों की एक पृथक् संस्कृति बन जाती है।

भारतीय संस्कृति भी इस संस्कृति के नियम से रहित नहीं। भारतीय प्रदेश की यह विशेषता है कि इसने प्रकृति और मानव की प्रगति को अनुभूत करने का सबसे अधिक सौभाग्य प्राप्त किया है। यह महासागरों, महापर्वतों और महारण्यकों के प्रत्येक परिवर्तन को अपने एक कल्पनातीत में देख चुका है। यहाँ के निवासियों में मानव समाज के विभिन्न युगों में होने वाले प्रायः समस्त धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों की आवृत्तियों का कोई पार दिखायी नहीं देता। इसकी तपश्चर्या और इसकी नव निर्माण साधना का कोई मानदण्ड नहीं।

संक्षेप में कहने का तात्पर्य यही है कि इसके जीवन—सम्बन्धी ज्ञान—विज्ञान को किसी काल की मर्यादा में मर्यादित नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति इस अपरिमेय ज्ञान—विज्ञान की ही देन है और अतएव इसमें पद—पद पर त्रिकालव्यापी शाश्वत सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। वास्तव में व्रत, पर्व आदि भी हमारी संस्कृति का ही एक अंश है।

व्रत, पर्व और त्यौहारों का प्रवर्तन हमारे प्राचीन ज्ञान–विज्ञान सम्पन्न परम विद्वान्, महामना पूर्वजों के द्वारा हुआ था। वे इनके गूढ़ गुण–गुम्फित लाभप्रद तत्त्वों को जानते थे और अनभिज्ञों को परिचित कराते थे। उनकी यह ज्ञान–गङ्गा अनवरत प्रवाहित होकर ज्ञान–पिपासुओं की प्यास को निरन्तर शान्त करती रही है। सांस्कृतिक महत्त्व के साथ–साथ तत्त्वदर्शी महर्षियों ने इनमें विज्ञान के सैकड़ों अंश संयुक्त कर दिए हैं। फलस्वरूप व्रतों से अनेक अंशों से प्राणिमात्र का विशेषकर मनुष्यों का बड़ा भारी उपकार होता है। भारत के ग्रामों में रहने वाला हो या अशिक्षित हो, वह भी इस यथार्थ तथ्य से भिज्ञ है कि यदि व्रत का धार्मिक महत्त्व है तो दूसरी ओर उसमें एक ऐसा वैज्ञानिक तत्त्व भी छिपा हुआ है जिससे असाध्य व्याधियाँ भी दूर होती हैं।

यद्यपि रोग भी पाप है और ऐसे पाप व्रतों से दूर होते हैं तथापि कायिक, वाचिक, मानसिक और संसर्ग जनित पाप, उपपाप, महापापादि भी व्रतों से दूर होते हैं।

व्रतों के प्रभाव से आत्मा शुद्ध होती है, सङ्कल्पशक्ति बढ़ती है, बुद्धि, विचार, चतुराई या ज्ञान–तन्तु विकसित होते हैं। धार्मिक दृष्टि से देखें तो अन्तःस्थल में सच्चिदानन्द परमात्मा के प्रति भक्ति, श्रद्धा और तल्लीनता का सञ्चार होता है। व्यापार–व्यवसाय, कला–कौशल, शास्त्रानुसन्धान और व्यवहार दक्षता का सफल सम्पादन उत्साहपूर्वक किया जाता है और सुखमय दीर्घजीवन के आरोग्य साधनों का स्वतः सञ्चय हो जाता है।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति का मूलाचार भारतीय नारी पर ही प्रतिष्ठित है। मातृत्व रूप में, पातिव्रत्य रूप में, यहाँ तक कि व्रतों और पर्वों को भी नारी ने आज तक अपनी आध्यात्मिकता के बल पर जीवित बनाए रखा। सहस्रों वर्षों पश्चात् भी हमारी परम्पराएँ आज भी उसी रूप में हैं। व्रत और त्यौहार हमारी राष्ट्रीय एकता के प्रतीक हैं। भारत को पर्वों और त्यौहारों का देश कहा जाता है। विभिन्न जाति, सम्प्रदाय और धर्म के लोग भारत में रहते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक किसी भी प्रदेश में चले जाएँ, हमें एक ऐसे तत्त्व की अनुभूति होती है, जिसने हमारी साँस्कृतिक एकता को बनाए रखा है। देश के विभिन्न धर्मों के लोग अपनी साँस्कृतिक परम्परा का निर्वाह करते हुए, अपने–अपने त्यौहारों को मनाते हैं। इतिहास के पृष्ठों का पुनरावलोकन करें तो हम एक ऐसी अमूल्य निधि पाते हैं जहाँ स्वयं कष्ट सहकर भारतीय नारियों ने अपने परिवार की मङ्गल कामना की। इसका सारा श्रेय महामना विदूषियों को है।

हमने प्रकृति पूजा को भी अपनी संस्कृति का विभिन्न अङ्ग माना है। यही कारण है कि देवी–देवताओं से सम्बन्धित व्रतों के अतिरिक्त वृक्षों से सम्बन्धित व्रत, पर्व आदि को भी मानने की और उनसे आशीर्वाद ग्रहण करने की भारतीयों की एक अपनी संस्कृति और आध्यात्मिकता है।

'व्रत' के विभिन्न अर्थों का प्रयोग विभिन्न आचार्यों द्वारा किया गया है। 'व्रत' की व्युत्पत्ति है – वृ + अतच्, स च कित् अर्थात् किसी बात का संकल्प, प्रतिज्ञा, आराधना, भक्ति, पुरुष के साधना उपवासादि नियम विशेष। व्यवस्था, विधि निर्दिष्ट अनुष्ठान पद्धति, यज्ञ, अनुष्ठान, कर्म।

(१) निरुक्त में 'व्रत' को कर्म सूचित किया है और अभीष्ट कर्म में प्रवृत्त होने के सङ्कल्प को 'व्रत' बतलाया है। किन्हीं आचार्यों ने पुण्य–प्राप्ति के लिये किसी पुण्य तिथि में उपवास करने या किसी उपवास के कर्मानुष्ठान द्वारा पुण्य सञ्चय करने के सङ्कल्प को व्रत सूचित किया है।

(२) मनुष्य जीवन को सफल करने के कामों में व्रत की बड़ी महिमा मानी गयी है। किसी आचार्य के अनुसार व्रत और उपवास के नियम–पालन से शरीर को तपाना ही तप है। व्रत अनेक हैं और अनेक व्रतों के प्रकार भी अनेक हैं।

(३) लोकप्रसिद्धि में व्रत और उपवास दो हैं और ये कायिक, वाचिक, मानसिक, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, एकभुक्त, आयाचित, मितभुक्, चान्द्रायण और प्राजापत्य के रूप में किए जाते हैं। इसके निम्नलिखित प्रकार हैं –

वास्तव में व्रत और उपवास दोनों एक हैं, अन्तर यह है कि व्रत में भोजन किया जाता है और उपवास में निराहार रहना पड़ता है। इसके कायिकादि तीन भेद हैं – १. शस्त्राघात, मर्माघात, व्यभिचार और कार्यहानिजनित हिंसा के त्याग में से 'कायिक' २. सत्य, परिमित, हित और मधुर भाषण करने और कटुवाणी, पिशुनता तथा निन्दा का त्याग करने से वाचिक और ३. प्राणिमात्र के प्रति निर्वैर रहने और मन को शान्त रखने की दृढ़ता से मानसिक व्रत होता है।

(४) पुण्यसञ्चय के एकादशी आदि 'नित्य' व्रत, पापक्षय, चान्द्रायणादि नैमित्तिक व्रत और सुख–सौभाग्यादि के वटसावित्री आदि 'काम्य' व्रत माने गये हैं। इनमें द्रव्य–विशेष के भोजनादि और पूजनादि की साधना के द्वारा साध्य व्रत 'प्रवृत्तिरूप' होते हैं और केवल उपवासादि के द्वारा साध्य व्रत 'निवृत्तिरूप' हैं। इनका यथाचित अनुष्ठान फल देता है।

(५) 'एकभुक्त' व्रत के स्वतन्त्र, अन्याङ्ग और प्रतिनिधि – तीन भेद हैं।

१. दिनार्ध व्यतीत होने पर 'स्वतन्त्र' एकभुक्त होता है। २. मध्याह्न में 'अन्याङ्ग' किया जाता है और ३. 'प्रतिनिधि' आगे–पीछे भी हो सकता है।

(६) 'नक्तव्रत' रात में किया जाता है। उसमें यह विशेषता है कि गृहस्थ रात्रि होने पर उस व्रत को करें और संन्यासी सूर्य रहते।

(७) 'अयाचितव्रत' में बिना माँगे जो कुछ मिले, उसी का निषेधकाल बचाकर दिन या रात में जब अवसर हो तभी केवल एक बार भोजन करे और 'मितभुक्' में प्रतिदिन दस ग्रास भोजन करे। अयाचित और मितभुक् दोनों व्रत परम सिद्धि देने वाले हैं।

## व्रतों में तिथि

वारादि का सहयोग होता है, जो ज्योतिषादि के अनुसार निर्धारित की जाती है। हमारे देश में कुछ व्रत सभी भारतीयों के लिये हैं जो कि देव–देवताओं से सम्बन्धित हैं। कुछ अपने–अपने प्रदेशानुसार कुल–देवता पर आधारित हैं। 'वृक्ष' भी हमारी संस्कृति और धार्मिकता का प्रतीक है। विभिन्न देवी–देवताओं का वास माना जाता है। अत: वृक्षों से सम्बन्धित व्रत और पर्वों का भी विशेष महत्त्व है। प्रत्येक माह अपनी विशेषता लिए हुए है। वर्ष के बारह मास समर्पित हैं विभिन्न देवी–देवताओं, कुल–देवताओं से सम्बन्धित पर्वों से। अब हम विभिन्न व्रतों और त्यौहारों को प्रत्येक मास की दृष्टि से चर्चा करेंगे। भारत में नये वर्ष का आरम्भ चैत्र माह से माना जाता है।

## चैत्र मास के व्रत

### धुलैंडी

चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को टेसू के पीले पानी से और गुलाल अबीर से रंग खेला जाता है। आम्र मञ्जरी को चन्दन से घिसकर उसके प्राशन का माहात्म्य शास्त्र में वर्णित है।

### शीतलाष्टमी व्रत

होली के बाद चैत्र कृष्णाष्टमी को शीतला देवी की पूजा का विधान है। स्कन्द पुराणानुसार चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ इन चार मासों में शीतला देवी की पूजा होती है, परन्तु प्रसिद्ध व्रत है चैत्र की कृष्णाष्टमी। इस दिन बासी भोजन से शीतला देवी की पूजा होती है और उसमें नीम की पत्तियाँ और शाखाएँ प्रयोग करते हैं।

हमने प्रकृति पूजा को भी अपनी संस्कृति का विभिन्न अङ्ग माना है। यही कारण है कि देवी–देवताओं से सम्बन्धित व्रतों के अतिरिक्त वृक्षों से सम्बन्धित व्रत, पर्व आदि को भी मानने की और उनसे आशीर्वाद ग्रहण करने की भारतीयों की एक अपनी संस्कृति और आध्यात्मिकता है।

'व्रत' के विभिन्न अर्थों का प्रयोग विभिन्न आचार्यों द्वारा किया गया है। 'व्रत' की व्युत्पत्ति है – वृ + अतच्, स च कित् अर्थात् किसी बात का संकल्प, प्रतिज्ञा, आराधना, भक्ति, पुरुष के साधना उपवासादि नियम विशेष। व्यवस्था, विधि निर्दिष्ट अनुष्ठान पद्धति, यज्ञ, अनुष्ठान, कर्म।

(१) निरुक्त में 'व्रत' को कर्म सूचित किया है और अभीष्ट कर्म में प्रवृत्त होने के सङ्कल्प को 'व्रत' बतलाया है। किन्हीं आचार्यों ने पुण्य–प्राप्ति के लिये किसी पुण्य तिथि में उपवास करने या किसी उपवास के कर्मानुष्ठान द्वारा पुण्य सञ्चय करने के सङ्कल्प को व्रत सूचित किया है।

(२) मनुष्य जीवन को सफल करने के कामों में व्रत की बड़ी महिमा मानी गयी है। किसी आचार्य के अनुसार व्रत और उपवास के नियम–पालन से शरीर को तपाना ही तप है। व्रत अनेक हैं और अनेक व्रतों के प्रकार भी अनेक हैं।

(३) लोकप्रसिद्धि में व्रत और उपवास दो हैं और ये कायिक, वाचिक, मानसिक, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, एकभुक्त, आयाचित, मितभुक्, चान्द्रायण और प्राजापत्य के रूप में किए जाते हैं। इसके निम्नलिखित प्रकार हैं –

वास्तव में व्रत और उपवास दोनों एक हैं, अन्तर यह है कि व्रत में भोजन किया जाता है और उपवास में निराहार रहना पड़ता है। इसके कायिकादि तीन भेद हैं – १. शस्त्राघात, मर्माघात, व्यभिचार और कार्यहानिजनित हिंसा के त्याग में से 'कायिक' २. सत्य, परिमित, हित और मधुर भाषण करने और कटुवाणी, पिशुनता तथा निन्दा का त्याग करने से वाचिक और ३. प्राणिमात्र के प्रति निर्वैर रहने और मन को शान्त रखने की दृढ़ता से मानसिक व्रत होता है।

(४) पुण्यसञ्चय के एकादशी आदि 'नित्य' व्रत, पापक्षय, चान्द्रायणादि नैमित्तिक व्रत और सुख–सौभाग्यादि के वटसावित्री आदि 'काम्य' व्रत माने गये हैं। इनमें द्रव्य–विशेष के भोजनादि और पूजनादि की साधना के द्वारा साध्य व्रत 'प्रवृत्तिरूप' होते हैं और केवल उपवासादि के द्वारा साध्य व्रत 'निवृत्तिरूप' हैं। इनका यथाचित अनुष्ठान फल देता है।

(५) 'एकभुक्त' व्रत के स्वतन्त्र, अन्याङ्ग और प्रतिनिधि – तीन भेद हैं।

१. दिनार्ध व्यतीत होने पर 'स्वतन्त्र' एकभुक्त होता है। २. मध्याह्न में 'अन्याङ्ग' किया जाता है और ३. 'प्रतिनिधि' आगे–पीछे भी हो सकता है।

(६) 'नक्तव्रत' रात में किया जाता है। उसमें यह विशेषता है कि गृहस्थ रात्रि होने पर उस व्रत को करें और संन्यासी सूर्य रहते।

(७) 'अयाचितव्रत' में बिना माँगे जो कुछ मिले, उसी का निषेधकाल बचाकर दिन या रात में जब अवसर हो तभी केवल एक बार भोजन करे और 'मितभुक्' में प्रतिदिन दस ग्रास भोजन करे। अयाचित और मितभुक् दोनों व्रत परम सिद्धि देने वाले हैं।

## व्रतों में तिथि

वारादि का सहयोग होता है, जो ज्योतिषादि के अनुसार निर्धारित की जाती है। हमारे देश में कुछ व्रत सभी भारतीयों के लिये हैं जो कि देव–देवताओं से सम्बन्धित हैं। कुछ अपने–अपने प्रदेशानुसार कुल–देवता पर आधारित हैं। 'वृक्ष' भी हमारी संस्कृति और धार्मिकता का प्रतीक है। विभिन्न देवी–देवताओं का वास माना जाता है। अत: वृक्षों से सम्बन्धित व्रत और पर्वों का भी विशेष महत्त्व है। प्रत्येक माह अपनी विशेषता लिए हुए है। वर्ष के बारह मास समर्पित हैं विभिन्न देवी–देवताओं, कुल–देवताओं से सम्बन्धित पर्वों से। अब हम विभिन्न व्रतों और त्यौहारों को प्रत्येक मास की दृष्टि से चर्चा करेंगे। भारत में नये वर्ष का आरम्भ चैत्र माह से माना जाता है।

## चैत्र मास के व्रत

## धुलैंडी

चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को टेसू के पीले पानी से और गुलाल अबीर से रंग खेला जाता है। आम्र मञ्जरी को चन्दन से घिसकर उसके प्राशन का माहात्म्य शास्त्र में वर्णित है।

## शीतलाष्टमी व्रत

होली के बाद चैत्र कृष्णाष्टमी को शीतला देवी की पूजा का विधान है। स्कन्द पुराणानुसार चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ इन चार मासों में शीतला देवी की पूजा होती है, परन्तु प्रसिद्ध व्रत है चैत्र की कृष्णाष्टमी। इस दिन बासी भोजन से शीतला देवी की पूजा होती है और उसमें नीम की पत्तियाँ और शाखाएँ प्रयोग करते हैं।

## संवत्सर पूजन

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से नए संवत्सर का आरम्भ है। यह संवत् विक्रम संवत् से जाना जाता है। इस नए संवत्सर का विशेष महत्त्व है। ब्रह्मा जी ने सृष्टि के उत्पादन का प्रारम्भ इसी दिन किया था। इस कारण चैत्र मास, शुक्ल पक्ष और प्रतिपदा तिथि सर्वोत्कृष्ट होने से संवत्सर का आरम्भ माना जाता है। वर्ष भर नीरोग रहने की भावना से नीम के पत्ते खाने का भी उल्लेख मिलता है।

## नवदुर्गा

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती की प्रसन्नता के लिए व्रत–उपवास प्रारम्भ होता है, जो नवमी को समाप्त होता है। स्त्रियाँ भीत पर विविध रंगमयी रेखाओं से मन्दिर बनाकर उसमें श्रीदुर्गा भगवती की स्थापना करती है। नवदुर्गा की आराधना की जाती है जैसा कि 'दुर्गासप्तशती' में आता है –

**प्रथमं शैलपुत्री च द्वितीयं ब्रह्मचारिणी।**
**तृतीयं चन्द्रघण्टेति कूष्माण्डेति चतुर्थकम्।**
**पञ्चमं स्कन्दमातेति षष्ठं कात्यायनीति च।**
**सप्तमं कालरात्रीति महागौरीति चाष्टमम्।**
**नवमं सिद्धिदात्री च नवदुर्गाः प्रकीर्तिताः।**

आवाहनादि–विसर्जनान्त उपचारों से पूजा करके कन्या और बटुक को भोजन कराती हैं। अष्टमी और नवमी को भजन–गान से भी देवी जी की आराधना होती है।

## गणगौर

चैत्र शुक्ल तृतीया को सौभाग्यवती महिलाएँ तथा कन्याएँ गौरी–शङ्कर की पार्थिव मूर्तियाँ बनाती हैं और गौरी माता की गोदी में बाल–गणपति को बैठाती हैं। व्रत की कथा सुनी जाती है। दूर्वा, रोली आदि सामग्री से गणगौर का पूजा–अर्चन करके 'गुना' नामक पकवान का नैवेद्य निवेदन करती हैं। प्रसाद केवल स्त्रियों को ही दिया जाता है। स्त्रियाँ गौरी का सिन्दूर अपनी माँग में लगाती हैं। कन्याएँ तत्पश्चात् सोलह दिनों तक पूजा करती हैं। इस व्रत को 'सौभाग्यसुन्दरीव्रत' भी कहते हैं। तृतीया को ही गौरीदोलोत्सव भी होता है।

### अशोक कालिका प्राशन व्रत

चैत्र शुक्ल अष्टमी को प्रातः स्नान आदि के पश्चात् अशोक वृक्ष की पूजा का विधान है। अशोक वृक्ष के पुष्प अथवा कोमल पत्तों की आठ कलिकाएँ लेकर शिव–पूजन करते हैं और चढ़ाई गई इन आठ कलिकाओं का भक्षण करने से मनुष्य शोक रहित होता है।

### अशोक सप्तमी

चैत्र शुक्ल सप्तमी को अशोक वृक्ष के आठ पत्ते पानी में डालकर उस जल को पीते हैं, तथा अशोक वृक्ष के पुष्पों से विष्णु की पूजा करते हैं। इस व्रत का फल शोक रहित होता है।

### रामनवमी

चैत्र शुक्ल को रामनवमी व्रत होता है। इस दिन दोपहर १२ बजे श्री राम का जन्मोत्सव मनाया जाता है। प्रसाद और फलाहार ग्रहण किया जाता है।

## वैशाख के व्रत

### निम्बसप्तमी

**निम्बपल्लव भद्रं ते सुभद्रं तेऽस्ति वै सदा।**
**ममापि कुरु भद्रं वै प्रासनाद् रोगहा भव।।**

वैशाख शुक्ल सप्तमी को स्नान आदि नित्य कर्म से निवृत्त होकर अक्रोध और जितेन्द्रिय रहकर नीम के पत्ते ग्रहण करें तथा अष्टमी को सूर्य नारायण का पूजन करके भोजन करें। इस व्रत को करने से व्यक्ति रोगमुक्त होता है।

नारद पुराण के अनुसार वैशाख शुक्ल सप्तमी को भगवान् सूर्य का व्रत रखते हें। **'ॐ खखोलकाय नमः'** मन्त्र द्वारा नीम के पत्ते से सूर्य की पूजा करते हैं और पूजा के पश्चात् नीम का पत्ता खाने और भूमि पर मौन रहकर शयन करने का विधान है। यह व्रत सब प्रकार का सुख देने वाला है।

### अक्षय तृतीया

वैशाख शुक्ला तृतीया को सक्तुभाण्डों का दान–संकल्प किया जाता है। बदरीनाथ में बड़ा उत्सव मनाया जाता है। इस दिन भूमि, वाहन, आभूषण आदि लेना शुभ माना जाता है।

## जानकी नवमी

वैशाख शुक्ला नवमी को जानकी नवमी का उल्लेख होता है। दोपहर में जानकी जी का जन्मोत्सव मनाया जाता है।

## नरसिंह चतुर्दशी

वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को श्री भगवान् नरसिंह के अवतार के उपलक्ष्य में व्रतोपवास किया जाता है। सन्ध्याकाल में पूजन होता है। इसमें पञ्चामृतपान विशेष रूप से उल्लेख योग्य है।

## कदली व्रत

भविष्योत्तरपुराण में इस व्रत का उल्लेख है। यह व्रत विशेष रूप से गुजरात में किया जाता है। यह वैशाख या कार्तिक किसी भी माह में हो सकता है। इसमें पूर्वाह्न व्यापिनी चतुर्दशी ली जाती है। केले का छोटा पौधा पवित्र स्थान पर स्थापित कर उसकी पूजा करते हैं। जब तक इस पौधे में फल न आ जाए, तब तक प्रतिदिन जल–पुष्पादि से पूजते हैं। इस व्रत को रखने से स्त्रियाँ पुत्र–पौत्रादि से सम्पन्न होती हैं और सौभाग्यशाली और सुखी–जीवन प्राप्त होता है, इस कामना से व्रत रखती हैं।

# ज्येष्ठ के व्रत

## वट सावित्री व्रत

स्कन्द पुराण, पद्म पुराण और भविष्योत्तरपुराण के अनुसार ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा को और ज्येष्ठ अमावस्या को यह व्रत होता है। जेठ बदी तेरस से लेकर अमावस तक तीन दिन लगातार रखने का विधान है। इसे वट–अमावस भी कहते हैं। यह व्रत स्त्रियों का विशेष व्रत होता है। इसे सौभाग्यवती स्त्रियाँ रखती हैं और पति की दीर्घायु की कामना करती हैं। सत्यकाम–सावित्री की कथा के सुनने का उस दिन विशेष महत्त्व है। वट वृक्ष की पूजा होती है।

ज्येष्ठ स्त्रियाँ उपवास करके मधुर जल से वट वृक्ष को सींचती हैं और वृक्ष को सूत लपेटकर एक सौ आठ बार प्रदक्षिणा करती हैं। तदनन्तर परम पतिव्रता सावित्री देवी से करबद्ध प्रार्थना करती हैं –

'जगन्माता सावित्री, तुम सम्पूर्ण जगत् के लिए पूजनीया तथा पति को ही इष्टदेव मानने वाली पतिव्रता हो। वटवृक्ष पर निवास करने वाली देवी, तुम

ऐसी कृपा करे जिससे मेरा अपने पति के साथ नित्य संयोग बना रहे, कभी वियोग न हो। तुम्हें मेरा सादर नमस्कार है।'

सोने अथवा मिट्टी की सावित्री की प्रतिमा बनाकर उसे वट के मूल में स्थापित करके उसकी पूजा करनी चाहिये। प्रतिमा दक्षिणा के साथ ब्राह्मण को देनी चाहिये। कहीं–कहीं स्त्रियाँ भीत पर हल्दी–चावल की पिट्ठी से वट का चित्र खींचकर उसकी पूजा कर बड़ के फल से व्रत खोलकर भोजन करती हैं।

## दशहरा

ज्येष्ठ शुक्ला दशमी को होता है। इसे गङ्गा दशहरा भी कहते हैं। गङ्गा अथवा तीर्थों पर स्नान करके यथाशक्ति दान–पुण्य किया जाता है।

## निर्जला एकादशी

ज्येष्ठ शुक्ल की एकादशी का बड़ा महत्त्व है। वैसे तो एकादशी का व्रत प्रत्येक माह ही रखने का विधान है, परन्तु ज्येष्ठ की एकादशी को निर्जला एकादशी कहा जाता है। इस दिन निर्जल उपवास किया जाता है। घड़े, सुराहियाँ, फल, पंखें आदि का दान किया जाता है। अब तो ठण्डे शरबत आदि भी पिलाया जाता है। जगह–जगह भण्डारा किया जाता है। मन्दिर और ब्राह्मणों को दान दिया जाता है।

## करवीर व्रत

इसका सम्बन्ध कनेर के वृक्ष से है। ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदा को इस व्रत को किया जाता है। यह व्रत सूर्य की आराधना का है। भविष्योत्तरपुराण के अनुसार प्राचीन काल में सावित्री, सरस्वती और दमयन्ती आदि ने इसी व्रत से अभीष्ट फल प्राप्त किया था। वृक्ष को मूल, शाखा और प्रशाखाओं सहित स्नान कराकर लाल वस्त्र ओढ़ाया जाता है। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्यादि से पूजन किया जाता है। आपत्तिग्रस्त अवस्था में स्त्रियों को तत्काल फल देता है।

नारद पुराणानुसार ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को सूर्योदय काल में देव मन्दिर वाटिका में लगे हुए कनेर वृक्ष का पूजन करना चाहिए। कनेर वृक्ष में लाल डोरा लपेटकर उस पर गन्ध, चन्दन, धूप आदि से पूजन करना चाहिए। उगे हुए सातधान के अंकुर, नारंगी, बिजौरा और नींबू आदि से पूजा करनी चाहिए। अक्षत और जल अर्पण कर क्षमा प्रार्थना करनी चाहिए –

करवीर, आप धर्म के निवास स्थान और भगवान् सूर्य के पुत्र हैं, दुर्गादि

देवताओं के मस्तक को विभूषित करने वाले तथा उनके सदैव प्रिय हैं। आपको नमस्कार है। तत्पश्चात् वृक्ष की परिक्रमा करनी चाहिए।

## दुर्गन्ध, दुर्भाग्य नाशक व्रत

इस व्रत का उल्लेख भविष्योत्तरपुराण और नारदपुराण आदि में मिलता है। ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी को किसी पवित्र नदी के किनारे स्नान करके सूर्य नारायण का दर्शन करें। सफेद आक, लाल कनेर और सपुष्प नीम वृक्ष का गन्ध, पुष्प, नैवेद्यादि से पूजन करें। ये तीनों वृक्ष सूर्य नारायण को बहुत प्रिय हैं। सूर्य की ओर मुख करके निम्नलिखित प्रार्थना करें –

'मदार, कनेर और आक, आप लोग भगवान् भास्कर के अंश से उत्पन्न हुए हैं, अत: पूजित होकर मेरे दुर्भाग्य का नाश करें, आपको नमस्कार है।'

इस प्रकार जो भक्तिपूर्वक एक–एक वर्ष तक इन तीनों वृक्षों की व्रत करके पूजा करता है, उसका दुर्भाग्य नष्ट होता है।

## अरण्य षष्ठी

ज्येष्ठ माह के शुक्ल पक्ष की षष्ठी को यह व्रत है। ये विशेषकर स्त्रियों का व्रत है। इस दिन स्त्रियाँ अन्न नहीं खातीं और देवी की पूजा करती हैं। यह व्रत सन्तान वृद्धि के लिए किया जाता है। शास्त्रों के अनुसार इस तिथि को उन्हें घर में नहीं रहना चाहिए वरन् हाथ में पंखा लेकर जंगलों में घूमना चाहिए।

# आषाढ़ के व्रत

## देवशयनी एकादशी

आषाढ़ शुक्ला एकादशी को स्त्रियाँ पञ्चदेवों की पार्थिव प्रतिमाएँ रचकर उनकी पूजा करती हैं। दूध तथा दूब से जिमाकर उन्हें शयन कराती हैं। चार माह तक शुभ कार्य का आरम्भ नहीं किया जाता।

## गुरु पूर्णिमा

आषाढ़ की पूर्णिमा को गुरु की पूजा की जाती है।

# श्रावण के व्रत

## सोमवार

श्रावण माह महादेव शिव को समर्पित है। अत: श्रावण के सोमवार का भी विशेष महत्त्व है। श्रावण के प्रत्येक सोमवार को भी व्रत का विधान है।

## भ्रातृ पञ्चमी

श्रावण कृष्ण पञ्चमी को भ्रातृमती महिलाएँ साँप की बामी की पूजा करती हैं और तत्सम्बन्धी कथा का श्रवण करती हैं। धान्य—पञ्चक अर्थात् मूँग, मोठ, चने, मटर और बाजरे को भिगोकर खाती हैं। बासी भोजन पाया जाता है।

## हरियाली तीज

यह व्रत श्रावण शुक्ल तृतीया को होती है। इसे 'हरियाली तीज' के नाम से जाना जाता है। यह स्त्रियों से सम्बन्धित पर्व और 'व्रत' है। स्त्रियाँ इसे बड़े आनन्द से मनाती हैं। इस दिन स्त्रियाँ हरे वस्त्र पहनती हैं। अन्न नहीं खाती हैं और देवी की पूजा करती हैं। मेंहदी लगायी जाती है। कन्याओं को शृङ्गार का सामान दिया जाता है। वृक्षों में झूला डालकर झूला झूलती हैं। धूप, गन्धादि से वृक्षों की पूजा करती हैं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ पकवान का वायन दान देती हैं।

## दुर्वा गणपति

यह व्रत श्रावण शुक्ल चतुर्थी को किया जाता है। इस दिन दूब, घास पर गणेश जी की स्थापना करके पूजन करते हैं। बेल—पत्र, अपामार्ग, शमीपत्र, दूब और तुलसी पत्र अर्पण करना चाहिए। इस प्रकार तीन या पाँच वर्ष करने से सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध होते हैं।

## नाग पञ्चमी

श्रावण शुक्ल पञ्चमी को दूध में घिसे हुए कोयले से भीत पर नागों की प्रतिमाएँ खींची जाती हैं। कहीं—कहीं गाय के गोबर को सरसों और बालू से अभिमन्त्रित करके उसी से दीवार पर नाग की प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं। भगवान् अनन्त या नाग देवता के उद्देश्य से धान का लावा (खील) चढ़ाते हैं। नागों को दुग्ध पान कराया जाता है। एक मृण्मय पात्र में जौ बोये जाते हैं, जिन्हें 'घूँगा' कहते हैं। इससे सम्बन्धित कथा कही जाती है।

## घूँगा झूलनी चतुर्दशी

श्रावण शुक्ल चतुर्दशी को स्त्रियाँ मीठे खजूर लेकर उनसे 'घूँगे' जिमाती हैं। फिर गीत गाकर उन्हें झुलाती हैं।

## रक्षा बन्धन

श्रावण की पूर्णिमा को यह त्यौहार मनाया जाता है। बहनें अपने भाई और भाभियों को रक्षा सूत्र बाँधती हैं। पुरोहित भी अपने यजमान को रक्षा सूत्र

बाँधता है। इस दिन यमुना पर पुरुष स्नान करते हैं और अपना यज्ञोपवीत भी बदलते हैं। रक्षाबन्धन की भी कथा पुराणों में उपलब्ध है।

## भाद्रपद के व्रत

### गाज

भाद्रपद में सर्वप्रथम मेघों के गर्जन पर सूती अथवा ऊनी दस तार वाला सूत्र हाथ में बाँधा जाता है, जो दसवें या चौदहवें दिन खोला जाता है। डोरा खोलते समय गाज की कहानी ब्राह्मणी से सुनी जाती है। कुछ मीठा और कुछ फीका ढाई पाव का गज–रोट बनता है। गाज की चँदिया अलग बनती है, जो ब्राह्मणी को दी जाती है।

### कुशग्रहणी

भाद्रपद कृष्ण अमावस्या के पूर्वाह्न में पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके मन्त्रोच्चारण करते हुए दाहिने हाथ से कुश उखाड़ते हैं। वर्ष भर के सभी धार्मिक व्रतों में इसी कुश को प्रयोग करते हैं।

### दूर्वाष्टमी

भविष्यपुराण के अनुसार भाद्रपद शुक्लाष्टमी को यह व्रत किया जाता है। उमा सहित शिव का षोडशोपचार द्वारा पूजन करके सात प्रकार के फल, पुष्प, दुर्वा और नैवेद्य अर्पण कर व्रत करना चाहिए। भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को पवित्र स्थान में उगी हुई दूब पर शिवलिङ्ग की स्थापना करके उनकी पूजा अर्घ्य और परिक्रमा करते हैं। वहीं पर लोगों को भोजन कराकर और फिर स्वयं भोजन करना चाहिए। यह दूर्वाष्टमी सभी वर्ण व स्त्री–पुरुष के लिए है। इसको धन, पुत्र और काम आदि की कामना से किया जाता है और इसको करने से पुण्यों की प्राप्ति व पापों का नाश होता है। दूब के पौधों की पूजा करते हुए प्रार्थना करते हैं –

'हे दूर्वा, आप अमर कही जाती हैं। आप देव व असुर दोनों द्वारा पूजनीय हैं। हमें सन्तान दें, समृद्धि दें, मेरी कामना पूरी करें। जिस तरह आप शाखा प्रशाखा के द्वारा धरती पर विस्तार करती हैं, उसी तरह हमें भी स्वस्थ व अमर सन्तान दें।

### वृद्ध तृतीया

भाद्रपद कृष्णा तृतीया को सौभाग्यवती स्त्रियाँ, केवल वधुएँ इसे मनाती हैं। पितृगृह हो तो ससुराल चली जाती हैं। वधुओं को शृङ्गार दिया जाता है और

वे पूरी और पूओं का वायन दान करती हैं तथा झूला झूलती हैं और गीत गाती हैं। पञ्चाङ्गों से विदित होता है कि यह उत्सव दिन–रात मनाया जाना चाहिए – **'दिवा नक्तं विधीयते'**। इसका नाम 'कज्जलीव्रत' भी है। इसमें रात को स्त्रियाँ कजली भी गाती हैं। दिन में भी गाती और झूलती हैं। मिर्जापुर और बनारस में तो कजली का उत्सव महीनों चलता है। इस दिन अधिक धूमधाम रहती है।

## श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

भाद्रपद कृष्ण पक्ष की अष्टमी को श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव मनाया जाता है। दिन भर व्रत रखकर रात्रि बारह बजे चन्द्रोदय होने पर चन्द्रमा को अर्घ्य प्रदान कर तथा भगवान् के जन्मकाल की झाँकी का दर्शन करके भगवत्पूजन के पश्चात् प्रसाद ग्रहण करते हैं। कुछ लोक एक बार फलाहार करते हैं। अलग–अलग सिद्धान्तों के अनुसार अपने अपने ढंग से व्रत का पालन करते हैं।

## हरितालिका व्रत

यह भाद्रशुक्ल तृतीया को मनाया जाता है। यह सौभाग्यवर्धक व्रत है। विवाह के बाद सभी स्त्रियाँ इस व्रत का पालन करती हैं। इसका फल है – सौभाग्य की रक्षा, वैधव्य का निवारण और पुत्र–पौत्र आदि की वृद्धि – **'अवैधव्यकरा स्त्रीणां पुत्रपौत्रप्रवर्धिनी'**। कहते हैं, पार्वती जी का विवाह कहीं अन्यत्र होने जा रहा था, परन्तु उनका प्रेम भगवान् शङ्कर जी में था। अत: सखियाँ उन्हें छिपाकर एक जंगल में ले गयीं। वहाँ उन्होंने व्रत रखकर भगवान् की आराधना की, जिसके फलस्वरूप भगवान् शिव उन्हें व्रत रूप में प्राप्त हुए। **'आलीभिर्हरिता यस्मात्तस्मात् सा हरितालिका'** – इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस व्रत का नाम 'हरितालिका' है। तृतीया को होने के कारण इसे 'तीज' भी कहते हैं। इस दिन स्त्रियाँ चौबीस घण्टे का अखण्ड निर्जल व्रत रखती हैं। इस दिन शिव–पार्वती का पूजन होता है और रात में जागरण होता है। सिन्दूर, चूड़ी, दर्पण, फल, रंगीन वस्त्र आदि माङ्गलिक वस्तुएँ छूकर सौभाग्यवती ब्राह्मणी के लिए देती हैं। व्रत की कथा भी सुनी जाती है।

## ऋषि–पञ्चमी

भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी को यह उत्सव किया जाता हैं पण्डित से कथा सुनती हैं एवं बोये हुए अन्न को नहीं खातीं। प्राय: तिन्नी का चावल फलाहार के रूप में ग्रहण किया जाता है। ऋषियों का पूजन भी होता है। इस व्रत से रजस्वलावस्था में किये हुए स्पर्श आदि का दोष दूर होता है।

## बलदेव षष्ठी

स्त्रियाँ भाद्रपद षष्ठी को बलदेव जी की जयन्ती मनाती हैं और ब्राह्मण—भोजन कराती हैं। बलदेव जी का मेला भी कहीं—कहीं लगता है।

## राधाष्टमी

स्त्रियाँ भाद्र शुक्ल अष्टमी को श्रीराधा जी के जन्म का उत्सव मनाती हुई उपवास, पूजन और ब्राह्मण को भोजन कराती हैं।

## वामन जयन्ती

भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को भगवान् के वामनावतार का ध्यान, पूजन, स्तोत्रादि द्वारा आराधन किया जाता है।

## अनन्त चतुर्दशी

अनन्त चतुर्दशी का त्यौहार सारे भारत के प्रान्तों में विभिन्न रूपों में मनाया जाता है। भगवान् अनन्त का पूजन करके पौराणिक कथा के अनुसार चतुर्दशग्रन्थिमय अनन्त सूत्र बाँधा जाता है। भोजन में पकवान बनाने का लौकिक नियम है। जैन सम्प्रदाय में इसको मनाने का अलग ढंग है। इससे कुछ दिन पूर्व निर्जल व्रत रखते हैं। पंजाब प्रान्त में लोकदेवता की पूजा होती है और जालन्धर जिले में सोडल बाबा की पूजा होती है और मेला लगता है।

## कदली व्रत

भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी को इस व्रत का विधान है। केले के पेड़ के समीप बैठकर अनेक प्रकार के फल, फूल, दीपादि से उसका पूजन करना चाहिए। विभिन्न वस्तुएँ चढ़ाकर प्रदक्षिणा करें और निम्न प्रार्थना करें —

**चिन्तयते कदली नित्यं कदलैः काम दीपितैः।**
**शरीरारोग्य लावण्यं देहि देवी नमोऽस्तुते।।**

इस प्रकार तीन या चार मास करने से उस कुल में कुलीन स्त्रियाँ होती हैं। सब पुत्र—पौत्रादि संयुक्त सौभाग्यशालिनी सदाचारिणी होती है।

# आश्विन मास के व्रत

## श्राद्ध

भाद्रपद की पूर्णिमा से आश्विन मास की अमावस्या तक पितृपक्ष होता है। पितरों की तृप्ति के लिए विविध भोज्य पदार्थों से ब्राह्मणों को भोजन कराया

जाता है। यह पुरुषकृत्य है किन्तु अभिभावक के अभाव में यह स्त्री–कृत्य भी है। आश्विन कृष्ण नवमी को मातृ श्राद्ध होता है।

## जीवत्पुत्रिका

यह व्रत पुत्र और पुत्री की जीवन रक्षा के लिए आश्विन कृष्ण अष्टमी को किया जाता है। माताएँ नदी अथवा तालाब आदि में स्नान करके चौबीस घण्टे का अखण्ड निर्जल व्रत करती हैं। सन्ध्या के समय पुनः स्नान करके राजा जीमूतवाहन की पूजा की जाती है। दूसरे दिन सवेरे स्नान करके सोने या सूत की जिउतिया पहनी जाती है। जिउतिया और अन्न–फल आदि दान भी करना होता है। राजा जीमूतवाहन ने एक नागमाता के इकलौते पुत्र का प्राण बचाने के लिए अपना प्राण अर्पण कर दिया था, इसी से उसका पूजन होता है।

## अशोक व्रत

भविष्य पुराण के अनुसार आश्विन शुक्ल पक्ष प्रतिपदा को नवीन पल्लवों वाले अशोक वृक्ष के समीप फल–फूल आदि चढ़ाकर यथा विधि पूजन करें और अर्घ्य देकर वस्त्रों से ढककर उस पर पताका आदि लगाए तो व्रतवती स्त्री के सब शोक नष्ट हो जाते हैं। जिस समय सीता जी ने लंका की अशोक वाटिका में यह व्रत किया था, उस समय उन सबके शोक दूर हो गए थे।

नारदपुराण के अनुसार आश्विन शुक्ल त्रयोदशी को तीन रात तक अशोक व्रत करें। उस दिन उपवास पारायण हो। प्रतिदिन अशोक वृक्ष की पूजा कर एक सौ आठ परिक्रमा कर प्रार्थना करें –

''अशोक तुम्हें पूर्वकाल में परम कृपालु भगवान् शङ्कर ने उत्पन्न किया है। तुम सम्पूर्ण जगत् का उपकार करने वाले हो, अतः शिव–प्रिय अशोक तुम मुझ पर प्रसन्न हो।''

## उपांग ललिता व्रत

यह व्रत महाराष्ट्र की महिलाएँ करती हैं। आश्विन शुक्ल पक्ष की पंचमी को स्नानादि करके देवी का पूजन करना चाहिए। इसमें अपामार्ग की इक्कीस दातुन लेकर महिलाएँ एक–एक कर इक्कीस दातुन करती हैं। फिर स्नान कर सफेद वस्त्र पहनकर उपांग ललिता का पूजन करती हैं।

## बिल्व निमन्त्रण

आश्विन शुक्ल षष्टी को स्नानादि करके देवी का पूजन करें और ज्येष्ठा हो तो उनकी पूजा के लिए बेल वृक्ष को निमन्त्रण करें।

## बिल्व सप्तमी

आश्विन शुक्ल सप्तमी को पूर्व निमन्त्रित बेल वृक्ष की दो फल लगी शाखाएँ लेकर देवी के समीप रखकर उनके सहित देवी पूजन का विधान है।

## नवरात्र व्रत

आश्विन में नौ दिन तक दुर्गा देवी को समर्पित नवरात्र व्रत है। चैत्र माह की तरह इन नवरात्रों में भी मिट्टी के बर्तन में जौं बोये जाते हैं और प्रतिदिन जौं को जल दिया जाता है। दशमी को वे जौं जल में प्रवाहित कर देते हैं। भगवती की आराधना की जाती है और अष्टमी या नवमी को व्रत खोला जाता है और कन्याओं का पूजन किया जाता है, जिसमें जौं अर्पण से भी पूजन का विधान है।

## विजयदशमी व्रत

इसका नाम विजयदशमी भी है। महिषासुर पर दुर्गा भगवती के विजय प्राप्त करने के कारण यह नाम पड़ा है। श्री रामचन्द्र जी ने इसी दिन रावण का वध किया था। विजयदशमी को विजय प्राप्ति की कामना या राज्यवृद्धि की कामना करने वाले राजा नगर से ईशान कोण में स्थित शमी और कचनार के वृक्ष तक जाकर क्रमशः शमी और कचनार की पूजा और प्रार्थना करते हैं। दोनों वृक्षों के नीचे की मिट्टी बाँधकर सुपाड़ी आदि के साथ कपड़े में रख ले, इससे राजा विजयी होता है, राज्य में वृद्धि होती है। कन्नौज क्षेत्र में इस दिन पूरे गाँव के लोग सामूहिक रूप से शमी वृक्ष के नीचे एकत्र होकर पूजन वन्दन करते हैं। घोड़ी, शमी, पुस्तक, लेखनी, मसिपात्र, आयुध आदि आजीविकोपयोगी साधन पर भी गन्ध–अक्षत चढ़ाये जाते हैं। बहिनें भाईयों को टीका करती हैं, मिष्टान्न खिलाकर नूतन जौं का अंकुर देती हैं।

## शरद पूर्णिमा

आश्विन की पूर्णिमा को खीर बनाकर चाँदनी में रखकर श्री भगवान् को भोग लगाकर रात्रि में जागरण होता है। जगज्जननी लक्ष्मी जी यह देखने आया करती हैं कि आज रात को कौन–कौन जाग रहा है इसी से इसका नाम 'कोजागरी' भी पड़ा है। इस रात्रि में चन्द्रमा की सुधामयी किरणों से जगत् को परम शान्ति प्राप्त होती है। नेत्र–ज्योति की परीक्षा के लिए स्त्री–पुरुष सुई में धागा पिरोया करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का रासोत्सव भी इसी दिन रात्रि को मनाया जाता है।

# कार्तिक के व्रत

## करवाचौथ (करक–चतुर्थी)

कार्तिक कृष्ण चतुर्थी को सौभाग्यवती स्त्रियाँ चन्द्रोदय तक निर्जल उपवास करती हैं। भीत पर चन्द्र, सूर्य, भ्रातृ–सप्तक, प्रजापति–सप्तक और एक पुत्री वाला चित्र खींचती हैं। जलपूर्ण पात्र और पूए–पूरी का नैवेद्य निवेदन कर कथा सुनती हैं। वायन दान देती हैं। चन्द्र को अर्घ्य देकर पारण करती हैं। पति की दीर्घायु के लिए इस व्रत का विधान है।

## अहोई अष्टमी

कार्तिक कृष्ण अष्टमी को सन्तानवती स्त्रियाँ व्रत करती हैं। भीत पर अहोई का चित्र खींचती हैं, जिसमें चन्द्र, सूर्य और एक शल्लकी (प्याऊ) होते हैं। भोजन से पहले पूजा करके कहानी सुनना और तारे को अर्घ्य देने का विधान है। कहीं–कहीं गन्ने और मूली की भी पूजा होती है। जिस स्थान पर अहोई की पूजा होती है, उसी स्थान पर दीपावली भी पूजी जाती है।

## दीपावली

कार्तिक अमावस्या को मध्याह्न में सिन्दूरारुण हनुमान जी की पूजा होती है और 'चूरमे' के लड्डुओं का नैवेद्य दिया जाता है। कहीं–कहीं स्त्रियाँ व्रत भी रखती हैं। सन्ध्या समय श्री लक्ष्मी देवी और नारायण का श्री गणपति–पूजन के साथ–साथ आराधन होता है। दीपक जलाकर आरती की जाती है। व्यापारी लोग अपने बही खाते, कलम, दवात आदि की पूजा करते हैं।

## अन्नकूट

कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को यह उत्सव मनाया जाता है। इसमें षड्रस और चतुर्विध नैवेद्य भगवान को अर्पण किया जाता है। रात्रि जागरण और गोवर्धन पूजा इसके अङ्ग हैं।

## भ्रातृ द्वितीया

कार्तिक शुक्ल द्वितीया को यह पर्व मनाया जाता है। पुराणों में इसे यम द्वितीया कहते हैं। इससे सम्बन्धित कथा के अनुसार भाई–बहिन का यमुना–स्नान का माहात्म्य है। भ्रातृमती महिलाएँ तथा कन्याएँ घर के आँगन में चतुष्कोण मण्डल रचकर गन्ध, अक्षत, चना, खील, कपास, मिठाई, गोला और जलपूर्ण पात्र द्वारा पूजा कर यम–यमी की कथा सुनती हैं। कथा–श्रवण से पूर्व हाथों में ली

हुई खीलों को कथान्त में पृथ्वी पर डालकर उन्हें समेटकर, क्षर पर शत्रुमर्दन की भावना कर चना चबाकर रिपुसूदन की भावना करती हैं। कपास की 'आव' बनाकर उदकुम्भी पर स्थापित कर भाईयों को टीका कर उन्हें भोजन कराके दक्षिणा पाती हैं। यमुना–स्नान करके यमराज के तर्पण का भी विधान है।

## सूर्य षष्ठी

यह व्रत पुत्र–प्राप्ति की तथा पुत्रों की दीर्घायु होने की इच्छा से किया जाता है। पञ्चमी को एक बार बिना नमक का भोजन, षष्ठी को निर्जल उपवास और सप्तमी को एक समय पारण – यही व्रत है। षष्ठी के दिन किसी डाल आदि में मिठाई, फल, नारियल आदि लेकर स्त्रियाँ किसी नदी या पोखर के तट पर जाकर नहाती हैं, गीत गाती हैं। सप्तमी को भी नदी आदि में नहाकर दूध का अर्घ्य सूर्य को देती हैं।

## मार्गपाली

कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को इस व्रत को किया जाता है। सायंकाल को कुश की लम्बी रस्सी बनाकर उसमें जहाँ–तहाँ अशोक के पत्ते गूँथकर वन्दनवार बनाई जाती है, जिसे घर के प्रवेशद्वार पर दो ऊँचे खम्भों से बाँधकर गन्ध पुष्पादि से पूजन किया जाता है और प्रार्थना की जाती है –

**मार्गपालि नमस्तेऽस्तु सर्वलोक सुखप्रदे।**
**विधेयैः पुत्रदाराधैः पुनरेहि व्रतस्य मे।।**

समस्त परिवार व पालतु पशुओं के साथ इस मार्गपाली के नीचे से गुजरने के बाद राजा बलि की पूजा करते हैं। ऐसी मान्यता है कि इस वन्दनवार के नीचे से होकर निकलने से उस वर्ष में सब प्रकार सुख–शान्ति रहती है और कई रोग दूर हो जाते हैं। कहीं–कहीं मनुष्यों या पशुओं में महामारी फैलने पर नीम की लम्बी वन्दनवार गाँव के प्रवेश करने की जगह बाँध देते हैं, ताकि उसके नीचे से होकर निकलने वाले नर–नारी और पशु आदि रोगी नहीं होते और वर्ष भर प्रसन्न रहते हैं।

## धात्री नवमी

कार्तिक शुक्ल नवमी जिसे अक्षय नवमी भी कहते हैं। इस दिन आँवले के वृक्ष के नीचे पूर्व दिशा में मुँहकर वृक्ष की षोडशोपचार अथवा स्नान–गन्धादि पंचोपचार पूजन करते हैं। फिर पितर–देवों आदि के निर्मित वृक्ष के मूल में दूध की धारा चढ़ाते हैं। फिर निम्नमन्त्र का उच्चारण करते हैं –

**दामोदर निवासायै धाम्यै देव्यै नमो नमः।**
**सूत्रेणानेन वध्नामि धात्रि देवि नमोऽस्तुते।।**

वृक्ष में सूत लपेटते हैं। आरती करके विभिन्न दान देते हैं। ऐसी मान्यता है कि इस दिन का किया हुआ पूजा पाठ व दान–पुण्य अक्षय हो जाता है। इसी कारण इसका नाम अक्षय नवमी है।

## अक्षय नवमी

कार्तिक शुक्ल नवमी को पीपल वृक्ष की भी पूजा का विधान है। पीपल वृक्ष की जड़ के समीप देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण कर सूर्य को अर्घ्य देते हैं।

## देवोत्थान एकादशी

कार्तिक शुक्ल एकादशी को पृथ्वी पर विविध चित्रावली तथा भीत पर श्रीकृष्ण सहित पाण्डवों की प्रतिमा बनाती हैं। सन्ध्या–समय टोकरी बजाकर देवों का उद्‌बोधन कराके गन्ना आदि वस्तुओं से पूजन किया जाता है, गीत गाये जाते हैं। कहीं–कहीं दीवाली के एक दिन पहले वाली रात में, कहीं कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा में रात में और कहीं एकादशी की रात में सूप आदि बजाया जाता है। उसका उद्देश्य भगवान् को जगाकर घर में प्रवेश कराना और दरिद्रता आदि दोषों को दूर भगाना है। इस दिन से विवाहादि शुभ कार्य का आरम्भ होता है।

## तुलसी विवाह

कार्तिक शुक्ल द्वादशी को भगवान् शालिग्राम से तुलसी वृक्ष का विवाह करते हैं। विवाह बड़ी धूमधाम से सम्पन्न होता हैं

## तुलसीवास

कार्तिक शुक्ल नवमी, दशमी और एकादशी को तुलसी वृक्ष की पूजा कर अखण्ड ज्योति जलाकर निराहार रहते हैं। रात्रि में कथा–वार्ता श्रवण कर पौधे के पास रात्रि में सोते हैं।

वैसे तो पूरा कार्तिक माह तुलसी और आँवले वृक्ष को समर्पित है।

## त्रिपुरोत्सव व्रत

कार्तिक पूर्णिमा प्रदोष काल में सम्पूर्ण जीवों के लिए सुखदायक दीपदान द्वारा त्रिपुरोत्सव करना चाहिए। उस दिन दीप का दर्शन करके कीट, पतंग, मच्छर, वृक्ष तथा जल और स्थल में विचरने वाले दूसरे जीव भी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते। उन्हें अवश्य मोक्ष मिलता है।

### कार्तिक स्नान

महीने भर सूर्योदय से पूर्व स्नान करती हैं। सात्त्विक और शास्त्रीय भोजन, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करना आवश्यक होता है। शयन करने के पहले और उठने के बाद तुलसी–कथा, शुकदेव कथा आदि सुनने की प्रथा है। कार्तिक–माहात्म्य की कथा भी कहीं–कहीं सुनी जाती है। अनेक तीर्थों में पूर्णिमा को स्नान का भारी मेला लगता है।

## मार्गशीर्ष (अगहन) के व्रत

सूकर क्षेत्र में अगहन शुक्ला एकादशी को और पूर्णिमा को गङ्गा–स्नान। भारत में सब ओर एकादशी का व्रत और कुछ स्थानों पर गीता जयन्ती उत्सव होता है।

### अनङ्ग त्रयोदशी

अगहन शुक्ल त्रयोदशी को अनङ्ग नर्मदेश्वर महादेव की विविध प्रकार से पूजा करते हैं। शिवजी की प्रसन्नता के लिए मार्गशीर्षादि महीनों में मधु, चन्दन, बरगद, बेरफल, करेजा, अर्कपुष्प, जामुन, अपामार्गा, कमल, पुष्प, पलास, कुब्ज और कदम्ब का पूजन और प्रासन में यथाक्रम उपयोग करते हैं।

## पौष के व्रत

### रुक्मिणी–अष्टमी

पौष कृष्ण की अष्टमी को श्रीकृष्ण, रुक्मिणी और प्रद्युम्न की पूजा करके सुहासिनी आठ स्त्रियों को भोजन कराकर दक्षिणा दी जाती है। इससे श्रीरुक्मिणी जी प्रसन्न होती हैं।

### सूर्य सप्तमी (मार्तण्ड सप्तमी)

पौष शुक्ल सप्तमी को सूर्य भगवान् का पूजन करके शक्ति हो तो गोदान किया जाता है। इससे सारे अरिष्टों की शान्ति होती है।

## माघ के व्रत

### मकर–संक्रान्ति

माघ में सूर्यनारायण जब मकर–राशि में प्रवेश करते हें, तब (जनवरी १४/१५) यह उत्सव मनाया जाता है। तीर्थ–स्नानपूर्वक तिल, गुड़, घृत, खिचड़ी आदि का दान दिया जाता है। स्त्रियाँ गुड़ और पेड़ों की गौरी–मूर्ति की रचना कर उसकी पूजा करती हैं।

## सङ्कटचतुर्थी

माघ कृष्ण चतुर्थी को विपत्ति–विनाश के निमित्त चकले अथवा सिल पर सिद्धि–बुद्धि सहित गणपति की स्थापना कर स्त्रियाँ तिल–कूट और पूओं का नैवेद्य निवेदन करती हैं। कथा श्रवण करके चन्द्र को अर्घ्य देकर भोजन किया जाता है।

## पितामह द्वितीया

इसे माघ शुक्ला द्वितीया को मनाते हैं। इसे 'बूढ़े बाबू की दौज' भी कहते हैं। बाजरे के चून में तिल डालकर टिकियाँ–पूरियाँ बनाकर ब्रह्मदेव को अर्पण करते हैं।

## वसन्त पञ्चमी

माघ शुक्ल पञ्चमी को श्री लक्ष्मी–नारायण, सरस्वती जी और रति कामदेव का अधिकारानुसार आराधन होता है। वसन्ती रङ्ग के वस्त्र पहने जाते हैं। होली के गीत इस दिन से प्रारम्भ हो जाते हैं।

## अचला सप्तमी

माघ शुक्ला सप्तमी को यह व्रत होता है। इसे सौर सप्तमी भी कहते हैं। इसको वशिष्ठ जी ने चलाया था। इसमें स्त्रियाँ षष्ठी को एक बार भोजन करती हैं। सप्तमी को उपवास होता है। सूर्य की पूजा प्रधान है। यह व्रत पापनाशक और मोक्षप्रद है। सौभाग्य और सौन्दर्य की भी वृद्धि करने वाला है। इस दिन प्रयाग में त्रिवेणी–स्नान का बड़ा माहात्म्य है। आँक और बेल के सात–सात पत्ते सिर पर रखकर स्नान करना चाहिए। इससे मनुष्य पाप मुक्त होता है।

# फाल्गुन के व्रत

## शिव चौदस

फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को भगवान् शङ्कर की प्राप्ति के निमित्त उपवास रखा जाता है। दिन में सिंघाड़े, बेर, नारियल, आक, धतूरा, बेल द्वारा पूजन करके और रात्रि जागरण किया जाता है और भगवद्नामोच्चारण किया जाता है।

## फुलेरा दौज

फाल्गुन शुक्ल द्वितीया को स्त्रियाँ आँगन में पञ्च रंग से चौक पूरती हैं और होली तक नित्य ऐसा करती हैं। गोबर के शास्त्रास्त्र बनाये जाते हैं,

जिसका होलिका–दाह में उपयोग करते हैं। इस उत्सव को 'फुलेरा दौज' भी कहते हैं।

## आमलकी एकादशी

फाल्गुन शुक्ला एकादशी यह उत्सव होता है। भगवान् नारायण के मन्दिर में रंग–क्रीड़ा होती है। आँवले के वृक्ष की पूजा होती हैं। उत्तरांचल में इस दिन महिलाएँ आँवले वृक्ष को कपड़ा बाँधकर पूजा करती हैं। होली का रंग उंडेलती हैं।

## अर्कपुट व्रत

फाल्गुन शुक्ल सप्तमी को अर्क के पत्तों से सूर्य का पूजन किया जाता है तथा अर्क नाम का ही जप किया जाता है। इस प्रकार किया हुआ यह अर्कपुट व्रत धन और पुण्य देने वाला तथा सब पापों का नाश करने वाला है। इसके एक दिन पूर्व षष्ठी को एक समय भोजन, सप्तमी को निराहार और अष्टमी को अर्कपत्र अर्पित करें तो सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

## पाप नाशिनी द्वादशी

फाल्गुन शुक्ल द्वादश को आँवले के पास जाकर हाथ में जल लेकर मन्त्र से व्रत ग्रहण करती हैं। भाँति–भाँति से पूजा करते हैं। वृक्ष का अभिषेक करके वृक्ष की परिक्रमा करते हैं।

## होली

फाल्गुन की पूर्णिमा को होलिकोत्सव मनाया जाता है। पहले से बनाकर सुखाये हुए गोबर के शस्त्रास्त्रों को आँगन में इकट्ठा करके अग्नि स्थापनान्तर नये जौ के दोनों से हवन करते हैं। होलिका दहन सदैव रात्रि में होता है। मध्याह्न में महावीर हनुमान् की पूजा होती है।

## अन्य व्रत –

इन व्रतों के अतिरिक्त कुछ अन्य वृक्ष से सम्बन्धित व्रत और पूजा का भी विधान है, जिसका विविध पुराणों में उल्लेख मिलता है।

## अश्वत्थोपनयन व्रत

पीपल वृक्ष का शुभ मुहूर्त्त में रोपण करते हैं। वृक्ष की आठ वर्ष तकं समुचित देखभाल व सेवा करते हैं। नवें वर्ष बालक की भाँति इस पौधे का विधिवत यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न कराते हैं। इससे लक्ष्मी की प्राप्ति और कुल का उद्धार होता है।

## अश्वत्थ प्रदक्षिणा व्रत

पीपल वृक्ष की विधिवत पूजा करके वृक्ष परिक्रमा करते हैं। व्यक्ति अपनी मनोकामनानुसार चार, पाँच या बारह लाख तक की परिक्रमा का संकल्प लेते हैं। वृक्ष से प्रार्थना की जाती है –

**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां राजा ब्राह्मण वर्णकः।**
**अश्वत्थः पूजितो येन सर्वं सम्पूजितं भवेत।।**

प्रदक्षिणा से सम्बन्धित मन्त्र का भी उच्चारण किया जाता है –

**यानि कानि च पापानि जन्मान्तर कृतानि च।**
**तानि सर्वाणि नश्यन्ति प्रदक्षिणपदे पदे।।**

इससे रोग, कष्ट और संकट का निवारण होता हैं सब प्रकार के सुख–साधनों की सिद्धि प्राप्त होती है।

## वैधव्य हर अश्वत्थ व्रत

जिस कन्या को ज्योतिष के अनुसार वैधव्य योग होता है, वह वैधव्य योग निवारण के लिए पीपल वृक्ष की पूजा करती हैं। इसके लिए किसी पवित्र तिथि में कन्या पीपल वृक्ष के चारों ओर मिट्टी का थाल्हा बनाती है तथा एक माह तक प्रतिदिन जल से थाले को भरती है। इससे कन्या का वैधव्य योग समाप्त हो जाता है।

## वैधव्यहर पीपल विवाह

इसमें वैधव्य योग वाली कन्या को पीपल वृक्ष के पास बैठाकर कन्यादान करते हैं। इससे कन्या के एक विवाह हो जाने का दोष नहीं लगता, वैधव्य योग समाप्त हो जाता है।

## सोमवती अमावस्या व्रत

अमावस्या तिथि जो सोमवार को पड़ती है, उस दिन 'सोमवती अमावस्या' होती है। पुराणों के अनुसार उसका बड़ा महत्त्व है। इस दिन महिलाएँ पीपल के तने पर हल्दी से स्त्री–पुरुष की आकृति बनाकर उसे सिन्दूर और टीका लगाती हैं। तदुपरान्त सफेद सूत से वृक्ष के तने को पाँच बार लपेटकर फिर १०८ परिक्रमा करते हैं। वृक्ष की विधिवत पूजा कर जल चढ़ाने के बाद आकृति पर चिपकाया गया टीका अपने ललाट पर लगाती हैं।

## वैधव्य–योग–नाशक वट – सावित्री व्रत

वट वृक्ष से सम्बन्धित इस व्रत को वैधव्य–नाशक माना गया है। ज्योतिष के शास्त्रानुसार कन्या की कुण्डली में वैधव्य योग बनने पर माता–पिता से यह व्रत कराते हैं। तीन दिन व्रत रखकर कन्या से प्रतिदिन बरगद की पूजा प्रार्थना कराते हैं। ऐसी मान्यता है कि इस दिन कन्या को वट वृक्ष के पास बैठने से विशेष लाभ मिलता है। प्रार्थना की जाती है कि जिस प्रकार बरगद शाखा–प्रशाखा में वृद्धि करता है, उसी तरह हम भी पौत्रों से सम्पन्न हों।

## शनि शान्ति व्रत

शनि ग्रह की शान्ति के लिए प्रत्येक शनिवार को प्रात:काल पीपल वृक्ष को जल और नीला फूल चढ़ाते हैं। सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के बाद वृक्ष के नीचे सरसों के तेल दीपक जाया जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्योतिषशास्त्रानुसार भी वृक्षों की पूजा का विधान है। तरह–तरह के वृक्षों से सम्बन्धित व्रत और पूजा ग्रह–शान्तिकारक माने गए हैं। व्रत और पर्व भी हमारी आध्यात्मिक संस्कृति का विशिष्ट अङ्ग है। समस्त मत–प्रणालियों तथा उपासना पद्धतियों के प्रति उदारता एवं सहिष्णुता का भाव रखना हमारा जीवन है।

इसके अतिरिक्त सोमवार से रविवार तक वारों के व्रत का भी विधान है। कुछ मनुष्य अपनी इच्छानुसार रखते हैं और कुछ ज्योतिष के अनुसार ग्रहों की दशा के अनुसार भी रखे जाते हैं। प्रत्येक माह की पूर्णिमा को भी व्रत रखने का विधान है। इसके अतिरिक्त प्रान्तों के अनुसार भी अनेकों व्रत हैं।

स्पष्ट है कि हमारा उद्देश्य भौतिक साधन जुटाना ही नहीं, अभ्युदय के लिए ऐहिक जीवन में संसार की श्रेष्ठता प्राप्त करना, सुख–सौभाग्य, गौरव और सामर्थ्य बढ़ाना है। जड़–चेतन के प्रति कल्याणकारी दृष्टिकोण लोक कल्याण के लिए समर्पण की भावना ही हमारा गन्तव्य है।

# अष्टम् अध्याय
# वैदिक साहित्य में नारी

भूतकाल के प्रति श्रद्धा हमारी एक राष्ट्रीय विशेषता है। परम्परा का निरन्तर अनुसरण करते रहना हमारी एक विशिष्ट मनोवृत्ति है अर्थात् युगों तक बराबर प्रचलित प्रथाओं के अन्दर एक प्रकार की आग्रहपूर्ण भक्ति। जब–जब नई संस्कृतियों से सामना हुआ अथवा नवीन ज्ञान आगे आया, भारतीयों ने सामायिक प्रलोभनों की अधीनता स्वीकार किए बिना अपने परम्परागत विश्वास को दृढ़तापूर्वक स्थिर रखा, किन्तु जहाँ तक सम्भव हुआ नवीन से उतना अंश लेकर पुराने के अन्दर मिला भी लिया। यह सनातन मिश्रित उदारता ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की सफलता का प्रधान रहस्य है। इस देश की सभ्यता वेदों के काल तक पीछे जाने पर एक साथ ही पुराने भी है और नई भी। जब–जब इतिहास की माँग हुई, इसने समय–समय पर अपने को नये सिरे से युवा बना लिया। जब–जब परिवर्तन होता है उसका ज्ञान नवीन परिवर्तन के रूप में नहीं भासित होता। उसे अपना लिया जाता और हर समय यह प्राचीन विचार पद्धति को दिए गए नवीन रूप में स्वीकृत प्रतीत होता है।

वेद मानव–मस्तिष्क से प्रादुर्भूत ऐसे नितान्त आदिकालीन प्रमाणिक ग्रन्थ हैं, जिन्हें हम अपनी निधि समझते हैं। विल्सन लिखता है ''जब ऋग्वेद और यजुर्वेद की मूल संहिताएँ पूर्ण हो जाएँगी उस समय हमारे पास इतनी पर्याप्त सामग्री होगी कि हम उनसे निकाले जाने वाले निष्कर्षों का सही–सही मूल्यांकन कर सकेंगे और यह मालूम कर सकेंगे कि राजनैतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में हिन्दुओं की वास्तविक स्थिति एक ऐसे युग में क्या रही होगी, जो सामाजिक संगठन के अब तक के सबसे पूर्व के उल्लेख अर्थात् ग्रीक सभ्यता के उदय से भी बहुत पहले का समकालीन था और जो अब तक के ज्ञात इतिहास में सबसे प्राचीन असीरियन साम्राज्य के स्मृति–चिह्नों से भी पूर्वसम्भवत: प्राचीन हिब्रू लेखों का समकालीन था और केवल मिस्र के उन राज्यों का ही परवर्ती था, जिनके विषय में सिवा कुछ नामों के अभी तक हम बहुत कम जानते हैं। वेदों से हमें उस सबके

विषय में, जो प्राचीनता के बारे में विचार करने पर बहुत रोचक प्रतीत होता है, बहुत बड़ी जानकारी मिलती है।''

डॉ. राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन में लिखते हैं कि ''किसी भी भारतीय विचारधारा की सही–सही व्याख्या के लिए वेदों के सूक्तों का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। हम उन्हें चाहे जो भी रूप दें – अधूरी पौराणिक कल्पनाएँ, असंस्कृत रूपक, अन्धकारावृत विषम मार्ग में की गई चेष्टा का परिणाम, अथवा अपरिपक्व रचनाएँ – तो भी भारतीय आर्यों के परवर्ती काल के धार्मिक कृत्यों एवं दार्शनिक ज्ञान के वे आदिस्रोत तो हैं ही, साथ ही उनका अध्ययन परवर्ती विचारधारा को ठीक–ठीक समझने के लिए आवश्यक है। हम एक प्रकार की ताजगी और सादगी, और बसन्तकाल की बयार के समान एवं प्रातःकाल के खिले हुए फूल की भाँति एक अनिर्वचनीय आकर्षण मानव–मस्तिष्क के इन सर्वप्रथम प्रयत्नों में देखते हैं, जो विश्व के रहस्य को अवगत करके उसकी अभिव्यक्ति करने के लिए किए गए थे। वेद की मूल संहिताएँ, जो आज हमें उपलब्ध हैं। उस समय की बौद्धिक स्फूर्ति से प्राप्त हुई हैं जबकि आर्य लोक अपनी वास्तविक मातृभूमि को छोड़कर इस देश में आकर बसे थे। वे अपने साथ कुछ ऐसे विशेष भाव एवं विश्वास लाए जिनका इस देश की भूमि में विकास और प्रचलन हुआ।''

वेद वह दिव्य ज्ञान–आकार है जिसे पढ़कर विदेशी भी इसके समक्ष नत–मस्तक हो जाते हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सभी प्रकार के ज्ञान भण्डार को अपने भीतर संजोए नित्य प्रकाश देने में वे आज भी उतने ही सक्षम हैं जितने आज से पहले थे। महान् भारतीय विद्वान् योगी श्री अरविन्द घोष की सम्मति में ''वेद रहस्यमय सिद्धान्तों एवं गूढ़ दार्शनिक ज्ञान से भरे हुए हैं। उनके मत में सूक्तों में वर्णित देवता मनोवैज्ञानिक व्यापारों के संकेत हैं।

वेदों के मुख्य विषय हैं – कर्म, उपासना और ज्ञान, जो समस्त मानव–जाति के धर्म हैं। इनमें केवल स्त्री अथवा केवल पुरुष को लक्ष्य करके अधिक बातें नहीं कही गयी हैं, जो कुछ है, सबके लिए है। वेद इतिहास भी नहीं है, जिससे स्त्री और पुरुष वर्ग के विषय में कुछ विशेष प्रसंग आए, तथापि उनमें इतिहास के बीज और साधन सामग्री अवश्य है। वेद ज्ञान के भण्डार हैं, उस भण्डार में खोज करने पर नारी के महत्त्व को प्रकाशित करने वाले विषय

भी अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे कि विदित है कि वेद चार हैं – ऋक्, यजुः, साम, और अथर्व।

ऋग्वेद में हमें आदिम, किन्तु कवि हृदयों के भावोत्तेजित उद्गार मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि वे इन्द्रियों एवं बाह्य जगत् के विषय में उठने वाली अदम्य आशंकाओं से मुक्ति पाने की खोज में थे। ऋग्वेद के सूक्त इस अंश में दार्शनिक है कि वे संसार के रहस्य की व्याख्या किसी अतिमानवीय अन्तर्दृष्टि अथवा असाधारण दैवी प्रेरणा द्वारा नहीं, किन्तु स्वतन्त्र तर्क द्वारा करने का प्रयत्न करते हैं। वैदिक सूक्तों में बुद्धि का जो प्रकाश मिलता है वह सर्वत्र एक सा नहीं है। ऐसे भी भावुक कवि थे जिन्होंने केवल आकाश के सौन्दर्य पर और पृथ्वी की अद्‌भुत वस्तुओं पर विचारकर के वैदिक सूक्तों के निर्माण द्वारा अपनी आत्मा के बोझ को हल्का किया। जगत् का ज्ञान उन्हें जीवन का मार्ग प्रदर्शित करने में अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। मौलिक दार्शनिक प्रेरणा एवं इस जगत् के निजी स्वरूप को जानने और समझने की आकांक्षा केवल इसी विप्लव एवं संघर्षकाल के अन्त में प्रगट हुई। यही काल था जब मनुष्यों ने शान्ति से बैठकर, उन देवी–देवताओं के बारे में, जिन्हें वे अज्ञान के कारण पूजते रहे थे, शंका करना और जीवन के रहस्यों पर विचार करना प्रारम्भ किया। वैदिक कवि घोषणा करता है "मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ, मेरा रहस्यमय, आबद्ध मन इधर–उधर भटकता है।" यद्यपि यथार्थ दर्शन ज्ञान के अंकुर आगे चलकर फूटते हैं। फिर भी जीवन का जो स्वरूप वैदिक सूक्तों के काव्य एवं कर्मकाण्ड में प्रतिबिम्बित होता है वह शिक्षाप्रद है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ही कुछ ऐसी बातें पायी जाती हैं, जो प्राचीन काल से ही चली आने वाली आर्य नारी की सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डालती है।

वेदों में 'देव' शब्द का भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयोग है। 'देव' वह है जो मनुष्य को देता है। वह समस्त विश्व को देता है। विद्वान् पुरुष भी 'देव' है, क्योंकि वह अपने अन्य साथी मनुष्यों को विद्या या ज्ञान का दान देता है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि और आकाश भी देव हैं, क्योंकि वे समस्त सृष्टि को प्रकाश देते हैं। पिता, माता, आचार्य और अतिथि भी देव हैं। इसका अर्थ है दिव्यगुण युक्त अथवा प्रकाशमान। कुछ विदुषी नारियाँ अपने सद्गुणों के कारण तथा मन्त्रों का साक्षात्कार करने वाली मन्त्र द्रष्ट्री ऋषिकाओं अथवा देवियों के रूप में प्रतिष्ठित हुई हैं। यजुर्वेद में नारी के विषय में बहुत कम चर्चा है।

सामवेद में तो है ही नहीं। अथर्ववेद में चर्चा अवश्य है, पर ऋग्वेद से अधिक नहीं।

वास्तव में ऋग्वेद में देवमाला के निर्माण की पद्धति जैसी स्पष्ट देखी जाती है वैसी अन्यत्र नहीं मिल सकती। वैदिक देवताओं के प्राकृतिक शक्तियों से साम्य स्थापित करने के साथ शनैः शनैः उन प्राकृतिक शक्तियों को ही अतिमानवसत्ता का रूप दे दिया गया। वैदिक सूक्तों के प्राचीनतम ऋषि प्राकृतिक दृश्यों को देखकर अपने सरल स्वभाव के कारण अनायास ही अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठते थे। विशेषकर कवि–स्वभाव के कारण उन्होंने प्राकृतिक पदार्थों को ऐसे प्रगाढ़ मनोभावों और कल्पना शक्ति द्वारा देखा कि उन्हें वे आत्मा की भावना से परिपूर्ण प्रतीत होने लगे। वे प्रकृति प्रेम से अभिज्ञ थे और इसलिए सूर्योदय और सूर्यास्त के अद्‌भुत दृश्यों में खो गए, क्योंकि ये दोनों ही प्राकृतिक घटनाएँ हैं जो आत्मा को प्रकृति के साथ जोड़ देती है। उनके लिए प्रकृति एक जीवित सत्ता थी। जिसके साथ वे प्रेम सम्बन्ध जोड़ सकते थे। धर्म का प्रारम्भिक रूप इसी प्रकार की प्रकृति की पूजा था और यही प्राकृतिक पर्यावरण संरक्षण का प्रारम्भ था।

जब विचारधारा ने प्राकृतिक जगत् से आध्यात्मिक जगत् की ओर एवं भौतिक से आत्मिक की ओर बढ़ना आरम्भ किया तो अमूर्त देवी–देवताओं की कल्पना करना सरल हो गया। जैसे कि पीछे स्पष्ट किया है कि 'देव' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ है उज्ज्वल और आगे चलकर प्रकाशमान तत्त्वों के लिए इसका प्रयोग होने लगा है। यह समस्त उज्ज्वल पदार्थों को प्रकट करने वाली परिभाषा के रूप में परिणत हो गया। इसी प्रकार पृथ्वी, अग्नि, अदिति, सवितृ आदि सबको देवी माना गया। इस विषय में धीरे–धीरे प्रगति हुई अर्थात् भौतिक अवस्था से चेतनत्व और चेतनत्व से दैवीय रूप तक पहुँच गया। जैसे धन की देवी लक्ष्मी, शक्ति की दुर्गा और विद्या की सरस्वती है वैसे ही अदिति, उषा, इन्द्राणी, इला, भारती, होला, श्रद्धा, पृश्नि आदि वैदिक देवियाँ अनेक तत्त्वों की अधिष्ठात्री हैं। इन्हें कहीं देवमाता और कहीं देवकन्या बताया गया है।

दैवी संस्कृति के अनन्तर वैदिक ऋषिकाओं और वैदिक नारियों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि आर्य लोग नारियों का बड़ा सम्मान करते थे। वे घर को नहीं, नारी को घर मानते थे और गृहस्थाश्रम के पालन में नारी की ही प्रधानता समझते थे। उनके विवाह का प्रयोजन था नारी के साथ रहकर धर्मानुष्ठान और यज्ञ सम्पादन। नारी के बिना गृहस्थ का अस्तित्व ही कहाँ है और

गृह के बिना गृहस्थ–धर्म का सम्पादन ही कैसे हो सकता है। इस धारणा के अनुसार गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा एकमात्र गृहिणी पर ही निर्भर थी। ऋग्वेद में कहा भी है – हे वधू तू परिगृह को जा और वहाँ गृहस्वामिनी हो –

**गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो**

(१०.८५.२६)

सन्तान पुत्र हो या पुत्री, दोनों उन्हें समान रूप से प्रिय थे। वे पूषा देवता से कमनीय कन्या के लिए प्रार्थना करते थे। कन्याओं का उनके यहाँ बड़ा आदर होता था। वैदिक काल में भी स्वयंवर प्रथा थी और स्त्रियों को स्वेच्छा से अपना पति चुनने का अधिकार था –

**स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्**

कन्या का विवाह हो जाने पर उससे जो पुत्र होता, उसको वे अपने धन का उत्तराधिकारी भी बनाते थे। पुत्र अथवा पौत्र के अभाव में दौहित्र को यह अधिकार मिलता था। कन्या का एक नाम 'दुहिता' है। यह शब्द 'दुह्' धातु से बना है। इसका अर्थ है दुहना। इसके आधार पर कई विद्वानों का कहना है कि 'कन्याएँ पहले समय में दूध दुहने का काम करती थीं। घर में गोरक्षा का प्रधान कार्य इन्हीं के हाथों में था। दूध, दही, घी आदि की व्यवस्था ये ही करती थी। कन्याएँ तथा स्त्रियाँ रुई धुनतीं, सूत काततीं, वस्त्र बुनतीं और कसीदा भी काढ़ती थीं। इनके समर्थन में अनेकों मन्त्र उपलब्ध होते हैं –

**साध्वपांसि सनता न उक्षिते, उषासानक्ता वय्येव रण्विते।**
**तन्तुं त तं संवयन्ती समीची, यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती॥**

(२.३.६,)

कन्याएँ कलश में जल भरके लाती थीं। वे माता–पिता को पानी नहीं भरने देती थी। खेत का कार्य भी वे ही करती थी। कन्या की रक्षा पिता करते थे। पिता न हों तो बड़े भाई पर उसकी रक्षा और विवाह आदि का भार रहता था। वृद्धावस्था तक नारी अपने घर में प्रभुता रखती थी। पशु–पक्षिणी और वीर प्रसविनी नारी का उस समय विशेष आदर था। ऐसी नारी की प्राप्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना की जाती थी –

**अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।**
**वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥**

(१०.८५.४४)

नारी स्त्री धन से ब्राह्मणों को दान देती थी। स्त्री को अपने लिए धन का कुछ नियत भाग प्राप्त होता था, जिस पर केवल उसी का अधिकार होता था। इस प्रकार आर्य जाति में प्राचीन काल से ही नारी का समादर होता आया है।

वेदों के अनुशीलन से जान पड़ता है कि आर्यों में स्त्री शिक्षा का यथेष्ट प्रचार था। स्त्रियाँ वेदाध्ययन करती थीं और कविताओं की रचना भी करती थीं। वे अपनी त्याग–तपस्या से ऋषिभाव को भी प्राप्त होतीं और मन्त्रों का साक्षात्कार करती थीं। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का आविष्कार स्त्रियों द्वारा हुआ है, यह हमने चर्चा की है। कुछ सूक्तों में ऐसे मन्त्र हैं, जिनसे सूचित होता है कि आर्य लोग विवाह के समय वर और कन्या को विविध वस्त्राभूषणों से विभूषित करके बहुत सम्मान करते थे। लोक स्त्री की प्राण–रक्षा और मर्यादा–रक्षा के लिए भारी से भारी कष्ट सहन करने से पीछे नहीं हटते थे। स्त्रियाँ यज्ञ–कार्य में नियुक्त होती थीं। स्त्री अपने पति के अधीन रहती थी, परन्तु घर के अन्य सब पदार्थों पर उसी का प्रभुत्व रहता था। घर में काम करने वाले नौकर–चाकरों पर उसका ही शासन रहता था। वर और वधू जब एक साथ बैठते थे, उस समय गुरुजनों और देवताओं से वधू के सौभाग्य के लिए प्रार्थना की जाती थी। यह प्रथा अब तक प्रचलित है। आज भी निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़कर सिन्दूर एवं सौभाग्यवर्धक आशीर्वाद अर्पण किया जाता है –

**सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।**
**सौभाग्यमस्यै दत्त्वा यायास्तं वि परेतन।।**

अर्थात् यह परमकल्याणमयी वधू यहाँ बैठी है, गुरुजनों तथा देवताओं, आप सब लोग यहाँ आवें, इसे कृपादृष्टि से देखें तथा इसको सौभाग्यसूचक आशीर्वाद देकर अपने–अपने स्थान को पधारें।

कुछ मन्त्रों से यह भी सूचित होता है कि उस समय स्त्रियाँ सङ्गीत आदि में भी निपुण होती थीं। इसके अतिरिक्त पति के साथ स्त्रियाँ युद्ध में जाती थीं। विश्यला अपने पति के साथ युद्ध में गयी थी और वहाँ उसकी जाँघ टूट गयी थी। जिसे अश्विनीकुमारों ने ठीक किया था। नमुचि के पास भी स्त्रियों की सेना थी। वृत्रासुर के साथ उसकी माता दनु भी युद्ध में गयी थी, जो इन्द्र के द्वारा मारी गयी। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह भी सिद्ध होता है कि पहले की स्त्रियाँ वेद पढ़ती थीं और यज्ञोपवीत भी धारण करती थी। सुलभा, मैत्रेयी और गार्गी आदि की विद्वत्ता प्रसिद्ध है। वैदिक साहित्य का प्रभाव वाल्मीकिरामायण में भी

देखा जा सकता है। सीता वैदिक प्रार्थना करती थी। कौशल्या के विषय में ऐसा आया है कि वे मन्त्रपाठपूर्वक अग्निहोत्र करती थी। वीरमित्रोदय के संस्कार–प्रकाश में स्त्रियों के दो भेद किये गये हैं – एक ब्रह्मचारिणी और दूसरा सद्योद्वाहा। इनमें– **'ब्रह्मवादिनीनामग्रीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्षचर्या'** – 'ब्रह्मवादिनी स्त्रियों को यह अधिकार है कि वे अग्निहोत्र वेदाध्ययन तथा अपने घर में भिक्षा ग्रहण करें।' इससे सिद्ध होता है कि सर्वसाधारण स्त्रियों के लिए यह अधिकार नहीं है। पहले सभी स्त्रियों को यह अधिकार था परन्तु आगे आने वाले समय में स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन आदि का निषेध कर दिया गया। यमस्मृति में कहा है – 'पूर्वकाल में कुमारियों का उपनयन, वेदारम्भ तथा गायत्री–उपदेश होता था, परन्तु उनके गुरु या अध्यापक केवल पिता, चाचा अथवा बड़े भाई ही होते थे। दूसरे किसी को यह अधिकार नहीं था कि उन्हें पढ़ाये –

**पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।**
**अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा।**
**पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः।।**

वेद मन्त्रों से यह भी ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र पहनती थीं, सूती वस्त्र वे केवल पहनती ही नहीं, बुनती थी थीं। ऊनी वस्त्र पहनने का भी रिवाज था। कपड़ा बुनने वाले तन्तुवाय भी उस समय होते थे। हाथों में कड़ा पहनने की प्रथा थी। आभूषण, आयुध, माला, हार, वलय आदि सुवर्ण के बनते थे। कहीं कहीं मन्त्र में कहा गया है – 'पति स्त्री के वस्त्र को न ओढ़े, अन्यथा श्री नष्ट हो जाती है' –

**अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।**
**पतिर्यद्वध्वो३ वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते।।**

(१०.८५.३०)

वर कन्या को वधू रूप में ग्रहण करते समय उसका हाथ पकड़कर कहता था –

**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।**
**भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।**

(१०.८५.३६)

'कल्याणी, मैं तुम्हारे और अपने सौभाग्य के लिये तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। तुम मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक बनी रहो। भग, अर्यता, सविता, पुरन्ध्रि, आदि देवताओं ने गृहस्थ धर्म की रक्षा के लिए मुझे तुझको दिया है।'

आर्य विवाह पद्धति में इस विधि का आज भी पालन किया जाता है। पत्नी लाजा–हवन के समय पति और कुटुम्बीजनों की मंगल–कामना करती थी। हिन्दू–धर्म में पति–पत्नी एक दूसरे के सखा और सहधर्मी हैं। दोनों का समान स्थान है। कोई किसी से छोटा या बड़ा नहीं है। सप्तपदी के विधान द्वारा नव–दम्पति के इसी सख्य–भाव को सुदृढ़ किया जाता है –

**इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्**
**क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।**

(१०.८५.४२)

तुम दोनों पति–पत्नी कभी एक दूसरे से अलग न होना। सम्पूर्ण आयु को विशेष रूप से प्राप्त करो। अपने गृह में रहकर पुत्र–पौत्रों के साथ आनन्द के साथ खेलते रहो। फिर कहा है कि 'प्रजापति हमें सन्तति दें, अर्यमा बुढ़ापे तक हमें साथ रखे, वधू तुम मङ्गलमयी होकर पति गृह में रहो। घर के मनुष्यों और पशुओं के लिए कल्याणकारिणी बनो –

**आ नः प्रजां जनयत् प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।**
**अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।**

(१०.८५.४३)

फिर परमात्मा से प्रार्थना की जाती है –

**इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कुणु।**
**दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।**

(१०.८५.४५)

वधू, तुम घर में सास, ससुर, ननद और देवर सबके हृदय की महारानी बनो। सबको अपने प्रेम, सेवा और सद्व्यवहार से जीत लो।

इन दिव्य आदर्शों का पालन वधू करती थी, आज भी विवाह के समय ये शिक्षाएँ दी जाती हैं। इसके लिए लज्जा को स्त्री का आभूषण माना गया है। इस सम्बन्ध में भी मन्त्र है –

**अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।**
**मा ते कशप्लकौ दृशन्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।।**

'साध्वी नारी तुम नीचे देखा करो, ऊपर न देखो। पैरों को परस्पर मिलाये रक्खो। वस्त्र इस प्रकार पहनो, जिससे तुम्हारे ओष्ठ तथा कटि के नीचे के भाग पर किसी की दृष्टि न पड़े'। इससे सिद्ध होता है कि स्त्री सलज हो और मुख पर घूँघट डाले

रहे। स्पष्ट है कि उस समय घूँघट प्रथा भी थी।

यजुर्वेद की तैतिरीयसंहिता में कहा गया है कि पिता के धन पर कन्या का कोई अधिकार नहीं होता। उसका अधिकारी पुत्र ही है। वाजसनेयिसंहिता में लिखा है कि ब्रह्मचारिणी और शिक्षित कन्या का विवाह होना चाहिए। अथर्ववेद में कहा गया है कि कन्या ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर तरुण पति को प्राप्त करती है – **'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम'** (११.५.१८)। माता–पिता के निरीक्षण में कन्या पति का चुनाव करती थी। कन्या की विदाई के समय उसके पिता पलंग, गद्दा, और कोच आदि देते थे। कन्या को खजाने की सन्दूक आदि भी दी जाती थी, गाय और कम्बल आदि भी दहेज में दिये जाते थे। स्त्री का अपने पति पर इस लोक और परलोक में अधिकार माना जाता था –

**'त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य च।'** (१४.१.४३)।

विवाह की अवस्था बड़ी प्रशस्त मानी गयी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में लिखा है–

**जायापत्योर्न विभागो दृश्यते।**

**पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च।।**

'स्त्री और पति में कोई विभाग या बँटवारा नहीं देखा जाता। दोनों एक हैं, दोनों के सब कुछ एक हैं। पति जब पाणिग्रहण कर लेता है, तब से प्रत्येक कर्म में दोनों का सहयोग अपेक्षित रहता है। इसी प्रकार पुण्यकाल में तथा द्रव्य–संग्रह में भी दोनों का सहयोग तथा समानाधिकार है।

शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि 'पत्नी के बिना पुरुष स्वर्ग नहीं जा सकता।' इसीलिए स्वर्ग आदि की कामना से किये जाने यज्ञ में पत्नी की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक समझी जाती थी – **'स रोक्ष्यज्जायामामन्त्रयते, जाये एहि स्वो रोहावेति। रोहावेत्याह जाया। तस्माज्जायामामन्त्रयते। अर्धो ह वैष आत्मनो यज्जाया।'**

'वह पुरुष स्वर्गलोक पर आरूढ़ होते समय पत्नी को सम्बोधित करता है– जाये, चलो, स्वर्गलोक में चलें।' पत्नी कहती है – 'स्वर्गलोक में चलें।' इसीलिए 'जाया' को आमन्त्रित करता है, क्योंकि जाया इस शरीर का अर्द्धाङ्ग है।'

ऐतरेय ब्राह्मण में नारी को सखा माना है – 'सखा ह जाया।'

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में नारी के प्रति बड़े सम्मान और उदारता का भाव है। नारी घर की रानी है – यही वैदिक सभ्यता का आदर्श है।

# ब्रह्मशक्ति भगवती गायत्री

**ॐ भूः भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो नः प्रचोदयात्।**

आर्य–संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'वेद' हैं। वेद का सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है – ब्रह्म–गायत्री। इन्होंने प्राणों का त्राण किया था, इसी से इनका नाम 'गायत्री' हुआ–

**यद् गयांस्तत्रे तस्याद् गायत्री नाम।**
**स यामेवामूँ सावित्रीमन्वाहैषैव सा।।**

आचार्य ने आठ वर्ष के वटु के प्रति उपनयन के समय जिस सावित्री का उपदेश किया था, वह यही है।

भारतभूमि में गायत्री की गरिमा का गान अनादिकाल से हो रहा है। इस गायत्री–मन्त्र में ही आर्य–ऋषि की सर्वातिशयी गम्भीरतम अनुभूति मूर्तिमान् हुई है। सृष्टि कर्ता ब्रह्मा से लेकर आज तक साधु–सन्तों, ऋषि–मुनियों तथा श्रेय मार्ग पर चलने वाले साधकों ने गायत्री मन्त्र का आश्रय ग्रहण किया। भारतीय ऋषि की चरम तपस्या का चरम फल ब्रह्मगायत्री है। जो ऋक्, साम और यजुः – तीनों वेदों में उद्घोषित है, जिसे लेकर समस्त उपनिषद् की साधना चलती है और आज भी भारतीय नर–नारी जप–ध्यान में निमग्न होकर प्रतिदिन नित्यकर्म का अनुष्ठान करते हैं। जितना अधिक साधना, तप तथा अनुष्ठानादि गायत्री मन्त्र का हुआ है उतना और किसी का नहीं। इसका एकमात्र कारण है कि गायत्री एक दैवी विद्या है जो परमात्मा ने हमारे लिए सुलभ बनाई है।

अन्यान्य वैदिक मन्त्रों के समान यह भी एक मन्त्र है, किन्तु गायत्री छन्द में ग्रथित होने के कारण यह 'गायत्री' नाम से लोक में विश्रुत हुआ है एवं सविता से सम्बन्धित होने के कारण 'सावित्री' भी कहलाता है। इस मन्त्र में तीन पद हैं। अक्षर चौबीस होने चाहिए किन्तु एक कम होने से इसकी संज्ञा 'निवृद्गायत्री' है–

**'ऊनाधिकैनैकेन निचृद्भुरिजौ'। (पिङ्गलसूत्र)**

तथापि 'वरेण्यम्' शब्द को 'वरेणियम्' पढ़कर इसमें चौबीस अक्षर मानने की विद्वानों की सम्मति रही है।

गायत्री मन्त्र का सरल अर्थ है कि 'हम सब जगत् स्रष्टा उस देवता के वरण करने योग्य तेज का ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को प्रेरित करें।

इस मन्त्र की अधिष्ठात्री देवी पञ्चमुखी और दशभुजा है। वे आराधकों की सकल कामनाओं की पूर्ति करने वाली है।

गायत्री मन्त्र में तीन तत्त्वों पर विचार किया गया है – १. सवितुर्वरेण्यं भर्गः' अर्थात् परात्पर तत्त्व, परमात्मा, २. 'धियो नः' अर्थात् जीव का बुद्धि तत्त्व, ३. प्रचोदयात् – इन दोनों का प्रचोदनात्मक सम्बन्ध। एक अनन्त ब्रह्माण्ड का केन्द्र है, दूसरा व्यष्टि जीव का जीवन–केन्द्र है और तीसरा इन दोनों के बीच प्रणोदन अर्थात् प्रेरणामूलक आन्तरसम्बन्ध है। इन तीनों तत्त्वों के ऊपर ही विश्व के समस्त दर्शन और विज्ञान प्रतिष्ठित है। भारतीय शास्त्रों के समग्र अनुशीलन का बीज है यह ब्रह्मगायत्री। इसी कारण गीता में भगवान् श्रीमुख से कहते हैं कि **'गायत्री छन्दसामहम्'** अर्थात् छन्दों में मैं गायत्री हूँ।

शतपथ ब्राह्मण में 'गायत्र्स्येकपदी इत्यादि' और तैत्तिरीयारण्यक में भी गायत्री की चर्चा है। उपनिषद् में इसकी उपासना है। छान्दोग्य का वचन है कि यह जो कुछ है, सब गायत्री ही है – **'गायत्री वा इदं सर्वम्'**। गायत्री समस्त वेदों और उपनिषदों का सार है। इसलिए गायत्री मन्त्र का नित्य जाप करना चाहिए–

**सर्वेषां वेदानां गुह्योपनिषत्सारभूतां ततो गायत्रीं जपेत्।**

गायत्री चमत्कार से प्रभावित होकर ऋषि–मुनियों ने इसकी भूरि–भूरि प्रशंसा की। आदिकवि वाल्मीकि ने अपने रामायण के चौबीस सहस्र श्लोकों की रचना गायत्री के चौबीस वर्णों को लेकर की। वेद व्यास ने अपने पुराण–मुकुटमणि श्रीमद्भागवतमहापुराण में गायत्री का वर्णन किया –

**यथा मधु च पुष्पेभ्यो घृतं दुग्धाद्रसत्पयः।**
**एवं हि सर्ववेदानां गायत्री सारमुच्यते।।**

जिस प्रकार पुष्पों का सारभूत मधु, दूध का घृत, रसों का सारभूत पय है, उसी प्रकार गायत्री मन्त्र समस्त वेदों का सार है। दर्शन शिरोमणि वेदान्त–दर्शन ने गायत्री द्वारा परब्रह्म के ही प्रतिपादन को सिद्ध किया। मनु महाराज की सम्मति है कि तीन वर्षों तक सावधान होकर गायत्री का जप करते रहने से जापक को परब्रह्म की प्राप्ति होती है –

**योऽधातेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।**
**स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः स्वमूर्तिमान्।।** (मनुस्मृति २.८२)

इस मन्त्र को जपते समय प्रणव और तीन व्याहृतियों को भी मन्त्र से पूर्व बोलने का सनातन सम्प्रदाय है। प्रणव परमात्मा का आदिम नाम है – **'तस्य वाचकः प्रणवः'**। तीनों व्याहृतियों का अर्थात् –

**भवतीति भूः सत्। भावयतीति भुवः चित्। स्वर्यते स्तूयते इति स्वः।**

भूः–भवः–स्वः का क्रमशः अर्थ है सत्–चित्–आनन्द। प्रपन्नरक्षाविचक्षण सच्चिदानन्द जगदुदयलील परमात्मा का ध्यान करते हुए गायत्री का जप करने वाले साधक विधूतकल्मष होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

सुविख्यात जर्मन दार्शनिक इमैन्युएल काण्ट साहब गम्भीर तत्त्वों और विचारों से प्रणयन करने के बाद उपसंहार में कहा है कि ''इस संसार में दो वस्तुओं को देखकर मुझे भय लगता है; उनमें एक है 'नक्षत्रखचित आकाश' और दूसरा है 'विवेक की अनुभूति' – सदसद् का अन्तर्ज्ञान।''

दोनों वस्तुओं से उनको भय क्यों होता था, इसका काण्ट साहब ने बतलाया है। उन्होंने कहा है कि अंधेरे में जब मैं नक्षत्रखचित आकाश की ओर देखता हूँ तो मेरा मन कहता है कि 'कौन हो तुम महाशक्तिवान पुरुष, जो इस अगणित सृष्टिमय विश्व ब्रह्माण्ड का सञ्चालन कर रहे हो? जिस प्रकार बालक गेंद खेलते हैं, उसी प्रकार खेल–खेल में तुम अनन्त ब्रह्माण्डों को अपने अपने कक्ष में दौड़ा रहे हो। तुम कितने महान् हो, कितने विराट् हो! और तुम्हारे सामने मैं कितना क्षुद्र हूँ! कितना क्षुद्रातिक्षुद्र हूँ। कीटादपि कीट हूँ।' यह सोचते ही मन विस्मयाविष्ट हो जाता है, और भय लगता है। उसकी महत्ता और अपनी क्षुद्रता के बीच अब इतना विशाल व्यवधान पाता हूँ, तब भय के अभिभूत हुए बिना मैं नहीं रह सकता।

दूसरी वस्तु तो कण्ट साहब के लिये भयजनक जान पड़ी, वह है अन्तर में से विवेक की वाणी या अन्तर्यामी का अनुभव। इस सम्बन्ध वे कहते हैं कि ''मैं जब कोई अनुचित कार्य करता हूँ तब मानों कोई मेरे भीतर से बिजली की सी कड़ककर कहता है कि 'तुम यह अनुचित कर रहे हो।' तब सोचता हूँ– वह कौन है, जो मेरे ही भीतर रहता है पर मुझसे बड़ा है, मुझ पर हुकुम चलाता है, मेरे विचारों के ऊपर अपनी राय देता है। उसकी बातें स्पष्ट सुनायी पड़ती हैं, उनमें ननु–नच नहीं है। उसकी बातों में एक कठोर अनुशासन है, जो मुझको

अपने आदेश के अनुसार कार्य में प्रवृत्त करने के लिये बाध्य करता है। उसकी इस सुस्पष्ट आदेश वाणी को जब मैं सुनता हूँ, तब भय लगता है। मुझे जैसा बनना उचित था, वह उसे बतला देता हूँ। तब मुझे जैसा बनना उचित था और मैं जैसा कुछ बन गया हूँ, उस आदर्श और यथार्थ के बीच जो व्यवधान है, वह मेरी आँखों के सामने आ जाता है। वह व्यवधान इतना बड़ा है कि उसका विचार करते ही मेरे प्राण भय के मारे स्तब्ध हो जाते हैं। आदर्श की अपेक्षा मैं कितना नीचे हूँ, कितना छोटा हूँ – इसका विचार करते ही मैं भयभीत हो उठता हूँ।''

इसके बाद काण्ट साहब कहते हैं कि 'मालूम होता है ये दोनों वस्तुएँ यथार्थ में दो नहीं हैं। नक्षत्रखचित आकाश के अन्तराल में जो शक्ति है और मेरे भीतर छिपी हुई जो सञ्चालिका शक्ति है, वे दोनों मेरे मन एक ही जान पड़ती है।' काण्ट कहते हैं कि 'ये दोनों शक्तियाँ एक हैं, ऐसा मेरा अनुमान होता है, परन्तु निश्चयपूर्वक ठीक–ठीक कह नहीं सकता। क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऐसी आशा भी नहीं कि किसी दिन इसका प्रमाण मिल जायेगा।'

काण्ट साहब की इस उक्ति के समान उच्च तत्त्वज्ञान पाश्चात्यदर्शन में अधिक नहीं है – यों कहें तो अत्युक्ति न होगी। पाश्चात्य विचारकों की आध्यात्मिक गवेषणा की सीमान्तरेखा यहीं आकर विलीन होती है। अत्यन्त आश्चर्यपूर्वक काण्ट साहब की आध्यात्मिक गवेषणा के साथ भारतीय आर्य–ऋषियों की गम्भीर अनुभूति का एक विशेष सादृश्य दिखलायी देता है।

काण्ट साहब ने उनके दर्शन से जिस अन्तिम तत्त्व की बात कही है, भारतीय ऋषियों ने गायत्री–मन्त्र में भी उसी चरम सत्य की बात कही है। उन्होंने कहा है कि 'भूः, भवः, स्वः चतुर्दश भुवनात्मक इस समस्त ब्रह्माण्ड के जो प्रसविता देवता हैं, उनकी वरणीय ज्योति का हम ध्यान करते हैं। क्यों करते हैं? उनके साथ हमारा सम्बन्ध क्या है? वे हमारी बुद्धि हैं, प्रचोदयिता अर्थात् प्रेरणाकर्ता हैं। जो ब्रह्माण्ड के चालक हैं, वे ही हमारी बुद्धि के चालक हैं।'

काण्ट के साथ वैदिक ऋषि की अनुभूति का यह मेल है और दोनों में पृथक्ता भी है। वह यह है कि काण्ट ने कहा है कि दोनों वस्तुएँ एक ही हैं, यह उनका अनुमान मात्र है, वे निश्चय करके कुछ भी नहीं कह सकते। भारतीय ऋषि कहते हैं कि दोनों एक हैं, इस बात हम सुनिश्चित रूप से जानते हैं। 'वेदोहमेतम्'। हमने उनको देखा है। अन्धकार के उस पर उस परमज्योति की सत्ता

का. हमने प्रत्यक्ष किया है। हमारे ज्ञान में सन्देह, भ्रम और प्रमाद नहीं है; क्योंकि सत्य के साथ एकात्मता प्राप्त करके हमने उसको अपरोक्ष अनुभूति से जाना है।

काण्ट की बात और भारतीय ऋषियों की बात में कम पृथक्ता नहीं है। एक के लिए सत्य निर्णय का पथ है – या तर्क–वितर्क। आर्यऋषियों के लिए सत्यानुभूति का पथ है – सत्य या तपस्या। तर्क–वितर्क तो केवल बुद्धि का कार्य है। साधना समस्त जीवन का कार्य है। तर्क–वितर्क करने से सत्य का आंशिक ज्ञान होता है, और साधना के द्वारा सत्य के साथ तादात्म्य लाभ होता है। इसी कारण पाश्चात्त्यों का सत्यानुसन्धान खण्ड–खण्ड है, और भारतीय ऋषियों की तत्त्वानुभूति समग्ररूप में सामायिक है। यही मानों ऋषियों की शिक्षा है।

सत्य के दो रूप हैं – एक निर्गुण और दूसरा सगुण। एक निर्वस्तुक और दूसरा वस्तुनिष्ठ। दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह गणितशास्त्र का एक निर्गुण सत्य है। दो वस्तुएँ तथा दो वस्तुएँ मिलकर चार वस्तुएँ हो जाती हैं – यह व्यावहारिक जीवन में वस्तुनिष्ठ सगुण सत्य है। सत्य की इस सम्पूर्णता की अनुभूति भारतीय ऋषियों को जैसे हुई, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं हुई।

वैदिक साधना में गायत्री–मन्त्र का निर्गुण स्वरूप प्राप्त हो गया। अब उसका सगुण रूप चाहिए। वास्तविक जीवन में जब तक उसकी वस्तुनिष्ठ मूर्ति प्रकट नहीं होती, तब तक सत्य का पूर्ण दर्शन सिद्ध नहीं होता। विद्वानों के अनुसार वह मूर्ति प्राप्त हुई है – कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में। जब घोड़ों की बागडोर छोड़कर भगवान् ने अर्जुन की बुद्धि की बागडोर को हाथ में लिया, तब ऋषियों ने देखा कि सहस्रों सूर्य के समान **'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता'** जिनकी अङ्गज्योति है, वही वरणीय–भर्ग पुरुष आज अर्जुन की बुद्धि का प्रचोदयिता है। यही गायत्री मन्त्र की सविशेष सगुण मूर्ति प्रकटित है। महाभारत में, भारत समर के मध्यस्थल में यह मूर्ति प्रकट होती है। इससे यही ऋषि शिक्षा मिलती है कि प्रत्येक नर–नारी के जीवन–समर के मध्यस्थल में यह मूर्ति विराजमान रहे। मूर्तिमान् गायत्री मन्त्र को प्रणाम करते हैं –

**प्रपन्नपारिजाय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।**
**ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः।।**

इस मन्त्र के ज्ञानमय प्रदीप को जिन्होंने प्रज्ज्वलित कर रक्खा है, उन कृष्णद्वैपायन व्यास को हम प्रणाम करते हैं।

**नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे**
**फुल्लारविन्दायतपत्र नेत्र।**
**येन त्वया भारततैलपूर्ण:**
**प्रज्वालितो ज्ञानमय: प्रदीप:।।**

महाभारत और पुराणों के अनुसार विद्वदजनों का मन्तव्य है कि – गायत्री मन्त्र की मूर्ति देखी गयी, अर्जुन की बुद्धि प्रचोदना का फल हुआ – सप्तशतश्लोकमयी गीता।

**या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनि:सृता।।**

ऋषिगण पुकार उठे – 'किमन्ये: शास्त्रविस्तर:।' वेद व्यास ने भी सोचा– ठीक तो है, गीता मिल गयी है। अब और शास्त्रों के विचार की आवश्यकता ही क्या है? यों विचारकर वे सरस्वती नदी के तीर पर जाकर ध्यान करने लगे; परन्तु ध्यान में मन नहीं लगता, मानो कोई कार्य शेष रह गया हो। वे स्वयं कुछ निश्चय नहीं कर सके। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता प्रकट हो गयी; फिर कौन–सा काम बाकी रह सकता है? वेदव्यास की साधना का अन्त हो गया; फिर भी चरम तत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई। इसीलिये भगवान् की कृपाशक्ति देवर्षि नारद का वेष धारण करके आयी। चरम सत्य साधन लब्ध वस्तु नहीं है, यह तो कृपालब्ध धन है।

देवर्षि नारद ने महर्षि वेदव्यास से कहा – 'आपके चित्त में शान्ति क्यों नहीं है? जान पड़ता है आप इसका कारण नहीं समझ सके हैं। गायत्री मन्त्र की जो परमातिपरम मूर्ति है, वह अब तक जगत् को नहीं दिखलायी गयी।' महर्षि ने देवर्षि की बात नहीं समझी। तब देवर्षि ने समझाकर कहा –

''ब्रह्मगायत्री–मन्त्र में यह तथ्य है कि 'वे हमारी बुद्धि को प्रेरित करते हैं।' परन्तु किस ओर करते हैं और किस प्रकार करते हैं – इसका कोई उल्लेख नहीं है। समझना चाहिये कि वे सर्वोत्तम उपायों से तथा सर्वश्रेष्ठ दिशा में ही प्रेरित करते हैं। वे अर्जुन की बुद्धि को सञ्चालित करते हैं – उपदेश के द्वारा। बलपूर्वक या कानून बनाकर सञ्चालन करने की अपेक्षा उपदेश के द्वारा सञ्चालन करना श्रेष्ठ है। परन्तु यह सर्वोत्तम नहीं है – निर्मल विशुद्ध प्रेम के द्वारा जो कर्म प्रवर्तना होती है, वह उपदेश की अपेक्षा भी सौगुनी अधिक उत्तम और कार्यकारी है। उपदेश के द्वारा होने वाली प्रेरणा में कुछ बाह्यभाव है। प्रेम के द्वारा जो प्रेरणा होती

है, वह सर्वथा आन्तरिक होती है। उपदेश आवेदन विचार शक्ति के ऊपर होता है। प्रेम का आवेदन भावनाशक्ति, इच्छाशक्ति, अनुभवशक्ति – सबके ऊपर है, अखण्ड जीवन के ऊपर होता है। इसी कारण यह अधिक व्यापक और निबिड़ होता है।

यह हुई सर्वोत्तम उपाय की बात, अब यह निर्धारण करना है कि सर्वश्रेष्ठ दिशा क्या है? अर्जुन की बुद्धि का सञ्चालन भगवान् ने किया था कर्त्तव्य की ओर। यह श्रेष्ठ दिशा तो है, परन्तु सर्वश्रेष्ठ दिशा नहीं है। जिस दिशा में ऐश्वय–माधुर्य की पराकाष्ठा के रूप में स्वयं–स्वरूप में विराजमान है, वही दिशा सर्वश्रेष्ठ दिशा है। परम पुरुष जब विशुद्ध प्रेम के द्वारा किसी के जीवन को प्रचोदित करते हुए अपने असमोर्ध्व स्वरूप की ओर चलाते हैं, तभी गायत्री–मन्त्र पूर्णाङ्ग रूप में मूर्तिमान होता है।

ऐसा क्या कहीं हुआ है? महर्षि वेदव्यास की यह जानने की इच्छा समझकर श्रीनारद जी ने कहा – हाँ, हुआ है। क्यों, क्या आप नहीं जानते कि वृन्दावन में यमुना के तट पर क्या लीला हुई है? जिस दिन केवल विचारमय उपदेश के द्वारा नहीं, बल्कि प्रेममयी मुरली के द्वारा ब्रज–वधुओं के जीवन–यौवन को, किसी धर्म–कर्म या कर्त्तव्य की ओर नहीं, वरं समस्त धर्मकर्मों की ओर से हटाकर (सर्वधर्मान् परित्यज्य) अपने सर्वातिशायी माधुर्य की ओर दौड़ाया गया था। उसी दिन गायत्री–मन्त्र ने पूर्णाङ्गता प्राप्त की थी।

वेदव्यास ने नया प्रकाश प्राप्त किया। यह परम और चरम प्रकाश उनकी अपनी साधना का फल नहीं था, परम कृपा का दान था। कृपा के बिना इस प्रकाश के राज्य में प्रवेश करने की क्षमता किसी में भी नहीं है। कृपाशक्ति से शक्तिमान् व्यास ने इस अभिनव प्राप्त सत्य को रूप प्रदान किया श्रीमद्भागवत में। उन्होंने नौ स्कन्धों में भूमिका लिखकर दशम स्कन्ध की रचना की। रासपञ्चाध्यायी में ब्रह्म–गायत्री–महामन्त्र के सर्वाङ्गीन मूर्ति प्राप्त की। इसीलिए तो श्रीमद्भागवत को कहा गया है '

**गात्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः।**

श्रीमद्भागवत को प्राप्तकर ऋषिवर्ग आनन्द से उत्फल्ल होकर पुकार उठे –

**राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सताङ्गणे।**
**यावन्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम्।।**

सारे पुराणों का आदर तभी तक है जब तक भागवत् का साक्षात्कार नहीं होता। केवल सारे पुराणों का ही नहीं – सारे धर्म–कर्म, साधन–भजन, राष्ट्र, समाज, संसार, नेतृत्व, कर्तृत्व, पाण्डित्य – सब का तभी तक आदर है, जब तक मुरली मनोहर मुरली की तान से बुद्धि को प्रचोदित नहीं करते।

श्रुति–स्मृति और पुराण – यही हिन्दू संस्कृति का सर्वस्व है। श्रुति में ब्रह्मगायत्री निर्गुण है। स्मृति में ब्रह्मगायत्री सगुण मूर्ति में प्रकटित है। पुराण में ब्रह्मगायत्री अप्राकृत गुणातीत भूमिका में नित्य नवायमान मूर्ति में पराजित है। यही भारतीय संस्कृति का सर्वस्व है। गायत्री जपने वाला समस्त पापों से दूर हो जाता है – **'सर्वपापानि नश्यन्ति गायत्री जपतो नृणाम्'**। गायत्री साधना में मुमुक्षुओं को मोक्ष मिलेगा, धन के इच्छुक लोगों को सम्पत्ति प्राप्त होगी। युयुत्सुओं को विजय तथा व्याधिग्रस्त को नीरोगता प्राप्त होगी –

**मोक्षाय च मुमुक्षुणां श्री कामानां श्रिये तदा।**
**विजयाय युयुत्सूनां व्याधितनामरोगकृत।।**

# उषा

ऋग्वेद में लगभग तीन सौ बार 'उषा' देवी रूप में स्तुति की गयी है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल से ही 'उषा' का वर्णन किया गया है। ब्रह्मवादिनी उशिज ने मन्त्रद्रष्ट्री के रूप में 'उषा' से सम्बन्धित विभिन्न सूक्तों का साक्षात्कार किया है। 'उषा' के लिए सत्यमनीषिणी, दीप्तिमती, तेजस्विनी आदि गुणबोधक विशेषणों द्वारा सम्बोधन किया गया है। वह नित्य–यौवन–सम्पन्न, शुभ्रवसना और धनाधीश्वरी बतायी गयी है।

स्वर्ग से अवतरित होती हुई 'उषा' का दर्शनीय स्वरूप है – उत्तम धन के साथ तेजस्विनी देवी के रूप में प्रकाशित होने की मंगलमय कामना की है–

**सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।**
**सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती।।**

'उषा' का जन्म सूर्य से माना है, अतः यह सूर्य पुत्री है। लोक में प्रथम पिता प्रकाशित होता है और फिर पुत्री। परन्तु यहाँ प्रथम पुत्री प्रकाशित है तत्पश्चात् पिता सूर्य। चन्द्रमा और रात्रि दोनों पति–पत्नी हैं। रात्रि के बाद सूर्यकिरणें प्रकाशित होती हैं, अतः रात्रि सूर्य–किरणों की माता है –

**स्तम्भीद्ध द्यां स धरुणं प्रुषायदृभुर्वाजाय द्रविणं नरो गोः।**
**अनु स्वजां महिषश्चक्षत व्रा मेनामश्वस्य परि मातरं गोः।।**

स्पष्ट है कि उषा सूर्यादय के पूर्व चमकती है, जिसे उषाकाल कहा जाता है। अपनी सैकड़ों किरणों सहित यह उषा मनुष्यों के पास जाती है और उन्हें भाग्यशाली बनाती है। इसीलिए सारा संसार 'उषा' को देखते ही प्रणाम करता है। मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि –

**उषा आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः।**
**आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु।।**
**विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि।**
**सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रा मघे इवम्।।**

अर्थात् हे स्वर्ग कन्ये उषे ! तू अपने आल्हाददायक प्रकाश से युक्त होकर इस भूमि के अन्धकार दूर करती हुई अपने उपासकों के लिए उत्तम सौभाग्य प्रदान कर। जब उषा उत्तम नेतृत्व करती हुई अन्धकार का नाश करती है, उस समय

विश्व का प्राण और जीवन तेरे अन्दर ही रहता है। अत: विलक्षण धन वाली तेजस्विनी उषा देवी ! अपने बड़े रथ से आकर हमारी प्रार्थना श्रवण करें।

मन्त्रों में विभिन्न प्रकार के धन को प्रदान करने वाली देवी के रूप में 'उषा' की स्तुति की गयी है। प्रकाशित होती हुई 'उषा' प्रजाओं का हित करती है, उनसे हितकारी वाणी बोलती है। 'उषा' एक उत्तम गृहिणी के समान सबको बलवान् बनाती है, सबका पालन करती है। 'उषाकाल' सब को कर्म करने की प्रेरणा देता है। मनन करने वाले योगीजन भी इस काल में उठकर अपनी साधना करते हैं, तथा जो धन की इच्छा करते हैं, वे भी इसी काल में उठकर परिश्रम करते हैं। पक्षी भी अपने आहार की खोज में घोंसले छोड़कर उड़ जाते हैं। इस काल में प्राणप्रद हवा बहती है, जो सबको जीवन प्रदान करती है।

उषाकाल के समय सर्वप्रथम पूर्व दिशा में लाली फैलती है। जिस प्रकार शूरवीर युद्ध के समय अपने शस्त्रास्त्र तीक्ष्ण करते हैं, उसी प्रकार उषा सूर्य की किरणों को तीक्ष्ण करती है।

कई मन्त्रों में आलंकारिक शैली में 'उषा' का वर्णन है। कहीं कहा है कि कर्म करने में कुशल स्त्रियों के समान यह उषा स्वयं भी कर्म करती है और दूसरों को भी प्रेरित करती है। बड़े–बड़े आयोजनों से दूर प्रदेश तक के भाग को किरणों से अलंकृत करती है। उत्तम कर्म करने वाले को तथा उत्तम दानी को भरपूर अन्न देती है।

कहीं कहा है कि यह उषा नर्तकी के समान विविध रूपों को धारण करती है। जैसे एक नर्तकी अपना भेष बदलकर अधिकाधिक सुन्दर दीखती है, उसी तरह यह उषा प्रतिक्षण अपने रंग बदलकर अधिकाधिक सुन्दर प्रतीत होती है। इस प्रकार सुन्दर बनकर वह सब भुवनों को प्रकाशित करती है।

उषा का तेजस्वी प्रकाश प्रतिदिन पूर्वदिशा को आलोकित करता हुआ अन्धकार को दूर करता है और समस्त जगत् को कर्म करने की प्रेरणा देता है।

उषा के उदय होने के साथ मनुष्य की आयु के एक–एक दिन घटने लगते हैं। जिस प्रकार पाँसे फेंकने वाले जुआरी के धन को जुआ क्षीण कर देता है, उसी प्रकार उषा मनुष्यों की आयु क्षीण करती है।

उषाकाल में यज्ञ करना चाहिए। हविर्भाग लेने उषा प्रतिदिन आती है। कीर्ति को धारण करती है, स्तुति सुनती है। भ्रातृहीन स्त्री जिस प्रकार निराश्रित होने पर वापस अपने माता–पिता के पास चली जाती है, अथवा जिस प्रकार कोई

विधवा धन प्राप्त करने के लिए न्यायालय चढ़कर जाती है, उसी तरह सुन्दर वस्त्र पहन कर पति की इच्छा करने वाली यह उषा हँसती हुई अपनी सुन्दरता प्रकट करती है।

किसी मन्त्र में रात्रि को छोटी बहिन बताया है कि किस प्रकार छोटी बहिन अपनी बड़ी बहिन के लिए जगह खाली कर देती है। उषा को देखते ही रात्रि दूर चली जाती है। सूर्य की किरणों से अन्धेरा दूर करती हुई यह उषा मिलकर जाने वाले विद्युत समूह के समान रूप से प्रकाशती है।

वस्तुतः उषा की स्तुति सूर्य किरणें को देने वाली, कल्याणकारी यज्ञ का सम्पादन करने वाली और धन प्रदान करने वाली देवी के रूप में की है। यह उषा गत उषाओं में अन्तिम और आने वाली उषाओं में प्रथम है। उषाकाल का समय स्वास्थ्यप्रद और पोषणतत्त्व रूपी तत्त्व लाकर मनुष्यों को प्रदान करती है। अतः सूर्योदय से पूर्व जागना चाहिए, जो इन पोषणतत्त्वों से लाभ उठता है, उसकी आयु बढ़ती है और वह पुष्ट होकर समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

# पृथ्वी

**विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा। हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।**
**वैश्वानर बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।**
**(अथर्व. पृथ्वीसूक्त)**

भारतीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक जड़तत्व चेतन से अधिष्ठित है। चेतन ही उसका नियन्ता और संचालक है। हमारी पृथ्वी का भी एक चिन्मय स्वरूप है। यही इस स्थूल पृथ्वी का अधिदेवता है। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त का नाम पृथ्वी सूक्त है। इसमें कुल ६३ मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में मातृभूमि के प्रति ऋषि ने अपनी प्रगाढ़ भक्ति का परिचय दिया है। इसी को श्रीदेवी और भूदेवी भी कहते हैं। **'श्रीश्च लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ'** इस मन्त्र में श्री पद से इन्हीं 'भू' देवी का स्मरण किया गया है। ये चिन्मयी देवी इस स्थूल पृथ्वी की अधिष्ठात्री है। ये ही इसका हृदय है। ये अमृत है क्योंकि चिन्मय है। जड़तत्व ही मृत्यु का ग्रास बनता है। अतएव ये मृत्युलोक से परे व्योम में प्रतिष्ठित है—

**यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।**

ऋषि ने इस सूक्त में पृथ्वी के आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों रूपों की स्तुति की है। प्रारम्भ में संभवतः आकाश एवं पृथ्वी विस्तृतता, चौड़ाई और उत्पादन क्षमता आदि अपने भौतिक रूपों को ही अभिव्यक्त करते थे। मधु देने वाली, दूध से पूर्ण आदि गुण भूमि के कहे जाते थे। स्पष्ट है कि कहीं भौगोलिक दृष्टि से इसके नैसर्गिक सौन्दर्य का चित्रण है और कहीं पौराणिक वर्णन के बीज भी उपलब्ध हैं।

**यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।**
**गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु।।**
**विश्वम्भरा वसुधानो प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।**
**वैश्वानर बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।**
**यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।**
**सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।**

अर्थात् जिस हमारी मातृभूमि में हमारे पूर्वजों ने बल, बुद्धि, वीर्य,

ऐश्वर्य से प्रसिद्ध सब भाँति पूर्णवीर पुरुष विक्रम, पराक्रमरूप कर्तव्य अच्छी तरह करते रहे हैं, जिसमें विद्वान् और वीर हिंसानिरत, आततायी लोगों को जीतते रहे हैं। जो गौवें, घोड़े, और पशु–पक्षियों को विशेष सुख देने का स्थान है। वह हमारी मातृभूमि हमको ऐश्वर्य और तेज, वीर्य, शौर्य, विज्ञान दे।

जो सबका पोषण करने वाली, सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना आदि अनेक रत्नों की खान है। सबको आश्रय देने वाली, सुवर्ण आदि की खान जिसके वक्षस्थल में है, जितने जंगम जीव या पदार्थ हैं, उनकी बसाने वाली सब भाँति के मनुष्यों के समूह से भरा हुआ राष्ट्र या देश धारण करती हुई हमारी मातृभूमि अग्रगामी, हमारे नेता, ज्ञानियों और वीर पुरुषों तथा हमें सब प्रकार के ऐश्वर्य देने वाली हो।

निद्रा तन्द्रा, आलस्य, अज्ञान आदि दोष रहित सब बातों में चतुर और उद्यमी, विद्वान्, शूर और कुशल जन, सब प्रकार के पदार्थों को देने वाली जिस विस्तृत भूमि की प्रमाद रहित हो रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें शूरता, वीरता, ज्ञान तथा ऐश्वर्य से पूर्ण करे।

पुराणों में पृथ्वी के अधिदेवता का रूप 'गौ' बताया गया है। पृथ्वी सूक्त में 'कामदुधा', 'पयस्वती', 'सुरभिः', 'धेनुः' आदि पदों द्वारा उक्त स्वरूप की यथार्थता सूचित की गयी है। सबसे पहले द्युलोक और पृथ्वीलोक को ही मानवीय गुणों से युक्त रूप दिया गया है, जैसे 'ह्रास न होने वाला', 'पिता', 'माता' आदि। कुछ विद्वानों के विचार से यह भी सम्भव है कि इस विषय में शनैः शनैः प्रगति हुई अर्थात् भौतिक अवस्था से चेतनत्व, और चेतनत्व से दैवीय रूप तक पहुँचा गया। पृथ्वी और द्युलोक – जिनकी सबसे पहले – प्राचीन समय में संसार में सर्वत्र पूजा होती थी, यद्यपि प्रारम्भ में अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते थे – शीघ्र ही एक प्रकार से वैवाहिक बन्धन में बँध गए। पृथ्वी को फलदायिनी माँ के समान माना जाने लगा, जिसमें द्युलोक बीज वपन करके उसे गर्भित करता है। अतः भूमि और द्युलोक सबके माता–पिता तुल्य हैं, जो सब प्राणियों को जीवन देते हैं और उन्हें जीवन–निर्वाह के साधन प्रदान करते हैं –

**'द्यावापृथिवी विश्वजन्ये'** (ऋग्वेद ३.२५.३)

**'पिता माता च भुवनानि रक्षतः।'** (ऋग्वेद १.१६०.२)

सम्पूर्ण भूमि ही माता के रूप में ऋषि को दृष्टिगोचर हुई है और उसने बड़े भक्तिभाव से इस विश्वगर्भा वसुधा के गुण–गौरव का गान किया है –

**माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।** (अथर्ववेद १२.१.१२)

यह भूदेवी अपने सच्चे सेवक के लिए श्री एवं विभूति के रूप में परिणत हो जाती है। अतः ऋषि ने माता की इस महामहिमा को हृदयङ्गम करके आशीर्वाद के लिए प्रार्थना की है।

जिस पृथ्वी के अङ्क में सागर लहराता है, सरिता कल–कल गान करती है, कृषि होती है, अन्न उपजता है, जिस पर स्थावर–जङ्गम विश्व के प्राणी आश्रय लेते हैं, सम्पूर्ण प्राणि जगत् तृप्त होता है, वह भूमि हमें वहीं आश्रय दें, जहाँ हम प्रथम मधुर पेय रस पाएँ। प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण किया गया है–

**यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्मान्नं कृष्टयः संबभूवुः।**
**यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु।।**

सायणाचार्य ने इन मन्त्रों का अनेक लौकिक लाभों के लिए भी विनियोग बताया है। आग्रहायणी कर्म, पुष्टिकर्म, कृषिकर्म तथा पुत्र–धनादि सर्व वस्तु की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले कर्म में एवं अन्न, सुवर्ण, मणि आदि की प्राप्ति, ग्राम–नगर आदि की सत्ता, भूकम्प, प्रायश्चित्त, तथा पार्थिव महाशान्ति आदि के कर्म में भी इन मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि पृथ्वी शक्तिभरी औषधियाँ धारण करती है। अतः उसके आराधना से हम सबका हित हो। ऋषि की यह प्रार्थना अपने लिए न होकर सर्वप्राणि मात्र के कल्याण की भावना से ओतप्रोत है –

**असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।**
**नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।।**

वैदिक ऋषि प्रस्तुत मन्त्र में केवल मातृभूमि को ही प्रणाम नहीं करता वरन् राष्ट्र के विषय में भी अपनी उच्च महत्त्वाकांक्षा व्यक्त करता है –

**यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।**
**सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।।**

द्वादश काण्ड का प्रथम मन्त्र ही राष्ट्रसंरक्षकों के लिए अर्पित है, जिसमें मनुष्य के लिए आवश्यक गुणों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है –

**सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।**
**सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्यूरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।**

अर्थात् अटल सत्यनिष्ठा, यथार्थ ज्ञान, क्षात्र तेज, धर्म का पालन, प्रत्येक कार्य करने की दक्षता, ब्रह्म ज्ञान, यज्ञ दान अथवा त्याग, ये गुण भूमि,

देश या राष्ट्र का पालन पोषण और रक्षण करते हैं। मातृभूमि अपने आधार से भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों के सम्पूर्ण पदार्थों का उत्तम प्रकार से पोषण करने में समर्थ है। हम रात–दिन तेरा संरक्षण करते हैं, तू हमारी कीर्ति बढ़ाने का कारण है।

जो भूमि पहले जल के भीतर समुद्र में थी, जिस पृथ्वी का अन्तर्भाग अमर स्थान के सदृश सत्य संकल्प के बल से व्याप्त है, जो भूमि महत् आकाश में है। जिसकी कुशलताओं के साथ मननशील विद्वान् अच्छी तरह सेवा करते आए हैं, वह भूमि हमारे उत्कृष्ट राज्य में तेज या दीप्ति, शूरता, वीरता, शक्तिमत्ता आदि गुण बढ़ाने वाली हो।

जैसे मेघों का जल प्राणिमात्र को एक समान मिलता है, वैसे ही जिस भूमि में परोपकारता संन्यासी उत्तम आचरण न छोड़ते हुए एक समान उपदेश देते हुए संचरण करते रहते हैं, जो भूमि हमें सब प्रकार के अन्न–जल देती रहती है, वह हमारी तेजस्विता के द्वारा रक्षा करे।

प्रस्तुत मन्त्र में मातृभूमि के लिए प्रार्थना की गयी है कि –

**गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।**
**बभ्रुं कृष्णां अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् रोहिणीं**
**विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।।**

अर्थात् हे मातृभूमि! बर्फ से ढके पर्वत और वन तुझे सुख देने वाले हों, उन पर्वतों में शत्रु न रहें, सबका भरण–पोष करने वाले हों, कृषिकर्म के उपयुक्त हों, वृक्षादि को उपजाने वाली हों, स्थिर और वीरों द्वारा रक्षित हों, ऐसी सर्वगुणसम्पन्न महान् पदवी को प्राप्त हों, राष्ट्र को अपने अधिकार में रखे।

यज्ञ करने से पर्यावरण शुद्ध रहता है। यज्ञ में जो जो सारी सामग्री प्रयोग में लाई जाती है, उससे वायु और जल शुद्ध होते हैं। यज्ञों के कारण उत्तम वृष्टि होती है। उत्तम वृष्टि से अन्न उपजता है। जिसको खाकर मनुष्य आनन्द से निवास करते हैं। अतः ऐसी मातृभूमि उत्तम प्राण और दीर्घायु देने वाली हो–

**भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञ हव्यमरंकृतम्।**
**भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।**
**सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु।**

हमें गर्व है कि हमारी मातृभूमि में ही षड्ऋतु का आगमन क्रमानुसार

होता है। संसार के किसी अन्य देश में ऐसा नहीं है। ये छः ऋतुएँ हमें अपने स्वभावानुसार सुख प्रदान करती हैं।

इस भूगर्भा में असंख्य रत्न, हीरे, पन्ने, सुवर्ण आदि की खानें हैं। अतः इस प्रकार वैभव सम्पन्न पृथ्वी हमें धन देने वाली हो और देवस्वरूप हमें अभीष्ट फल प्रदान करने वाली हो। शुभचित्त होकर सब प्रकार से सुख–सौभाग्यवर्धक हो।

सूक्तों में मंगलमय कामना की गयी है कि जब मातृभूमि की स्तुति करते थे उस समय उसका महत्त्व और कीर्ति चारों दिशाओं में फैल जाती थी। वही उसका महत्त्व अब भी बना रहे। नगर, वन, सभा, परिषद्, संग्राम, सब स्थानों पर मातृभूमि की प्रशंसा हो। हम जो भी बोलें वह हमारी मातृभूमि के लिए हितकारी होगा, जो कुछ आँखों से देखेंगे वह सब भी मातृभूमि के लिए सहायक होगा, इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि के अर्पण होंगे। हम तेजस्वी और बुद्धिमान हों, जो शत्रु हमारी मातृभूमि का दोहन करेंगे, उनका हम नाश करेंगे।

हे मातृभूमि कल्याण को बढ़ाने वाली बुद्धि से हमें सुस्थिर कर हमें पृथ्वी में सम्पत्ति प्राप्त हो।

# अदिति

'अदिति' जिससे अनेक देवताओं की, जिन्हें आदित्य नाम से पुकारा जाता है, उत्पत्ति हुई है। अदिति का शब्दार्थ है, असीम एवं बन्धन–रहित। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाम उस अदृश्य अनन्त का है, जो हमारे चारों ओर व्याप्त है और पृथ्वी से दूर अनन्त विस्तृत क्षेत्र है, अर्थात् मेघमाला एवं आकाश भी अदिति है। यह सबका, जो यहाँ और इससे भी परे है, अपरिमित आधार–स्वरूप है। अदिति आकाश है, अदिति मध्यवर्ती देश भी है, अदिति पिता और माता एवं पुत्र है। अदिति सब देवता है। पञ्चजन्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद) भी है। पञ्चजन्य से कहीं गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, अभिप्राय भी है –

**अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।**
**विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।।**

**(ऋग्वेद, १–८९–१०)**

भाव यह है कि द्यु, अन्तरिक्ष, माता–पिता, सूर्य–चन्द्रादि, देव, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद आदि जो भूतकाल में हो चुका है, जो हो रहा है और जो होगा वह सब अदिति अर्थात् एक अखण्डित सत्य है। यह एक तत्त्वदर्शन द्वारा सर्वत्र समभाव देखने से शान्ति मिलती है और परम कल्याण होता है। ये सर्वशक्तिमती, विश्वहितैषिणी, सर्वग्राहिणी और स्वाधीन मानी गयी है। 'अदिति' का उल्लेख पुराणों में भी मिलता है जहाँ वह दक्ष प्रजापति की कन्या और महर्षि कश्यप की धर्मपत्नी है।

ऋग्वेद में 'अदिति' मन्त्रद्रष्टा के रूप में और कुछ मन्त्रों में देवी के रूप में वन्दनीय है। मन्त्रद्रष्टा के रूप में एक ही बार उल्लेख है –

**किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्तेन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः।**
**ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद् वि सिन्धून्।।**

**(ऋग्वेद, ४–१८–७)**

ऋत्विजों के द्वारा की गई स्तुतियाँ इन्द्र के बल को बढ़ाती हैं। इस प्रकार मानों वे इन्द्र को उत्पन्न ही करती हैं। ये स्तुतियाँ कहती हैं कि हमारे पुत्र इन्द्र ने बड़े शस्त्रों से मेघों को मारा और इन जल प्रवाहों को बहाया, और जल प्रवाहों

से भरी हुई नदियाँ इन्द्र की शक्ति को धारण करती हैं। अदिति का देवी के रूपों में स्तवन अनेक मन्त्रों में है। मन्त्र है –

**देवेभिर्देव्यदिते ऽरिष्टभर्मन्ना गहि। स्मत् सूरिभिः पुरुप्रिये सुशर्मभिः।**

**(ऋग्वेद, ८–१८–४)**

देवी अदिति हिंसा रहित उपायों से सबका भरण पोषण करती है। इसीलिए सभी प्राणी अदिति–प्रकृति माता पर प्रेम करते हैं। बहुतों से स्नेह प्राप्त करने वाली अविनाशी देवी, तू विद्वानों, उत्तम सुखों और देवों के साथ हमारे पास आ। भाव है कि प्रकृति माता में सब सुख विद्यमान हैं, पर प्रकृति के नियमानुसार चलने वाला ही उस सुखों को प्राप्त कर सकता है।

**ते हि पुत्रासो अदिते विर्दूर्द्वेषांसि योतवे। अहोश्चिदुरुचक्रयोऽनेहसः।**

**(ऋग्वेद, ८–१८–५)**

अदिति माता के विशाल कर्म करने वाले पाप से रहित पुत्र अपने शत्रुओं तथा पापियों को दूर करना निश्चय से जानते हैं। अदिति पुत्र देव स्वयं अहिंसक रहकर बड़े–बड़े काम करते हैं। पर जब उन्हें शत्रु छेड़ते हैं तब वे शत्रुओं और पापियों को नष्ट करना भी जानते हैं।

**अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः। अदितिः पात्वंहसः सदावृधा।**

**(ऋग्वेद, ८–१८–६)**

अविनाशी देवी और कपट से रहित अदिति माता अन्दर और बाहर से एक होने के कारण कुटिलता से रहित है। ऐसी माता हमारे पशुओं की रात–दिन रक्षा करे और हमें भी पापकर्मों से बचावे।

'अदिति' से सर्वजनहिताय के लिए प्रार्थना की गयी है –

**उत स्या नो दिवा मतिरदिरुत्या गमत्। स शंताति मयस्करदप स्त्रिधः।**

**(ऋग्वेद, ८–१८–७)**

वह बुद्धिमति एवं शक्तिशालिनी 'अदिति' माता अपनी संरक्षण शक्ति से हमारी सदा रक्षा करे। वह हमें शान्ति देने वाला सुख प्रदान करें तथा हमारे शत्रुओं को हमसे दूर करें।

उपर्युक्त मन्त्रों में 'अदिति' प्रकृति–स्वरूपा है। प्राकृतिक एवं साँस्कृतिक पर्यावरण के मन्त्र हैं। प्रकृति ने मनुष्य को जीवित रहने के लिए उपहार दिए। जीव का भरण–पोषण करती है। ऐसी स्थिति में हमारा भी कर्त्तव्य है कि हमें प्रकृति की रक्षा करनी चाहिए, तभी वह हमें शान्ति प्रदान करेगी।

# अदिति

'अदिति' जिससे अनेक देवताओं की, जिन्हें आदित्य नाम से पुकारा जाता है, उत्पत्ति हुई है। अदिति का शब्दार्थ है, असीम एवं बन्धन–रहित। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाम उस अदृश्य अनन्त का है, जो हमारे चारों ओर व्याप्त है और पृथ्वी से दूर अनन्त विस्तृत क्षेत्र है, अर्थात् मेघमाला एवं आकाश भी अदिति है। यह सबका, जो यहाँ और इससे भी परे है, अपरिमित आधार–स्वरूप है। अदिति आकाश है, अदिति मध्यवर्ती देश भी है, अदिति पिता और माता एवं पुत्र है। अदिति सब देवता है। पञ्चजन्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद) भी है। पञ्चजन्य से कहीं गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, अभिप्राय भी है –

**अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।**
**विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।।**

**(ऋग्वेद, १–८९–१०)**

भाव यह है कि द्यु, अन्तरिक्ष, माता–पिता, सूर्य–चन्द्रादि, देव, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद आदि जो भूतकाल में हो चुका है, जो हो रहा है और जो होगा वह सब अदिति अर्थात् एक अखण्डित सत्य है। यह एक तत्त्वदर्शन द्वारा सर्वत्र समभाव देखने से शान्ति मिलती है और परम कल्याण होता है। ये सर्वशक्तिमती, विश्वहितैषिणी, सर्वग्राहिणी और स्वाधीन मानी गयी है। 'अदिति' का उल्लेख पुराणों में भी मिलता है जहाँ वह दक्ष प्रजापति की कन्या और महर्षि कश्यप की धर्मपत्नी है।

ऋग्वेद में 'अदिति' मन्त्रद्रष्टा के रूप में और कुछ मन्त्रों में देवी के रूप में वन्दनीय है। मन्त्रद्रष्टा के रूप में एक ही बार उल्लेख है –

**किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्तेन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः।**
**ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद् वि सिन्धून्।।**

**(ऋग्वेद, ४–१८–७)**

ऋत्विजों के द्वारा की गई स्तुतियाँ इन्द्र के बल को बढ़ाती हैं। इस प्रकार मानों वे इन्द्र को उत्पन्न ही करती हैं। ये स्तुतियाँ कहती हैं कि हमारे पुत्र इन्द्र ने बड़े शस्त्रों से मेघों को मारा और इन जल प्रवाहों को बहाया, और जल प्रवाहों

से भरी हुई नदियाँ इन्द्र की शक्ति को धारण करती हैं। अदिति का देवी के रूपों में स्तवन अनेक मन्त्रों में है। मन्त्र है –

**देवेभिर्देव्यदिते ऽरिष्टभर्मना गहि। स्मत् सूरिभिः पुरुप्रिये सुशर्मभिः।**

**(ऋग्वेद, ८–१८–४)**

देवी अदिति हिंसा रहित उपायों से सबका भरण पोषण करती है। इसीलिए सभी प्राणी अदिति–प्रकृति माता पर प्रेम करते हैं। बहुतों से स्नेह प्राप्त करने वाली अविनाशी देवी, तू विद्वानों, उत्तम सुखों और देवों के साथ हमारे पास आ। भाव है कि प्रकृति माता में सब सुख विद्यमान हैं, पर प्रकृति के नियमानुसार चलने वाला ही उस सुखों को प्राप्त कर सकता है।

**ते हि पुत्रासो अदिते र्विदूर्द्वेषांसि योतवे। अहोश्चिदुरुचक्रयोऽनेहसः।**

**(ऋग्वेद, ८–१८–५)**

अदिति माता के विशाल कर्म करने वाले पाप से रहित पुत्र अपने शत्रुओं तथा पापियों को दूर करना निश्चय से जानते हैं। अदिति पुत्र देव स्वयं अहिंसक रहकर बड़े–बड़े काम करते हैं। पर जब उन्हें शत्रु छेड़ते हैं तब वे शत्रुओं और पापियों को नष्ट करना भी जानते हैं।

**अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः। अदितिः पात्वंहसः सदावृधा।**

**(ऋग्वेद, ८–१८–६)**

अविनाशी देवी और कपट से रहित अदिति माता अन्दर और बाहर से एक होने के कारण कुटिलता से रहित है। ऐसी माता हमारे पशुओं की रात–दिन रक्षा करे और हमें भी पापकर्मों से बचावे।

'अदिति' से सर्वजनहिताय के लिए प्रार्थना की गयी है –

**उत स्या नो दिवा मतिरदिरुत्या गमत्। स शंताति मयस्करदप स्रिधः।**

**(ऋग्वेद, ८–१८–७)**

वह बुद्धिमति एवं शक्तिशालिनी 'अदिति' माता अपनी संरक्षण शक्ति से हमारी सदा रक्षा करे। वह हमें शान्ति देने वाला सुख प्रदान करें तथा हमारे शत्रुओं को हमसे दूर करें।

उपर्युक्त मन्त्रों में 'अदिति' प्रकृति–स्वरूपा है। प्राकृतिक एवं साँस्कृतिक पर्यावरण के मन्त्र हैं। प्रकृति ने मनुष्य को जीवित रहने के लिए उपहार दिए। जीव का भरण–पोषण करती है। ऐसी स्थिति में हमारा भी कर्त्तव्य है कि हमें प्रकृति की रक्षा करनी चाहिए, तभी वह हमें शान्ति प्रदान करेगी।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में भी 'अदिति' से सम्बन्धित मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में सृष्टि का विकास है –

**देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।**
**उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे।**
**(ऋग्वेद, १०–७२–१)**

हम देवों, आदित्यों के जन्मों का स्पष्ट रूप से उत्तम रीति से वर्णन करते हैं। जो देवों का संघ पहले से वेदमन्त्रों के स्तोत्रों से यज्ञानुष्ठान में स्थापित होता है, बृहस्पति या अदिति ने लुहार के समान इन देवों को उत्पन्न किया। देवों के पूर्ण युग में आदि सृष्टि में असत् से सत् उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर दिशाएँ उत्पन्न हुईं और उसके पश्चात् वृक्ष उत्पन्न हुए। वह आने वाले काल में स्तोता का साक्षात् दर्शन करेगा।

**देवानां युगे प्रथमे ऽसतः सदजायत।**
**तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि।**
**(ऋग्वेद, १०–७२–३)**

वृक्ष से पृथिवी उत्पन्न हुई और पृथ्वी से दिशाएँ उत्पन्न हुईं। अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई। दक्ष की जो पुत्री थी वह अदिति थी और उसने देवों को उत्पन्न किया। जिस समय हे देवो, तुम इस जल में उत्तम रीति से स्थित हुए, तब नाचते हुए, मोद करते हुए तुम्हारा अंशभूत एक आदित्य ऊपर आया। जिस प्रकार मेघ वृष्टि से भूमि को पूरित करते हैं, उसी प्रकार तुमने अपने तेजों से सारे जगत् को व्याप्त किया। उसी समय जल में, आकाश में सुप्त सूर्य को प्रातःकाल में उदित होने के लिए तुमने आवाहित किया।

अदिति के शरीर से आठ पुत्र उत्पन्न हुए – मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग, विवस्वान् और आदित्य। सात पुत्रों के साथ वह देवों के पास गई और आठवाँ पुत्र सूर्य को आकाश में छोड़ दिया –

**अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।**
**देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्।**
**(ऋग्वेद, १०–७२–८)**

अन्तिम मन्त्र है –

**सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत् पूर्व्यं युगम्।**
**प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत्।**
**(ऋग्वेद, १०–७२–९)**

सातों पुत्रों के साथ अदिति पूर्वकाल में चली गई और प्राणियों के जन्म–मरण के लिए फिर सूर्य को आकाश में धारण करती है।

इस प्रकार अदिति का दक्ष कन्या के रूप में वर्णन है और अदिति के देव–सन्तानों के विषय में बताया है। 'अदिति' से हमें एक व्यापक सबकी इच्छा पूर्ति करने वाली, सर्वोत्पादक, अनन्तशक्तिशालिनी प्रकृति के निजी रूप की पूर्वानुभूति होती है, जिसे साँख्य में प्रकृति कहा गया है।

# ब्रह्मवादिनी घोषा

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ३९वे एवं ४०वें सूक्त में ब्रह्मवादिनी घोषा के द्वारा साक्षात्कृत मन्त्रों का उल्लेख है। घोषा काक्षीवान् ऋषि की कन्या थी। इनको कोढ़ रोग हो गया था, इसी से योग्य वय में इनका विवाह नहीं हो सका। अश्विनीकुमारों की कृपा से इनका रोग दूर हुआ। तब इनका विवाह हुआ –

**अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगो ऽनाशोश्चिदवितारापमस्य चित्।**
**अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित्।।**
**(ऋग्वेद, १०–३९–३)**

सत्यस्वरूप अश्वि, पिता के घर में जरावस्था को प्राप्त दुर्दैवी घोषा के सौभाग्य प्राप्ति के तुम सहायक हुए, अनशन करने वाले – भोजनादि से रहित लोगों के भी तुम रक्षक हो, जाति या गुणों में निकृष्टों के भी तुम रक्षक हो, अन्ध और दुर्बलों के भी तुम रक्षक हो, इतना ही नहीं तुम ही रोग पीड़ित के रोग दूर करने वाले चिकित्सक वैद्य कहे जाते हैं।

आगे मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा है कि हे अश्विद्वय, तुम्हारी कृपा से ही यह घोषा नारी लक्षण प्राप्त करके सौभाग्यवती हुई, इसे कन्येच्छुक पति प्राप्त होवे। इसलिए तुम्हारी कृपा से वृष्टि होने के कारण उत्तम औषधियाँ–शस्य आदि उत्पन्न होंवें। इस तेजस्वी पुरुष की ओर निम्नाभिमुखी होकर नदियाँ भी बह रही हैं, वह रोग रहित है। शत्रुओं से न मारे जाने वाले इसको तब ही पतित्व प्राप्त होता है –

**जनिष्ट योषा पतयत् कनीनको वि चारुहन् वीरुधो दंसना अनु।**
**आस्मै रीयन्ते निवनेव सिन्धवो ऽस्मा अह्न भवति तत् पतित्वनम्।।**

अश्विनी कुमारों से घोषा कामना करती है कि आपके आशीर्वाद से मेरे पुत्र–पौत्रादि सुप्रतिष्ठित होकर जीवन–यापन करें। पतिगृह में मैं पति की प्रियपात्री बनूँ।

विभिन्न मन्त्रों में अश्विनी कुमारों की स्तुति की गयी है। उन्हें पिता के समान कहा है कि तुम्हारा सर्वत्र उत्तम सुखपूर्वक चलने वाला जो रथ है, उसे अहोरात्र यजमान–भक्त आदर से बुलाते हैं। उस सुन्दर रथ में तुम बैठे हुए होते ही हम पिता के नाम के समान आनन्द से तुम्हें बुलाते हैं। हे अश्विद्वय मेरी स्तुति सुनो और मुझे, जैसे पुत्र को माता–पिता के समान शिक्षा दो। मैं बन्धुरहित,

अज्ञानी, कुटुम्बहीन और अश्रद्ध मति वाली हूँ, अतः तुम मेरा उद्धार करो।

सूक्तों में उल्लेख है कि अश्विकुमारों ने अनेक ऋषि–मुनियों और राजाओं की भी रक्षा की है। जराजीर्ण च्यवन ऋषि को, जैसे पुराने रथ को नये रूप से बनाकर पुनः चलने के लिये ठीक करते हैं, वैसे ही फिर युवा बनाकर चलने फिरने में समर्थ बना दिया। तुग्रपुत्र भुज्यू को तुमने जल के ऊपर वहन करके बाहर निकाला था।

तुमने पुरुमित्र राजा की शुन्ध्युव नामक कन्या को रथ पर चढ़ा ले जाकर, उसके पति विमद को समर्पित की थी। तुम दोनों वध्रिमति के युद्ध में प्रार्थना करने पर आए थे और तुमने उसकी प्रसव वेदना को दूर करके उत्तम ऐश्वर्य दिया था।

अश्विदेवों ने कलिनामक ऋषि जो अत्यन्त वृद्ध हो गये थे, उन्हें फिर यौवनयुक्त समृद्ध किया था। पत्नी विरह दुःख से पीड़ित वन्दन नामक ऋषि को कुएँ से निकाला था। लंगडी विश्पला को लोहे की जंघा देकर उसे तुरन्त चलने योग्य बना दिया था।

गुहा के बीच असुर शत्रुओं ने रेभ नामक ऋषि को मृत प्रायः कर दिया था, उस समय अभीष्ट फल प्रदान करने वाले अश्विकुमारों ने उस ऋषि को संकट से बचाया था। सात बन्धनों से बाँधे हुए अत्रि ऋषि जब जलते अग्निकुण्ड में फेंके गए थे, तब तुम्हीं ने उस अग्निकुण्ड को बुझाया था।

तुम दोनों ने पेदु नामक राजा को युद्ध में शत्रुओं को जीतने के लिए एक श्वेत वर्ण घोड़ा और निन्यानवे घोड़े दिये थे। भेदिये के मुख में गिरी वर्तिका–चटका को उसके मुँह से निकालकर उसको छुड़ाया था।

अश्विनों से प्रार्थना की है कि वे हमें मधुर वचन बोलने में प्रवृत्त करें, हमारे उत्तम कर्म सम्पन्न करो। विविध बुद्धियों का उदय करो। यशस्वी और उपभोग्य धन प्रदान करें। जैसे पेयों में सोम कल्याणकारी होता है, वैसे ही हमें धनवानों में मुख्य करो।

वेदों में यज्ञादि विविध कलापों का विशेष वर्णन मिलता है। 'निरुक्त' में 'यज्ञ' का अर्थ है – जिस कर्म में लोग यजमान से अन्नादि की याचना करते हैं, अथवा यजमान ही देवताओं से वर्षादि की प्रार्थना करता हे, उस कार्य को 'यज्ञ' कहते हैं। जिस सदनुष्ठान द्वारा इन्द्रादि देवगण प्रसन्न होकर सुवृष्टि प्रदान करते हैं, वह यज्ञ है।

प्रस्तुत सूक्तों में 'यज्ञ' के इसी भाव का वर्णन मिलता है। अश्विनी कुमारों

द्वारा वृष्टि होने का उल्लेख है। 'यज्ञ' में जो सामग्री प्रयोग की जाती है, उससे वर्षा होती है, वर्षा से उत्तम औषधियाँ और अन्न की उत्पत्ति होती है। जीव अन्न से उत्पन्न होते हैं –

हे अश्विदेव, तुमने शब्द करने वाले, अनेक गतिशील द्वार वाले मेघ को यज्ञ में हवि का दान करने वाले यजमान के लिए बरसाने के निमित्त बुलाया–

**युवं सनिभ्यः स्तनयन्तमश्विना ऽप व्रजमूर्णुथः सप्तास्यम्।**

हे अश्विदेव, जैसे व्याघ्र, हाथी और सिंह – शार्दूल की इच्छा करते हैं, वैसे हम तुम्हें रात–दिन यज्ञीय द्रव्य लेकर बुलाते हैं। हे श्रेष्ठ नायकों, तुम्हारे लिए यथा समय यजमान भक्त आहूतियाँ प्रदान करते है। तुम भी शुभ वृष्टिदायक जलों के स्वामी हो इसलिये मनुष्यों के लाभ के लिए अन्न ले आते हो।

प्रस्तुत मन्त्र से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ भी यज्ञ कार्य सम्पन्न करती थी–

**जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।**
**वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे।।**

हे अश्वि देव, जो लोग अपनी स्त्री की प्राण रक्षा के लिए रोते हैं और उन स्त्रियों को यज्ञ कार्य में नियुक्त करते हें और उनका अपनी बाँहों से प्रदीर्घ आलिङ्गन करते हैं और वे अपने पति के लिए उत्तम सन्तान उत्पन्न करती हैं।

अश्विकुमारों की चिकित्सा वैद्य के रूप में स्तुति की है, परन्तु साथ ही साथ उन्हें शुभ वृष्टिदायक जलों के स्वामी भी माना है –

**आ वामगन् त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अयंसत।**
**अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पति प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि।।**

अन्न–धन के स्वामि और जल के स्वामि तुम दोनों को शुभ–कल्याणप्रद बुद्धि प्राप्त हो, मेरे मन की अभिलाषाएँ नियमपूर्वक संयत करो। तुम मेरे रक्षक हो। हम अपने पतियों की प्रिय होकर स्वामी के गृहों को प्राप्त हों।

अनेक सूक्तों में अश्विनी कुमारों को जल का स्वामी मानकर उनसे पुत्रादि की प्राप्ति, धन और सुबुद्धि की प्रार्थना की है। घोषा कहती है कि आनन्द प्रसन्न मैं अपने पति के घर में तुम्हारी स्तुति करती हूँ कि तुम मुझे पुत्रादि सहित धन प्राप्त करो। हे जल के स्वामि, तुम मुझे पीने के लिए शुद्ध जल दो। मार्ग में स्थित वृक्ष आदि विघ्न नष्ट करो और विपरीत बुद्धि को दूर करो।

कल्याणकारी, धन–सुख–समृद्धि प्रदान करने वाले और घोषा को नीरोग बनाने वाले अश्विदेवों से उपकृत ऋषिका प्रार्थना करती है कि हे ईश्वर स्वरूप

तेजस्वी, शुभ नाम वाले, स्तुत्य मार्गों से चलने वाले अश्विद्वय! तुम जिसको रथ के अगले भाग में पत्नीसह आश्रय देते हो, उन्हें कोई भी पाप व्याप्त नहीं करता, उसी तरह दुर्गति और संसार का भय नहीं रहता।

जैसे भृगु रथ बनाते हैं, वैसे ही हमने यह रथ–स्तोत्र गुण–वर्णन पर योग्य रीति से किया है। जैसे युवा पुरुष को प्रेमपूर्वक कन्या को अलङ्कृत करके देते हैं, वैसे ही हम यह स्तुति तुम्हें निष्ठापूर्वक समर्पित करते हैं और आपसे यह कामना करते हें कि हमारे पुत्र–पौत्र सदा प्रतिष्ठित रहें –

**एतं वां स्तोमश्विनावकर्मा तक्षाम भृगवो न रथम्।**
**न्यमृक्षाम योषणां न मर्ये नित्यं न सूनुं तनय दधानाः।।**

सूक्तों में कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिससे ब्रह्मचारिणी कन्या के समस्त कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है। कुछ मन्त्रों से सूचित होता है कि आर्य लोग विवाह के समय पर वर और कन्या को विविध वस्त्राभूषणों से विभूषित करके सम्मान करते थे। लोग स्त्री की प्राण रक्षा और मर्यादा रक्षा के लिए भारी से भारी कष्ट सहन करने से भी पीछे नहीं हटते थे। समाज में उनका आदरणीय स्थान था।

अन्तिम मन्त्र है कि हे अश्विदेव, हे दर्शनीय जलों के स्वामि, तुम आज कहाँ हो? किन लोकों में तुम आमोद–प्रमोद करते हुए स्वयं को तृप्त करते हो? कौन यजमान तुम दोनों को बाँधकर रख सकता है? किस विद्वान् यजमान स्तोता के घर पर तुम गए हो? –

**क्व स्विदद्य कतमास्वश्विना विक्षु दस्रा मादयेते शुभस्पती।**
**क ईं नि येमे कतमस्य जग्मतुर्विप्रस्य वा यजमानस्य वा गृहम्।।**

## देवी सरस्वती

**'सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम् –** सम्पूर्ण जगत् की कारणभूत आद्याशक्ति परमेश्वर की अभिव्यक्ति तीन स्वरूपों में होती है – महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। इनकी मूल प्रकृति महालक्ष्मी ही है। वे ही विशुद्ध सत्त्वगुण के अंश से महासरस्वती के रूप में प्रकट होती है। पुराणों में 'सरस्वती' देवी का विस्तृत वर्णन है। वेद में देवी के रूप में स्तवन किया है। सरस्वती देवी पतितपावनी, धनदायिनी, सत्य की ओर प्रेरित करने वाली, शिक्षिका और ज्ञानदात्री मानी गयी है। सरस्वती देवी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सब प्रकार से पवित्र करने वाली है। अन्न–प्रदायिनी होने के कारण यह अन्नवाली भी है। बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले कर्मो को यह सफल करती है –

**पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः।**

**(ऋ. १–३–१०)**

सत्य कर्मो को प्रेरणा देने वाली, उत्तम बुद्धियों को बढ़ाने वाली विद्या की देवी यज्ञ को पूर्ण रूप से धारण करती है –

**चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।**

**(ऋ. १–३–११)**

ज्ञान का प्रसार करने वाली यह विद्या की देवी सरस्वती संसार रूपी महासागर का ज्ञान कराती है अर्थात् विद्या के कारण मनुष्य बुद्धि ज्ञान युक्त होता है जिससे वह सांसारिक मार्गों का ज्ञाता हो जाता है –

**महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति।**

**( ऋ.१–३–१२)**

सरस्वती का स्तन अर्थात् प्यार सुखकारक है जिससे सभी वरणीय धनों को तू पुष्ट करती है। वो रत्नों को धारण करने वाला, धनों को प्राप्त कराने वाला तथा कल्याणकारक है, वह प्यार सभी प्राप्त करें –

**यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।**
**यो रत्नधा वस्तुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः।**

**(ऋ. १–१६४–४९)**

एक मन्त्र में सरस्वती और इन्द्र दोनों को सम्बोधन करके कहा है कि

सरस्वती तथा इन्द्र दोनों मिलकर हमारी रक्षा करें। सरस्वती हमें ज्ञान से युक्त करे और इन्द्र हमें बलशाली बनाएँ और असुरों को मारें। सरस्वती के पूजक ज्ञानी राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करें और प्रजाओं को ज्ञानी बनाएँ और इन्द्र के पूजन राष्ट्र में प्रजाओं को शक्तिशाली बनाकर उन्हें समर्थ बनाएँ और राष्ट्र में शत्रुओं को मारकर राष्ट्र की रक्षा करें।

सरस्वती माता के समान है। अत: प्रस्तुत मन्त्र में कहा है कि हे अत्यन्त श्रेष्ठ माता, अत्यन्त श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कराने वाली तथा अत्यन्त तेजस्विनी माता सरस्वती हम अत्यन्त निन्दनीय है। इसलिए हमें यश से युक्त कर –

**अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।**
**अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।**

**(ऋ. २–४१–१६)**

सरस्वती माँ श्रेष्ठ निर्माता है। मनुष्य को उत्तम ज्ञान देकर श्रेष्ठ बनाती है। इसके उपासक उत्तम ज्ञान प्राप्त करते हैं और तेजस्वी होते हैं। माँ, दुष्ट मनुष्य भी सरस्वती की कृपा पाकर सज्जन और विद्वान् बन जाते हैं। अन्न व बल से युक्त तथा सत्य के मार्ग पर चलाने वाली सरस्वती देवी है। निरभिमानी व्यक्ति की उपासना से देवी प्रसन्न होती है। अतेव देवी को प्रिय लगने वाले स्तोत्रों को भगवती सरस्वती के लिए समर्पित है।

सरस्वती ने दानशील वहध्र्यश्व को धैर्यवान् दिवोदास नामक पुत्र दिया। इसने सदा कष्ट देने वाले तथा धनवान् होने पर भी कंजूसी करने वाले मनुष्य का नाश किया। भाव यह है कि यदि धन है तो उसको दानादि सत्कर्म में लगाना चाहिए।

युद्ध के आरम्भ होने पर जो सरस्वती की स्तुति करता है और तुम्हें सहायता के लिए बुलाता है, उसकी तुम रक्षा करती हो। वृत्र का नाश करने के लिए लोग जिस तरह इन्द्र को बुलाते हैं, उसी तरह शत्रुओं का नाश करने के लिए सरस्वती देवी को बुलाते हैं –

**यस्त्वा देविसरस्वत्युपब्रूते धने हिते। इन्द्रं न वृत्रतूर्ये।**

**(ऋ. ६–६१–५)**

ऋषि प्रार्थना करता है कि बलशालिनी सरस्वती देवी, युद्ध में हमारी रक्षा करें और पूषा के समान धन दें –

**त्वं देवि सरस्वत्यवा वाजेषु वाजिनि। रदा पूषेव नः सनिम्।**

**(ऋ. ६–६१–६)**

सरस्वती को वीरता से युक्त और सोने के रथ पर चढ़कर जाने वाली और शत्रुओं का संहार करने वाली बताया है। सज्जनों की स्तुति सुनकर प्रसन्न होती है–

**उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी: वष्टि सुष्टुतिम्।**

**(ऋ. ६–६१–७)**

सरस्वती पार्थिव धनों को देने वाली है और विशाल अन्तरिक्ष को अपने तेज से भरने वाली है। ऐसी देवी निन्दकों से हमारी रक्षा करे –

**आपप्रषी पार्थिवा न्युरु रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु।**

**(ऋ. ६–६१–११)**

देवेच्छु लोग सरस्वती का आवाहन करते हैं। यज्ञ के विस्तृत होने पर सरस्वती का स्मरण करते हैं। पुण्यात्मा लोग सरस्वती को बुलाते हैं। अतः सरस्वती दाता की अभिलाषा पूरी करती है –

**सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्।**
**सरस्वती या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।**

**(ऋ. १०–१८–७)**

हे सरस्वती! तुम पितरों के साथ उत्तम अन्न से तृप्त होकर प्रसन्न चित्त से एक रथ पर जाओ। इस यज्ञ में उत्तम आसन पर बैठकर आनन्द करो। हमें नीरोग करो –

**आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वाऽनमीवा इष आ धेह्यस्मे।**
**सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।**

**(ऋ. १०–१८–८)**

सरस्वती जहाँ विद्या की देवी है, वहाँ उसका नदी के रूप में वर्णन मिलता है। पुराणों के अनुसार ये मूलतः भगवान् नारायण की पत्नी है और शापवश नदी के रूप में प्रकट होकर पृथ्वी पर आयी है। (देवी भागवत)

इस सम्बन्ध में विस्तृत कथा मिलती है (जिसका पुराणों में उल्लेख किया जाएगा)। यहाँ केवल नदी रूप में सरस्वती के मन्त्रों का उल्लेख है –

**इयं शष्मेभिर्बिसखाः इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरुर्मिभिः।**
**पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः।।**

**(ऋ. ६–६१–२)**

सरस्वती नदी अपने कमल के मूल को तोड़ने वालों के समान अपनी बलवान्, वेगवान् प्रवाहों से पर्वत को ऊँचे भाग को तोड़ देती है। ऐसी इस

सरस्वती नदी की सेवा हम उत्तम भक्ति भाव से और धारणापूर्वक अपने संरक्षण के लिए करते हैं।

सरस्वती, ईश्वर की निन्दा करने वाले मनुष्यों का नाश करे तथा कपट करने वाले दुष्टों को नष्ट करे। सज्जनों को मानवों का हित करने के लिए उपजाऊ भूमि प्रदान करे। जल के प्रवाह चलाकर सभी भूमि को उपजाऊ बनाओ। सरस्वती अनेक प्रकार के अन्न देने के कारण अन्नवाली है। हमारी बुद्धियों का रक्षण करने वाली हमारी सुरक्षा करे –

**प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्र्यवतु।**

**(ऋ. ६–६१–४)**

नदी का प्रवाह अमर्याद, वेगवान्, न रुकने वाला और गर्जना करते हुए चलने वाला है –

**यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णव:। अमश्चरति रोरुवत्।**

**(ऋ. ६–६१–८)**

सरस्वती देवी हमारे सभी शत्रुओं को दूर करती है। वह हमें अन्य नदियों के पार ले जाती है। जिस प्रकार दिन में सूर्य प्रकाश फैलाता है। उसी प्रकार सरस्वती हमारा यश फैलावे।

सरस्वती हमारे लिए प्रियों में प्रिय है और उत्तम सेवा के योग्य यह सात नदियों में है। सबसे श्रेष्ठ होने के कारण सरस्वती सर्वाधिक प्रशंसनीय है –

**उत न: प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत्।**

**(ऋ. ६–६१–१०)**

सरस्वती तीन प्रदेशों में बहने वाली तथा अपने आसपास के प्रदेशों से सात धारक शक्तियों से युक्त और पाँच जाति के मानवों को बढ़ाने वाली प्रत्येक युद्ध में प्रार्थना करने योग्य है और प्रत्येक कर्म में प्रशंसनीय है।

यह सरस्वती अपने महत्त्व और प्रभाव के कारण तथा अपने तेजों से सभी नदियों में श्रेष्ठ है। अन्य नदियों के प्रवाहों से इस नदी का प्रवाह वेगवान है। रथ के समान जो प्रशस्त है, जो व्यापक प्रभु ने निर्माण की है वह ज्ञानयुक्त सरस्वती प्रशंसा के लिए योग्य है –

**प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा।**
**रथ इव बृहती विभ्वने कृतोपस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती।**

**(ऋ. ६–६१–१३)**

प्रस्तुत मन्त्र में सरस्वती नदी के रूप में तथा विद्या की अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्तवन किया है।

सरस्वती देवी से प्रार्थना की है कि तू वह हमें अभीष्ट धन के पास ले चल अर्थात् जिस तरह के धन की हमें आवश्यकता है, वह हमें दे। अपने जलप्रवाह से हमें कष्ट न पहुँचाओ। हमें अपने पास से दूर न कर। हमारी सेवा और मित्रता स्वीकार कर। तुम्हें छोड़कर दूसरे खेतों में हमें जाना न पड़े, ऐसा कर–

**सरस्वत्यभि नो नेषि वस्यो माप स्फरीः पयसा मा न आ धक्।**
**जुषस्व नः सख्या वेश्या च मा त्वम् क्षेत्राण्यरणानि गन्म।**

**(ऋ. ६–६१–१४)**

सरस्वती नदी का प्रवाह अखण्ड है। वह लोहे और पत्थरों से बने हुए दुर्ग के समान अपने पास रहने वालों की रक्षा करती है। जिस तरह कोई सारथी मार्ग के पत्थरों और गड्डों को दूर करके सरल मार्ग से रथ को ले जाता है, उसी तरह यह सरस्वती नदी अपने प्रवाह के वेग से मार्ग को काटती हुई बीच के विघ्नों को दूर करती हुई जाती है। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि वह विघ्नों को दूर करके आगे बढ़ता जाए।

नदियों में शुद्ध सरस्वती नदी पर्वतों से लेकर समुद्र में मिलती है। इस प्रकार सरस्वती नदी को जाती हुई देखकर ऐसा लगता है मानों कोई चेतनावान् प्राणी हो। पृथ्वी से उत्पन्न होने वाली सभी धान्यरूपी धन को यह प्रदान करती है और नहुष के लिए दूध और घी देती रही।

सरस्वती नदी के तीर पर उपासना करने वाले मनुष्य घुटने टेककर नमन करते हुए स्तुति करते हैं। सरस्वती नदी उत्तम भाग्य देने वाली है। योग्य धन धान्य होने से परस्पर प्रेम भाव से रहने वालों के लिए, मित्रभाव से रहने वालों के लिए उच्चतर अवस्था देने वाली यह नदी है –

**उत स्या नः सरस्वती जुषाणोप श्रवत् सुभना यज्ञे अस्मिन्।**
**मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्यः।।**

**(ऋ. ७–९५–४)**

हे सरस्वती देवी, हम तेरी सेवा करके तुझसे अधिक धन प्राप्त करें। हमारे स्तोत्र का श्रवण कर। हम अपने आपको तुम्हारे अत्यन्त प्रिय सुख में धारण करते हैं। पक्षी जिस तरह वृक्ष के आश्रय से रहते हैं, उसी तरह हम तुम्हारे आश्रय से रहे। नदी की यदि सेवा की जाएगी और उसकी अच्छी तरह रक्षा की जाए तो

उसके जल का अधिक लाभ उठाया जा सकेगा।

सरस्वती नदी उत्तम भाग्यशाली है क्योंकि वसिष्ठ ऋषि आदि प्राचीन ऋषि, मुनि, ज्ञानीजन नदी के किनारे यज्ञ की रचना करते थे। उन यज्ञों से पवित्र हुए जल वाली वह नदी यज्ञ करने वाले ऋषियों को प्रचुर धन–धान्य से समृद्ध करती थी। ऋषि प्रार्थना करता है कि शुभ्रवर्ण वाली देवी, स्तोता के हित करने के लिए बढ़ो तथा कल्याण के साधनों से हमारी रक्षा करो।

**अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः।**
**वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।**
**(ऋ ७–९५–६)**

सरस्वती नदी का महत्त्व द्युलोक और भूलोक तक है। अतः नदियों में श्रेष्ठनदी सरस्वती देवी का उत्तम वचनों के स्तोत्रों से स्तवन करना चाहिए।

शुभ्रवर्ण वाली सरस्वती देवी की महिमा से दोनों प्रकार के दिव्य और पार्थिव अन्न को नागरिक लोग प्राप्त करते हैं। सोमरस दिव्य अन्न है और चावल पार्थिव अन्न है। ये दोनों ही अन्न सरस्वती नदी पर होते हैं और यज्ञ करने वालों को प्राप्त होते हैं। सरस्वती नदी सब लोगों का संरक्षण करने वाली है। मरुतों के साथ मित्रता करने वाली वह नदी यज्ञ करने वाले धनिकों को धन देती है।

कल्याण करने वाली, सरस्वती नदी निःसन्देह सबका कल्याण करती है। सरस्वती नदी भी है और विद्या भी। अतः नदी के रूप में अन्न देने वाली और विद्या के रूप में प्रज्ञा, चेतनता देती है। इस तरह दोनों रूपों में मानव का कल्याण करती है। सीधा उन्नति का मार्ग बताती है। जमदग्नि ऋषि के द्वारा प्रशंसित होने के समान वसिष्ठ के योग्य स्तुति से प्रशंसित हो –

**भद्रमिद् भद्रा कृणवत् सरस्वत्यकवारी चेतति वाजिनीवती।**
**गृणाना जमदग्निवत् स्तुवाना च वसिष्ठवत्।**
**(ऋ ७–९६–३)**

इस तरह सरस्वती देवी अपने दोनों रूपों (नदी और विद्या) में जगत् का कल्याण करती है। बुद्धि, ज्ञान और विद्या रूप से सारा जगत् इनकी कृपा का अनुभव करता है। ये मूलतः भगवान् नारायण की पत्नी है तथा अंशतः नदी और ब्राह्मी रूप में रहती है। सरस्वती देवी के कृपा से हम अपने उत्कृष्ट ज्ञान से श्रेष्ठ बनें। मनुष्य के जीवन में ज्ञान का ही महत्त्व है। ज्ञान से उच्चता प्राप्त करना दैवी

सम्पत्ति है और दैवी सम्पत्ति ही शाश्वत उन्नति का कारण है। इसलिए वेद हमें ज्ञान या दैव सम्पत्ति के द्वारा उन्नति करने का उपदेश देता है।

सरस्वती जो पहले एक नदी थी, शनैः शनैः विद्या की देवी बन गयी। नदी निरन्तर प्रवाहमान रहती है। सरस्वती वह है जो किसी जाति के पास सहस्रों वर्षों से ज्ञान परम्परा द्वारा प्रवाहरूप से चलती रहती है। विद्या केवल ज्ञान रूप है, परन्तु सरस्वती जीवित प्रवाह रूप में युगों—युगों तक अपनी अजस्र धारा से कभी सूखती नहीं अपितु बहती रहती है। सत्कर्म करने की प्रेरणा देती है।

मनुष्य को ईश्वर ने वाणी दी है, यह उसकी विशेषता है। सरस्वती वाग्देवी है। अतः सरस्वती की कृपा होना अत्यन्त आवश्यक है जिससे मानव वाणी पर संयम रख सके, सुसंस्कृत भाषा बोले और अपनी वाणी का उपयोग उत्तम कर्मों में ही करे।

वेदों में 'यज्ञ' का महत्त्व अधिकांश सूक्तों और मन्त्रों में वर्णित है। 'यज्ञ' का अर्थ देवपूजा, संगतिकरण, दान और त्याग से है। देवपूजा से ज्ञान बढ़ता है और उस ज्ञान से मनुष्य उत्तम होता है। देवपूजा, संगतिकरण और दानात्मक यज्ञ जो करता है, वह सदा उन्नत होता रहता है। यज्ञानुष्ठानों से मनुष्य की बुद्धि बढ़ती है और वे बुद्धिमान होते हैं। जब मनुष्य बुद्धि को प्राप्त कर लेता है, तब वह इस महान् यज्ञ के कारण कल्याणकारी बल भी प्राप्त करता है। यज्ञ से अन्नादि की वृद्धि होती है। प्रस्तुत मन्त्रों में उल्लेख है कि ऋषि—मुनि सरस्वती नदी के तट पर यज्ञादि करते थे। इस प्रकार यज्ञ, सरस्वती नदी और सरस्वती देवी सभी मनुष्य की आयु बढ़ाने वाले, विद्या, बुद्धि, धन—धान्यादि प्रदान करने वाले हैं।

सरस्वती देवी सम्पूर्ण संशयों का उच्छेद करने वाली तथा बोधस्वरूपिणी है। इनकी उपासना से सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये संगीत—शास्त्र की अधिष्ठात्री देवी है। ताल, स्वर, लय, राग—रागिनी आदि का प्रादुर्भाव भी इन्हीं से हुआ है। सात—स्वरों द्वारा इनका स्मरण किया जाता है, अतेव ये स्वरात्मिका कहलाती है। सप्तविधस्वरों का ज्ञान प्रदान करने के कारण इनका नाम सरस्वती है।

# सरस्वती, इळा, भारती

ऋग्वेद में सरस्वती का पृथक् रूप में वर्णन है, परन्तु कुछ मन्त्रों में इळा और भारती के साथ सरस्वती के मन्त्र हैं। वेद में वाग्देवी का नाम सरस्वती बताया गया है। इसके तीन स्थान हैं – स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष। स्वर्ग की वाग्देवी का नाम भारती, पृथ्वी की वाग्देवी इळा और अन्तरिक्षवासिनी वाग्देवी सरस्वती है। ऋग्वेद में प्रथम बार प्रथम मण्डल के सूक्त १३ में मन्त्र है –

**इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।**

भूमि, सरस्वती और वाणी ये तीन देवियाँ सुख देने वाली हैं, वे क्षीण न होती हुई आसन पर बैठें।

भाष्यकार ने भाव लिया है कि (इळा) मातृभूमि, (सरस्वती) मातृसंस्कृति, (महीभारती) मातृभाषा, ये तीनों देवियाँ उपासना के योग्य हैं। भूमि, सभ्यता और वाणी इनमें मानव की मानवता रहती है।

पवित्र देवों में और मरुतों में पूज्य होता (भारती) तथा महान् और पूज्य सरस्वती और इळा यज्ञ में विराजें। देवों और मर्त्यों में इनके प्रति अभिमान रहा–

**शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।**
**इळा सरस्वती मही बर्हिः सौदन्तु यज्ञियाः।**

**(ऋ. १–१४२–९)**

तीनों देवियों का सम्मान करना चाहिए। क्योंकि ये सदैव ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। अतः मन्त्र में तीनों देवियों का ऋषि आवाहन करता है –

**भारतीळे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे। ता नश्चोदयत श्रिये।**

**(ऋ. १–१८८–८)**

सरस्वती बुद्धि की देवी होने से सबकी बुद्धियों को उत्तम पवित्र करते हुए उत्तम मार्ग की ओर प्रेरित करती है। इळा दिव्य गुणों से युक्त है तथा भारती उत्तम वाणी से सबको तृप्त करने वाली है। इस प्रकार ये तीनों देवियाँ यज्ञगृह रूपी शरीर में बैठकर इस मानव जीवन रूपी यज्ञ की हर प्रकार से रक्षा करें –

**सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः।**
**तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरदेमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य।**

**(ऋ. २–३–८)**

हमारी वाणी दूसरे लोगों की वाणी के साथ मिल जाए अर्थात् एक की वाणी अन्यों की वाणी के साथ मिल जाए। मनुष्यों की ओर देवों की बुद्धि एक हो अर्थात् साधारण मनुष्यों की बुद्धि विद्वानों की बुद्धि का अनुसरण करे। हमारा ज्ञान अन्य लोगों के ज्ञान के साथ मिले अर्थात् एक का ज्ञान अन्यों के ज्ञान के अनुकूल हो। इस प्रकार वाणी, बुद्धि और ज्ञानरूपी तीनों देवियाँ हमारे पास आकर इस आसन पर बैठें। वाणी भारती का प्रतीक, बुद्धि इळा की प्रतीक और ज्ञान सरस्वती का प्रतीक है –

**आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः।**
**सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं सदन्तु।**
**(ऋ.३–४–८)**

इळा, सरस्वती और भारती ये तीनों देवियाँ सुखकारक हैं। ये किसी की हिंसा नहीं करती। अतः ये अहिंसक होकर यज्ञ में बैठें –

**इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।**
**(ऋ. ५–५–८)**

(भारती) भारत की राष्ट्रभाषा, (सरस्वती) विद्या और (मही इळा) बड़ी वाणी, ये सुन्दर रूप वाली तीन देवियाँ हैं। अन्तिम मन्त्र में ऋषि प्रार्थना करता है कि इळा, सरस्वती और भारती, ये तीन देवियाँ उत्तम आसन पर बैठें क्योंकि तुम्हारे लिए ये सुखकारी आसन हैं। बुद्धिमती इळा, तेजस्विनी सरस्वती और दीप्तिमती भारती, जैसे मनु ने यज्ञ में हवि का सेवन किया था, वैसे ही हमारे इस यज्ञ में उत्कृष्ट रीति से आदरपूर्वक हवियों का सेवन करें –

**तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं वरीय आ सीदत चकृमा वा स्योनम्।**
**मनुष्वद्यज्ञं सुधिता हवींषाळा देवी घृतपदी जुषन्त।**
**(ऋ. १०–७०–८)**

इस प्रकार **भारतीभिः भारती** – उपभाषाओं के साथ भारती यह राष्ट्रभाषा है। **देवीभिः मनुष्यैः इळा** – दिव्य मनुष्य के साथ मातृभूमि पूज्य है। **सास्वतोभिः सरस्वती** – सरस्वती देवी के उपासकों के साथ विद्या देवी मनुष्यों की आदरणीय है।

ये तीनों देवियाँ मनुष्य के लिए समादरणीय है। मातृभूमि मानव के रहने के लिए आधार है। मातृभाषा ज्ञान प्राप्ति का साधन है और मातृसभ्यता मनुष्य को समाज में उसकी पहचान बनाती है, सभ्य संस्कार सम्पन्न बनाती है।

अतः स्पष्ट है कि मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि मनुष्य में सदा जागृत रहें। यही आध्यात्मिक, साँस्कृतिक और प्राकृतिक पर्यावरण है, जिसके संरक्षण के लिए मानव को सदा सचेत रहना चाहिए। इतना ही नहीं यदि हम इनकी उपासना करेंगें तो यह ऐश्वर्य, सुखादि भी प्रदान करती हैं। सरस्वती, इळा और भारती की स्तुति करने से बुद्धि सत्कर्मों की ओर प्रेरित करती है, अच्छे गुण आते हैं और वाणी का संयम आदि गुण सभी को आह्लादित करते हैं।

# सवितृ/सावित्री

**गणेशजननी दुर्गा राधा लक्ष्मीः सरस्वती।**
**सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता।।**
**(देवीभागवत)**

ये आद्यशक्ति परा प्रकृति के पाँच स्वरूपों में से एक मानी गयी है। वेदों में अधिकांश सूक्तों में विख्यात 'सवितृ' भी एक सूर्यदेवता है। उसे कभी–कभी तो सूर्य से भिन्न बतलाया गया है, तो दूसरी ओर कहीं कहीं सूर्य के साथ उसका तादात्म्य बतलाया गया है। ऋग्वेद में लगभग ७६ मन्त्र 'सविता' देवता से सम्बन्धित हैं।

किसी समय ये सविता सूर्य की पुत्री के रूप में अवतीर्ण हुई थी, इसीलिए इनका नाम 'सावित्री' पड़ गया। कहते हैं सविता के मुख से इनका प्रादुर्भाव हुआ था। सावित्री ब्रह्मा जी की पत्नी है। भगवान् सूर्य ने इनका विवाह ब्रह्मा जी के साथ कर दिया, तभी से इनकी ब्रह्माणी संज्ञा हुई। इनका विग्रह तपाये हुए स्वर्ण के समान है। ये मध्याह्न काल के सहस्रों सूर्यों के समान तेजस्विनी मानी गयी है। ये सुखदायिनी और मोक्षदायिनी भी है। कहीं–कहीं सावित्री और गायत्री के पृथक्–पृथक् स्वरूपों का वर्णन मिलता है। उपनिषदों में इनकी अभिन्नता का स्पष्ट रूप से वर्णन है – **'गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात्'**।

पुराणों में कथा है कि ब्रह्मा जी के विख्यात तीर्थ पुष्कर में जब ब्रह्मा जी के साथ यज्ञ में बैठने के लिए उनकी ज्येष्ठ पत्नी सावित्री को बुलाया गया। सावित्री के आने में कुछ विलम्ब हुआ। अतएव उनकी छोटी पत्नी गायत्री को ही ब्रह्मा जी के साथ बिठाकर ठीक समय पर यज्ञ आरम्भ कर दिया। सावित्री ने इसे अपने अधिकार का अपहरण समझा और वे रूठकर एक पर्वत शिखर पर जा बैठीं, फिर सब देवताओं ने उन्हें स्तुति के द्वारा प्रसन्न किया। आज भी पुष्कर में गायत्री और सावित्री के पृथक् स्वरूपों की झाँकी होती है। दो रूपों में भी होने पर भी वे एक ही ब्रह्मा जी की शक्ति है। अतः उन्हें वास्तव में अभिन्न ही मानना चाहिए।

सावित्री ज्ञान–विज्ञान की मूर्ति है। कहीं–कहीं व्याहृतियों को इनकी

कन्या और सनकादि को इनका पुत्र बतलाया गया है। वेदों, उपनिषदों और पुराणादि ग्रन्थों में इनकी महिमा का विस्तृत वर्णन मिलता है। सावित्री पहले गोलोक–धाम में श्रीराधिका जी के साथ रहा करती थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें ब्रह्मा जी के हाथ में सौंपा। उस समय वे गोलोक धाम छोड़कर ब्रह्मलोक जाने को तैयार न हुई। तब श्रीकृष्ण की आज्ञा से ब्रह्माजी ने वेदमाता सावित्री का भक्तिपूर्वक स्तवन किया। इससे सन्तुष्ट होकर सावित्री ने ब्रह्माजी को अपना प्रेम समर्पित किया और उनके साथ जाकर ब्रह्मलोक में रहने लगी। वहाँ इन्होंने मन, वाणी तथा शरीर से ब्रह्मा जी की सेवा की। अपने अविचल सतीत्व के प्रभाव से ही वे तीनों लोकों में वन्दनीया हुई। भद्रदेश के राजा अश्वपति ने कठोर तपस्या द्वारा इन्हीं को सन्तुष्ट किया था। सावित्री की ही कृपा से उन्हें सावित्री जैसी पुत्री हुई, जो अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से तीनों लोकों में विख्यात है।

सावित्री की उपासना प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों कालों में की जाती है। तीनों कालों के लिए उनका पृथक्–पृथक् ध्यान है। ऋग्वेद में इसका वर्णन इस प्रकार है – प्रातःकाल ये सूर्यमण्डल के मध्य विराजमान होती है। उस समय इनके शरीर का रंग लाल होता है। इनकी सवारी में हंस मौजूद रहता है। इनकी अवस्था कुमारी होती है। इनका यही स्वरूप ब्रह्मशक्ति गायत्री नाम से प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद में 'सविता' के लिए स्वर्णाक्षि, स्वर्णहस्त और स्वर्णजिह्वा वाले के रूप में वर्णन किया गया है। अमर्त्य और मर्त्य दो पदार्थ इस विश्व में हैं, इन दोनों का निवास सूर्यदेव की किरणों पर है। स्वर्ण के समान अपनी सुनहरी किरणों से सूर्य सब रोगों को दूर करके आरोग्य प्रदान करता है और दीर्घायु बनाता है। सूर्य जब इच्छा करता है तब पानी बरसता है। यह अपनी कृपा उन्हीं लोगों पर करता है, जो इसके व्रतों का पालन करता है –

**हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये। स चेत्ता देवता पदम्।**
**अपां नपातमवसे सवितारमुपं स्तुहि। तस्य व्रतान्युश्मसि।।**
**(ऋ. १–२२–५–६)**

सूर्य इस शरीर में नेत्र है। सूर्य के प्रकाश में मनुष्य अच्छी तरह से देख सकता है। सूर्य में समता का भाव है, इस कारण सूर्य अपनी प्रकाश–रश्मियाँ वनस्पति एवं प्राणीमात्र में समान रूप विकीर्ण करता है। नाना प्रकार के धनों को देने के कारण सूर्य की स्तुति करनी चाहिए। सविता देव धनों के स्वामी हैं। सबकी सुरक्षा करते हैं। प्रशंसनीय, निन्दा के अयोग्य और शत्रुओं से रहित भाग्य को वह धारण

करता है। अतः सूर्य की उपासना करने वाले भी इस प्रकार भाग्यशाली बनते हैं। सविता देव सबको अपने कर्मों के अनुसार भाग्य देने वाला है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह उन्नति के शिखर पर चढ़कर उत्तम कर्म करे, अपने कर्त्तव्य का पालन करे, अहंकारी न बने –

**अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम्। सदावन् भागमीमहे।**
**यश्चिद्धि त इत्था भगः शशमानः पुरा निदः। अद्वेषो हस्तयोर्दधे।।**
**भगभक्तस्य ते वयमुदशेम तवावसा। मूर्धानं राय आरभे।।**
**(ऋ. १–२४–३, ४, ५)**

अन्धकार से युक्त अन्तरिक्ष लोक में से परिभ्रमण करने वाले अमर्त्य और मर्त्य का निवेश करने वाले सविता देव सब भुवनों को देखते हुए सुवर्ण के रथ से आते हैं। सूर्यदेव प्रथम ऊपर आकाश में चढ़ता है और फिर उतरता है। इस प्रकार यह परिभ्रमण करता है। सविता देव तेजस्वी घोड़ों से गमन करते हैं और सब पापों को रोकते हैं। सविता देव का रथ हमेशा गतिशील और सोने के समान तेजस्वी है। यह अनेक किरणों से चमकता रहता है। उस रथ पर सवार होकर यह सविता देव अन्धकार का नाश करके सबके अन्दर बल स्थापित करता है।

**अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।**
**आस्थाद् रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः।।**
**(ऋ. १–३५–४)**

अर्थात् सभी प्रकार बल सूर्य से प्राप्त होते हैं। सूर्य के घोड़े सफेद पैरों वाले हैं अर्थात् सूर्य की किरणों तेजस्वी होने के कारण सफेद दीखती हैं। वे ही किरणें सूर्य को प्रकाशित करती हैं और सब प्रजाजन दिव्य सविता के समीप उपस्थित होते हैं।

तीन दिव्य लोक हैं, उनमें से दो लोक सविता देव के पास हैं और तीसरा लोक यम के भुवन में वीरों के लिए रहने का स्थान है। रथ के अक्ष में रहने वाली कील के समान सब अमर देव सूर्य पर अधिष्ठित हैं –

**तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्।**
**आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्।।**
**(ऋ. १–३५–६)**

सूर्य देवता की विशेषताओं का वर्णन है कि वह गम्भीर गति से युक्त, प्राणशक्ति का दाता, उत्तम मार्गदर्शक, उत्तम प्रकाश देने वाला अन्तरिक्षादि तीनों

लोकों को प्रकाशित करता है, पर यह सूर्य क्या है, किसका बना हुआ है और अपनी रश्मियाँ कब तक फैलाता है, यह कोई जानता नहीं। मात्र इतना ही जानते हैं कि वह जगत् को प्रकाशित अवश्य करता है –

**वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः।**
**क्वे ३दानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान।।**
**(ऋ. १–३५–७)**

पृथ्वी की आठों दिशाएँ, परस्पर संयुक्त हुए तीनों लोक और सात सिन्धु नदियों सूर्यदेव से प्रकाशित हैं। सुवर्ण के समान तेजस्वी किरणवाला यह सूर्यदेव ग्रहण करने योग्य धनों को धारण करता हुआ उदय होता है। स्वर्णमयी किरणों से युक्त संचार करने वाला सविता देव दोनों द्यावा और पृथ्वी के बीच में चलता है –

**हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।**
**अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति।।**
**(ऋ. १–३५–९)**

सूर्य प्राणदायक, उत्तम मार्ग पर ले जाना वाला और सुखदायक है। सूर्य की किरणों में प्राणशक्ति रहती है। उससे मनुष्य स्वास्थ्य प्राप्त करता है। सूर्य का रथ अन्तरिक्ष में चलने के कारण धूलि नहीं उड़ाता। उसके रथ के मार्ग बहुत उत्तम है। इसी प्रकार सबके रथ उत्तम हों, उन पर सोने का काम हों, उत्तम घोड़े हों और यह रथ धूलि रहित मार्ग पर चलें। ऐसे रथों पर बैठकर वीर राक्षसों का नाश करें।

**'स्यः देवः सविता सवाय शश्वत्तमं अस्थात्',** वह तेजस्वी सविता सूर्यदेव स्वयं कर्म करने वाला, सब जगत् को धारण करने वाला, सबको कर्म की तरफ प्रेरित करने के लिए प्रतिदिन उदय होता है। सूर्य जब उदय होता है, उसके उदय होते हुए सभी प्राणी जागकर अपने–अपने कामों में लग जाते हैं। वह सविता देव विद्वानों के लिए रत्नों अर्थात् धनों को धारण करता है। सूर्य के उदय होते ही यज्ञ शुरु हो जाते हैं और उस यज्ञ से प्राणियों का कल्याण होता है। लम्बी–लम्बी किरणों रूपी हाथों वाला तेजस्वी देव उदय होते ही समस्त संसार के सुख के लिए अपनी किरणों को फैलाता है। जल और वायु भी सूर्य के निकलने से पवित्र हो जाते हैं।

सूर्यदेव के उदय और अस्त, पुनः उदय होने के चक्र का वर्णन किया है–

**आशुभिश्चिद्यान् वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः।**
**अह्यर्षूणां चिन्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात्।।**

**(ऋ. २–३८–३)**

अस्त होता हुआ सूर्य अपनी शीघ्रगामी किरणें को समेट लेता है, उससे अन्धेरा होने लगता है। अन्धेरा हो जाने पर जो यात्री दिन भर चलते हैं, वे भी चलना बन्द कर देते हैं, तथा जो वीर शत्रुओं को नष्ट करने के लिए उन पर आक्रमण करना चाहते हैं, वे भी अन्धेरे को देखकर आक्रमण नहीं करते। सविता देव के कर्म समाप्त होने पर रात्रि का आगमन हेता है।

उदय होता हुआ सूर्य ऋतुओं का निर्माण करता है। अग्नि के तेज का हर घरों और मनुष्यों पर अधिकार रहता है। जिस मनुष्य के शरीर में अग्नि स्वस्थ होगी, वह मनुष्य भी स्वस्थ होगा। यह अग्नि सूर्य का एक भाग है और सूर्य अग्नि का चिह्न है। माता सविता देव के द्वारा दिए गए इस अग्नि के प्रज्ञापक चिह्न श्रेष्ठ भाग को अपने पुत्र के लिए धारण करती है। जैसा कि मन्त्र में बताया है कि सूर्य के उदय होते ही सभी प्राणी अपने दैनिक कर्म करने लगते हैं। उसी प्रकार सूर्य के अस्त होते ही शत्रुओं को जीतने वाले की इच्छा रखने वाले वीर अपने आक्रमण को रोक देता है, रात्रि के समंय वह शत्रुओं पर आक्रमण नहीं करते, यह युद्ध का एक सिद्धान्त है। सभी चलने वाले और उड़ने वाले प्राणी भी अपने घरों की ओर लौट आते हैं। दिन भर काम करने वाला मनुष्य अपने काम को अधूरा छोड़कर घर चला आता है –

**समाववर्ति विष्ठितो जिगीषुर्विश्वेषां कामश्चरताममाभूत्।**
**शश्वाँ अपो विकृतं हित्व्यागादनु व्रतं सवितुर्दैव्यस्य।।**

**(ऋ. २–३८–६)**

सूर्य अपनी किरणों के द्वारा मेघों में पानी स्थापित करता है और वे जलवृष्टि के रूप में रेगिस्तानों में बरसते हैं, जहाँ इस जल को जन्तु पीते हैं। इसी प्रकार जंगलों में उत्पन्न होने वाले वृक्षों और फलों में यह सूर्य रस स्थापित करता है और उन रसों से भरे फलों को पक्षी खाते हैं और वृक्षों पर रहते हैं। ये सविता देव के उन कर्मों को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। सविता देव के नियम को इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा और रुद्र आदि तोड़ नहीं सकते, पर न ही शत्रु तोड़ सकते हैं। नियमानुसार चलने वालों का देव कल्याण करता है।

सविता देव उत्तम बुद्धिमान् मनुष्यों से प्रशंसनीय और छन्दों का स्वामी है।

छन्दों में गायत्री बहुत श्रेष्ठ माना जाता है। गायत्री मन्त्र का देवता यह सविता ही है, इसी कारण सविता को छन्दों का स्वामी कहा है। वह सविता हम स्तुति करने वालों की रक्षा करे और हम भी धनों के प्राप्त होने पर भी इस देव के प्रिय बने रहें –

**भगं धियं वाजयन्तः पुरंधिं नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः।**
**आये वामस्य संगथे रयीणां प्रिया देवस्य सवितः स्याम॥**

**(ऋ. २–३८–१०)**

सविता देव का धन स्तुति करने वालों का कल्याण करता है। अतः प्रार्थना की जाती है कि वह धन द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवी लोक से प्राप्त हो।

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में 'सविता' देव के लिए जो मन्त्र है, वह 'गायत्री' मन्त्र से जाना जाता है। इसमें गायत्री छन्द है –

**तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।**

**(ऋ.३–६२–१०)**

हम सविता देव के उस श्रेष्ठ, वरण करने योग्य तेज का ध्यान करते हैं जो सविता हमारी बुद्धियों को उत्तम मार्ग में प्रेरित करे। वह तेजस्वी परमात्मा सबका उत्पादक है और सबको उत्तम प्रेरणा देने वाला है। वह बड़ा तेजस्वी है। अतः जो मनुष्य उसके उस तेज का सतत ध्यान करके उसे धारण करता है, उसकी बुद्धि सदा उत्तम मार्ग में ही प्रेरित होती है।

सविता देव ज्ञानियों की बुद्धि उत्तम बनाकर उन्हें सदा सन्मार्ग में ही प्रेरित करता है। जब ज्ञान जन अपनी मेधा से उत्तम रीति से किए गए स्तोत्रों से तेजस्वी सविता देव की अर्चना करते हैं। तब सविता देव उन्हें धनैश्वर्य प्रदान करके सम्पन्न बनाता है –

**देवस्य सवितुर्वयं वाजयन्तः पुरंध्या। भगस्य रातिमीमहे।**
**देवं नरः सवितारं विप्रा यज्ञैः सुवृक्तिभिः। नमस्यन्ति धियोषिताः॥**

**(ऋ. ३–६२–११–१२)**

किसी से न दबने वाला यह सविता देव सभी लोकों को प्रकाशित करता है। सभी व्रतों की रक्षा करता है। सभी प्राणियों के हित के लिए अपनी भुजाओं को फैलाता है, अतः यह देव महान् जगत् का राजा है। सविता देव सुखों का दाता है। जंगम और स्थावर जगत् का ईश्वर होने से वह इन दोनों जगतों को उत्पन्न करने वाला तथा स्थिर करने वाला है। सब पापों को नष्ट करके तीनों लोकों को सुख प्रदान करता है।

सूर्योदय के समय जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ का अमृतत्व और उत्तम भाग सूर्यदेव को प्रदान किया जाता है। इसके बाद फलस्वरूप उस यज्ञ करने वाले को उत्तम धन तथा पुत्र—पौत्रादि प्रदान करता है —

**देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्।**
**आदिद् दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः।।**

(ऋ. ४—५४—२)

तीन दिव्य लोकों में से दो लोक सविता देव के पास हैं। गम्भीर गति से युक्त, प्राणशक्ति का दाता, उत्तम मार्ग देने वाला सूर्य देव तीनों लोकों को प्रकाशित करता हैं परन्तु रात्रि के समय कहाँ जाता है, अपनी रश्मियाँ कब फैलाता है? यह कोई नहीं जानता। सविता देव केवल देदीप्यमान दिन के उज्ज्वल सूर्य को ही नहीं, अपितु रात्रि के अदृश्य सूर्य को भी दर्शाता है। उसका एक उच्च सदाचारी पक्ष है, जिसकी प्रार्थना पश्चाताप करने वाले पापी लोग अपने पाप के मार्जन के लिए करते हैं — 'जो भी अपराध हमने स्वर्ग के देवताओं के प्रति किया है, विचार की दुर्बलता के कारण अथवा शारीरिक दुर्बलता के कारण अथवा गर्व के कारण, अथवा मनुष्य स्वभाव के कारण, हे सविता हमसे उस पाप को दूर करो।'

**अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुषत्वता।**
**देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः।।**

(ऋ. ४.५४.३)

सूर्यदेव जिस अपनी शक्ति से भुवनों को धारण करते हैं, उस शक्ति का नाश कभी नहीं होता। कुशल हाथों वाले इस सूर्य ने पृथ्वी और द्युलोक विस्तृत बनाया, वह उसका कर्म कभी नष्ट नहीं होता।

सविता देव से वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि हमने अज्ञानतावश, दुर्बलता, अभिमान, ऐश्वर्य, मद और मनुष्य होने के कारण तेरे विषय में कोई अपराध किया हो, उन उपराधों से मुक्त करें।

सविता देव ने इन्द्र को पूज्य मानकर उपासना करने वाले को बड़े—बड़े पर्वतों से भी बड़ा बनाया। मनुष्यों को घर से युक्त स्थान प्रदान करता है। सूर्य की किरणें जैसे—जैसे मध्याकाश की ओर बढ़तीं हैं, वैसे—वैसे जगत् के सभी प्राणी अपने—अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। इस प्रकार सूर्य की किरणें सब जगत् को वश में रखती हैं, परन्तु ये किरणें सविता की आज्ञा में चलती हैं —

**इन्द्रज्येष्ठान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।**
**यथायथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते।**
**(ऋ. ४.५४.५)**

हे सविता देव, जो मनुष्य प्रतिदिन तीन सवनों में तीन बार उत्तम भाग्य देने वाले सोम को निचोड़ते हैं। उन हमारे लिए इन्द्र, द्यु, पृथिवी, जलपूर्ण नदियाँ, आदित्यों के साथ अदिति सुख प्रदान करें –

**ये ते त्रिरहन् त्सवितः सवासो दिवेदिवे सौभगमासुवन्ति।**
**इन्द्रो द्यावापृथिवी सिन्धुरद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत्।।**
**(ऋ. ४.५४.६)**

सविता देव सभी कर्मों को पूरा ज़ानने वाला और अकेला ही सब यज्ञों को पूरा करता है। अतेव महान् बुद्धिमान् और ज्ञानी सविता देव की स्तुति करने में अपना मन और बुद्धि लगाते हैं, उसमें अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। अपने उत्तम गुणों के कारण सविता देव सबका मित्र है। सविता देव अपने विविध रूपों को प्रकट करता है। जब उषा आकर चली जाती है, तब सविता देव प्रकट होता है।

सविता देव की महिमा अत्यन्त प्रशंसनीय है। अतेव अन्य देव भी इसकी महिमा का अनुसरण करते हैं और तेजस्वी होते हैं। इस प्रकार तेजस्वी सविता देव अपनी महिमा से पृथ्वी के लोकों को नापता है –

**यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।**
**यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना।।**
**(ऋ. ५.८१.३)**

अपने उत्तम गुणों के कारण सविता देव सबका मित्र है। सविता देव, अकेला ही सभी उत्पन्न हुए जगत् का शासक है, अपने प्रयत्नों से ही इस जगत् का पोषण करता है। वह समस्त संसार का राजा है। तेजस्वी घोड़ों वाला वीर सविता देव की स्तुति करते हैं –

**उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेव इदुत पूषा भवसि देव यामभिः।**
**उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे।।**
**(ऋ.५.८१.५)**

वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि हम सविता देव से उस धन की इच्छा रखते हैं जो शत्रुओं का विनाशक, सबको धारण करने वाला और श्रेष्ठ है। सविता

का स्वराज्य यश को बढ़ाने वाला तथा प्रिय है। इसके स्वराज्य को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। राज्य का प्रबन्ध ऐसा हो कि कोई भी शत्रु इसकी स्वतन्त्रता पर आक्रमण न कर सके –

**अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम्।**

**(ऋ. ५.८२.२)**

हे सविता देव तू हमसे सभी दुर्गुणों को दूर कर, जो कल्याणकारी हों, उसे हमें प्रदान कर। सविता देव की आज्ञा में रहकर हम अखण्ड भूमि के लिए निरपराध हों तथा सम्पूर्ण धनों को धारण करें। सबके लिए देववत् पूज्य, सज्जनों के पालक, सत्य प्रतिज्ञा करने वाले सविता का आवाह्न करते हैं –

**आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे। सत्यसवं सवितारम्।**

**(ऋ. ५.८२.७)**

सविता देव उत्तम कर्म करने वाला है। अपनी सुवर्ण के समान बाहू दान के लिए ऊपर उठता है। उत्तम दक्ष, तरुण और यज्ञरूप यह देव रजोलोक के विविध रूपों में जल से युक्त अपने दोनों हाथ ऊपर उठाता है। सब द्विपाद और चतुष्पाद के विश्व के विश्राम और व्यवसाय में कारण सविता देव ही है। सविता देव से स्तुति की है कि हे सविता देव सुवर्ण जिह्वा वाले तू न दबने वाले कल्याणकारी रक्षणों से हमारे घर की रक्षा करो, नवीन सुख के लिए हमारी रक्षा करो। पापी हम पर कभी शासन न करे –

**अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वं शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।**
**हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत।।**

**(ऋ. ६.७१.३)**

सविता देव मन को शान्ति देने वाला, मन को अपने अधीन करने वाला है। अपनी सुवर्णमयी भुजा को फैलाकर हर रात्रि की समाप्ति पर उदय होता हैं सविता देव से प्रार्थना करते हैं कि प्रतिदिन हमें उत्तम धन प्राप्त हो क्योंकि तुम अनेक प्रकार के धन तथा आश्रय स्थान के स्वामी हो। अतः तुम्हारी भक्ति से हम उत्तम धन के भागी बनें –

**वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः।**
**वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम।।**

**(ऋ. ६.७१.६)**

यह सूर्य या सविता देव उदय होते समय स्वर्णमयी प्रभा को धारण

करता है। सूर्य का यह ऐश्वर्य निश्चय से मनुष्यों के द्वारा प्रशंसनीय है। सबके प्रेरक देव हैं। सुवर्ण यज्ञ में तेरे लिए किए जाने वाले इस स्तुति का श्रवण कर। सविता देव मानवों के लिए अनेक तरह के भोग्य पदार्थ देता है।

अगले मन्त्रों में वर्णन आता है कि दानशील भक्तजन मिलकर द्युलोक और पृथ्वी लोक के मित्ररूप सविता की उपासना करते हैं। मध्यस्थान अर्थात् अन्तरिक्ष में रहने वाला यह विद्युत रूप सविता हमारी प्रार्थना सुने। वाग्देवी मुख्य गौओं के साथ हमारी सुरक्षा करें –

**अभि ये मिथो वनुषः सपन्ते रातिं दिवो रातिषाचः पृथिव्याः।**
**अहिर्बुध्न्य उत न शृणोतु वरूत्र्येकधेनुभिर्नि पातु।।**
**(ऋ. ७.३८.५)**

अदिति देवी इस सविता की स्तुति करती है और उसके आदेशों का पालन करती है। सम्राट् वरुण भी इसकी प्रशंसा करता है, समान रूप से प्रेम करने वाला अर्यमा और मित्र इसकी स्तुति करते हैं। उग्र वीरभग से संरक्षण की शक्ति के साथ धन माँगता है, पर जो वीर नहीं है वह केवल धन माँगता है। संरक्षण की शक्ति माँगनी चाहिए क्योंकि बिना शक्ति के प्राप्त धन का संरक्षण नहीं हो सकता।

वीरों के हाथ ऐसे हों जो दान देने के लिए स्वर्ण से भरे हुए हों और दान देने के लिए वे हाथ फैलाये हुए हों। सविता देव के बाहू भी सुवर्ण से परिपूर्ण हैं। इन देव की सुनहरी किरणें प्राणियों को अपना प्रकाश प्रदान करने के लिए फैली रहती हैं। अतेव इसकी महिमा गायी जाती है। ऐसा दानी सविता मनुष्यों को भी उत्तम दान देने की सत्प्रेरणा दे –

**उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्त हिरण्यया दिवो अन्ताँ अनष्टाम्।**
**नूनं सो अस्य महिमा पनिष्ट सूरश्चिदस्मा अनु दादपस्याम्।।**
**(ऋ. ७.४५.२)**

इस प्रकार यहाँ 'दान' का वर्णन किया गया है। मनुष्य दान करने से पूर्व स्वयं धनवान् बने, सामर्थ्यवान् बने। धन का स्वामी शत्रु का पराभव करने में असमर्थ हो। वह स्वयं धनवान होकर प्रगति के कार्यों को आश्रय दे।

यजुर्वेद के अधिकांश सूक्त सविता देव को सम्बोधित है। प्रथम मन्त्र ही 'सविता' देव की स्तुति से है –

**इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण**

**आप्यायध्व मघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि।**

हे मानव सबको उत्पन्न करने वाला सविता देव तुझे अन्न प्राप्ति के लिए प्रेरित करे। हे मनुष्यों, तुम प्राण हो। सबका सृजन करने वाला देव तुम सबको श्रेष्ठतम कर्म के लिए प्रेरित करे। हे मनुष्यों, बढ़ते जाओ। तुम सब अवध्य हो, तुम्हारी शक्तियाँ क्षीण न हों। तुम इन्द्र के लिए अपना भाग बढ़ाकर दो। तुम सन्तानयुक्त, रोगमुक्त, और क्षयरोग रहित हो। चोर तुम्हारा प्रभु न बने, पापी तुम्हारा स्वामी न बने, अधिक संख्या में प्रजा सम्पन्न हो, यज्ञ करने वाले के पशुओं की रक्षा करो।

निर्माणकर्ता परमात्मा की इस रचना में शुद्धता करने के अनेक साधन पाये जाते हैं और उनमें सूर्यकिरण अत्यन्त प्रभावशाली है। सारे संसार में सूर्यकिरणों द्वारा पवित्रता का सृजन होता है। इसी कारण सभी अपने घरों में सूर्यकिरणों का प्रवेश कराते हैं। वहाँ रोगों को भय नहीं होता। जो अपने शरीर पर सूर्यप्रकाश का उपयोग करते हैं वे स्वयं आरोग्य–सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार सूर्य में किरणों द्वारा शुद्धता का गुण है।

**एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव।। (यजुर्वेद २–१२)**

अर्थात् सविता देव सब विश्व का प्रसविता है। इसी का नाम ज्ञान का स्वामी ब्रह्मा है। ब्रह्मा सृष्टि का निर्माता है। अत: जो भी यज्ञ किया जाता है वह प्रजापति ब्रह्मा के लिए किया जाता है, ऐसी मान्यता है। भाव यह है कि सविता, देव, बृहस्पति, ब्रह्मा, यज्ञ के नाम इस एक ही देवता के हैं। यह देव यज्ञ की, यजमान की और मेरी रक्षा करे। यही सबके द्वारा पूजनीय देव है।

गायत्री मन्त्र का उल्लेख यजुर्वेद में भी है –

**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।**

सविता वह देव है जो सबको अपने अन्दर से सृजन करता है। सबका प्रसविता है। उस विश्वव्यापी सृजनकर्ता 'सविता' देव के वरणीय तेज का ध्यान करने का उपदेश है। इस तेज से सम्पूर्ण विश्व तेजस्वी बना है। अत: उपासकों की भक्ति इस तेज से सत्कर्मों में प्रेरित होती है।

प्रस्तुत मन्त्र में सामूहिक उपासना है। अतएव 'हमारी सबकी बुद्धियों को वह तेज प्रेरित करता है।' यहाँ वैयक्तिक उपासना में सामूहिक भाव है।

यजुर्वेद में स्थान–स्थान पर 'देवस्य त्वा सवितुः कृन्तामि।' मन्त्र का वर्णन है। सबके निर्माता देव की बनाई इस सृष्टि में अश्विनौ के बाहुओं से तथा पूषा के हाथों से तेरा ग्रहण करता हूँ। वैद्यों के हाथों से और पोषक के हाथों योग्य पदार्थ का ग्रहण करना चाहिए। आगे कहा है कि जल औषधियों से मिले, औषधियाँ रसीली होवें। वृक्ष, धान्य, वनस्पति तथा औषधि द्रव्यों को उचित अवसर पर उचित मात्रा में जल मिलता रहे और सभी औषधियाँ उत्तम रस से युक्त होवें। इसी से मानव जाति में रोगप्रतिबंधक, रोगनिवारक तथा पोषक सामर्थ्य का सृजन हो, तभी मान आरोग्य सम्पन्नता प्राप्त कर सकता है। धनाढ्य वेगवानों से मिलजुल कर रहे। मधुर मधुर से मिल जाएँ। यहाँ समाज में एक सुव्यवस्था दी है कि धनिक जनता वेगशाली प्रजा से अच्छी तरह मिलकर रहे। परस्पर मधुरता का वातावरण हो। प्रगतिशाली समाज के लिए उपर्युक्त मन्त्र का पालन आवश्यक है। 'सविता' देव से ऋषि प्रार्थना करता है –

**वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यं सावीः।**
**वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम॥**
**(यजुर्वेद, ८–६)**

अर्थात् हे सबके उत्पादक सविता देव, तुम अज, कल और प्रतिदिन उत्तम सुख उत्पन्न करो। हे दिव्यगुण युक्त, हम निश्चय से बहुत उत्तम ऐश्वर्यों से युक्त, घर में रहने वाले हम इस उत्तम बुद्धि से ही सब उत्तम सुखों का भोग करने वाले हों।

'सविता' देव से यज्ञ उत्तम रीति से सम्पन्न करने के लिए प्रार्थना है–

**देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।**
**दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा॥**
**(यजुर्वेद ९–१)**

हे तेजस्वी सबके उत्पादक सविता देव, इस यज्ञ को विशेष रीति से सम्पन्न करो, यजमान को ऐश्वर्य लाभ के निमत्त प्रेरणा करो, दीप्यमान अन्न के पवित्र करने वाले रश्मियों के धारक तुम हमारे अन्न को पवित्र करो, और वाणी के अधिपति तुम हमारे वाक्यों के माधुर्य से युक्त करो, यह आहुति भली प्रकार स्वीकृत हो। यजुर्वेद के एकादश अध्याय के अधिकांश मन्त्र 'सविता' देव को सम्बोधित हैं। **सविता प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः** – सर्व उत्पादक प्रजापति परमेश्वर ने सबसे प्रथम मन और बुद्धियों को उत्पन्न करके उनकी शक्तियों को

फैलाया है। **अग्नेज्योतिर्निचाय्य** – अग्नि से प्रकाश उत्पन्न करके उसी ईश्वर ने फैलाया है। **पृथिव्या अध्याऽभरत्** – पृथ्वी पर उन्होंने यह अग्नि आदि शक्तियों को फैलाया है। प्रकाश फैलाने वाले सूर्य आदि देव हैं। अपनी बुद्धि से उन देवों को प्रकाश फैलाने के कार्य में नियुक्त करता है। अतः इस विश्व में रहकर हम एकाग्र योगयुक्त मन से अपनी शक्ति से प्रयत्न करें और उत्तम सुख को प्राप्त करें।

सविता देव की कृपा से यज्ञ कार्य सम्पन्न होते हैं। अतः मन्त्रों में यही कहा गया है कि विद्वान् ज्ञानी लोग यजमान का यज्ञकार्य करने के समय उसी यज्ञ कार्य में अपने मन और बुद्धि को लगाते हैं।

सामवेद में सविता देव का वर्णन है – सायंकाल में गायत्री की अवस्था वृद्धा मानी गयी है। वे वृषभ पर बैठी हुई रुद्रशक्ति के रूप में उपस्थित होती है। शरीर का वर्णन शुक्ल है। अपनी चार भुजाओं में वे त्रिशूल, डमरु, पाश और पात्र धारण किए होती हैं इस स्वरूप का नाम 'सरस्वती' है।

इस प्रकार गायत्री, सवितृ/सावित्री, सरस्वती एक ही ब्रह्म–शक्ति के नाम हैं। प्रणव, वेद, व्याहृति, वेदाङ्ग–शास्त्र, पुराण और इतिहास आदि समस्त वाङ्मय इन्हीं का स्वरूप हैं। ये ही सबकी अधिष्ठातृ देवी हैं। इन्हीं को ब्राह्मी, भारती, एवं वाणी कहते हैं। बुद्धि की अधिष्ठातृ देवी ये ही हैं। इन्हीं की शक्ति से ब्रह्मा जी की सृष्टि का कार्य सञ्चालन करते हैं। स्वरूप एक होते हुए भी सावित्री और सरस्वती पृथक्–पृथक् हैं।

यजुर्वेद में इसका वर्णन इस प्रकार से है – 'मध्याह्नकाल में इसकी अवस्था युवती की सी रहती है। इसकी चार भुजाएँ और तीन नेत्र होते हैं। चारों हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म शोभा पाते हैं। उस समय इनकी सवारी में गरुड़ रहता है। ये वैष्णवी शक्ति रूप में प्रकट होती है। इसी स्वरूप का नाम सावित्री है।

# ब्रह्मवादिनी सूर्या

ऋग्वेद के दशम मण्डल में ब्रह्मवादिनी सूर्या द्वारा मन्त्रद्रष्ट्री के रूप में ४७ ऋचाओं का उल्लेख है। वेद–शास्त्रों में जितने आख्यान हैं, उन सबके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ हैं। वैदिक ऋचाओं के भी तीन अर्थ हैं, परन्तु वे केवल आध्यात्मिक अर्थ रूप ही हैं, इतिहास नहीं है, ऐसी बात नहीं है। यह सूक्त विवाह सम्बन्धी है। आरम्भ के पाँच सूक्तों में 'सोम' का वर्णन है। सूक्त का प्रारम्भ है कि देवों में सत्यरूप ब्रह्मा ने पृथ्वी को आकाश में धारण किया है। सूर्य ने द्युलोक को धारण किया है। यज्ञ के द्वारा देव रहते हैं, द्युलोक में सोम ऊपर अवस्थित है –

**सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।**
**ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥**
**(ऋ. १०.८५.१)**

सोम का वर्णन औषधि के रूप में है कि जब लोग तेरा औषधि रूप में पान करते हैं, उस समय तू बार–बार पिया जाता है। वायु सोम की रक्षा करता है। जब सोम रूपी वनस्पति औषधि को पीसते हैं, उस समय लोग मानते हैं कि उन्होंने सोमपान कर लिया। परन्तु जिस सोम को ब्रह्म जानने वाले ज्ञानी लोग जानते हैं, उसको दूसरा कोई भी अयाज्ञिक खा नहीं सकता है।

आगे की ऋचाओं में चन्द्रमा के साथ सूर्यकन्या सूर्या के विवाह का वर्णन है। सूर्या के विवाह का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे कई तत्कालीन प्रथाओं का परिचय मिलता है, जो आज भी न्यूनाधिक रूप में पायी जाती हैं। चन्द्रमा के साथ सूर्या के विवाह का आध्यात्मिक अर्थ भी है और उसका ऐतिहासिक तथ्य भी है। जहाँ चन्द्र और सूर्य को नक्षत्र रूप में ग्रहण किया गया है, वहाँ आलङ्कारिक भाषा में आध्यात्मिक वर्णन है और जहाँ उनके अधिष्ठात्री देवता के रूप में लिया गया है वहाँ प्रत्यक्ष ही वैसा व्यवहार है।

रैभी (कुछ वेदमन्त्र) विवाह के अनन्तर विवाहिता की सखी थी। मनुष्यों से गाई हुई ऋचाएँ उसकी दासी थीं। सूर्य का आच्छादन वस्त्र अति सुन्दर था और वह गाथा से सुशोभित था। जिस समय सूर्या पति के गृह में गई, उस समय विचार ही चादर था। काजल युक्त नेत्र थे। आकाश और पृथ्वी ही उसके खजाने थे।

आगे मन्त्र है कि सूर्या जब विदा होकर पति के साथ चली तब उसके बैठने का रथ मन के वेग के समान था और आकाश ऊपर की छत थी। सूर्य

और चन्द्र उसके रथ वाहक थे। सूर्या को पिता ने दहेज में गौ, स्वर्ण, वस्त्र आदि पदार्थ दिए थे।

सूर्या द्वारा अविष्कृत मन्त्रों में भी यह स्पष्ट किया गया है कि स्त्री अपने पति के अधीन रहती थी। परन्तु घर के अन्य सब पदार्थों पर उसी का प्रभुत्व रहता था। नौकर आदि पर भी शासन करती थी। वर और वधू जब विवाह में एक साथ बैठते थे, उस समय गुरुजनों और देवताओं से वधू के सौभाग्य के लिए प्रार्थना की जाती थी। यह प्रथा आर्यों में अभी तक प्रचलित है। आज भी यह मन्त्र पढ़कर सिन्दूर एवं सौभाग्यवर्धक आशीर्वाद अर्पण किया जाता है –

**सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।**
**सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाऽथास्तं वि परेतन।।**

**(ऋ. १०–८५–३३)**

यह परम कल्याणमयी वधू यहाँ बैठी है, गुरुजनों तथा देवताओं आप सब लोग यहाँ आवें, इसे कृपादृष्टि से देखें तथा इसे सौभाग्यसूचक आशीर्वाद देकर अपने–अपने स्थान को पधारें।

सूर्या के बड़े सुन्दर उपदेश हैं – वर कन्या को वधू रूप में ग्रहण करते समय उसका हाथ पकड़कर कहता था –

**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदिष्टर्यथासः।**
**भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।**

**(ऋ. १०–८५–३६)**

अर्थात् कल्याणी, मैं तुम्हारे और अपने सौभाग्य के लिए तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। तुम मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक बनी रहो। भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि आदि देवताओं ने गृहस्थ धर्म की रक्षा के लिए मुझे तुमको दिया है।

विवाह–पद्धति में इस विधि का आज भी पालन कराया जाता है। यह परम्परा भी आज तक कायम है। हिन्दू धर्म में पति–पत्नी एक दूसरे के सखा और सहधर्मी हैं। दोनों का समान स्थान है। कोई किसी से छोटा या बड़ा नहीं है। सप्तपदी के विधान द्वारा नव–दम्पत्ति के इस सख्य भाव को सुदृढ़ किया जाता है –

**इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।**
**क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।।**

**(ऋ. १०–८५–४२)**

अगले मन्त्र में पति का कथन है – 'प्रजापति हमें सन्तति दें, अर्यमा

वृद्धावस्था तक हमें साथ रखें। वधू! तमु मङ्गलमयी होकर पति–गृह में रहो। घर के मनुष्यों और पशुओं के लिए कल्याणकारी बनो –

**आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।**
**अदुर्मङ्गली: पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।**

**(ऋ. १०–८५–४३)**

वृद्धावस्था तक नारी अपने घर में प्रभुता रखती थी। पशु रक्षिणी और वीरप्रसविनी नारी का उस समय विशेष आदर था। नारी स्त्री–धन से ब्राह्मणों को दान देती थी। ऐसी नारी की प्राप्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना की जाती थी। फिर ईश्वर से प्रार्थना की गयी है –

**इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।**
**दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।**

**(ऋ. १०–८५–४५)**

अर्थात् परमात्मन् ! इस वधू को सुयोग्य पुत्रवाली तथा सौभाग्यवती बनाओ। इसके गर्भ में दस पुत्रों को स्थापित करो। इसके दस पुत्र और ग्यारहवें पति सब रहें।

किन्हीं मन्त्रों में कहा गया कि 'हे बहू तू शरीर के मल से मलिन वस्त्र का त्याग करो। प्रायश्चित्तार्थ ब्राह्मणों को धन दो। यदि पति वधू के वस्त्र से अपने शरीर को ढकना चाहे तो पति का शरीर श्रीरहित, रोगादि से दूषित हो जाता है। वधू से वा वधू के सम्बन्धियों से व्याधियाँ तेज:पुंज वर के शरीर को प्राप्त होती हैं। मलिन रहने, मलिन कपड़े पहनने, प्रतिदिन स्नान न करने से और आलस्य में रहने से भाँति–भाँति के रोग हो जाते हैं और पत्नी की मलिनता पति में पहुँच जाती है। अत: पति का कल्याण चाहने वाली स्त्री को स्वच्छ रहना उचित है। मैलेपन से होने वाले रोग से शरीर कुरूप हो जाता है।

अन्तिम मन्त्र में वधू को आशीर्वाद दिया गया है –

**सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्वां भव।**
**ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।।**

**(ऋ. १०–८५–४७)**

अर्थात् वधू तुम घर में सास, ससुर, ननद और देवर – सबके हृदय की महारानी बनो, सबको अपने प्रेम, सेवा और सद्व्यवहार से जीत लो।

इन दिव्य आदर्शों का पालन वधू करती थी। आज भी विवाह के समय ये वैदिक शिक्षाएँ दी जाती हैं।

**इन्द्रज्येष्ठान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।**
**यथायथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते।**

**(ऋ. ४.५४.५)**

हे सविता देव, जो मनुष्य प्रतिदिन तीन सवनों में तीन बार उत्तम भाग्य देने वाले सोम को निचोड़ते हैं। उन हमारे लिए इन्द्र, द्यु, पृथिवी, जलपूर्ण नदियाँ, आदित्यों के साथ अदिति सुख प्रदान करें –

**ये ते त्रिरहन् त्सवितः सवासो दिवेदिवे सौभगमासुवन्ति।**
**इन्द्रो द्यावापृथिवी सिन्धुरद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत्।।**

**(ऋ. ४.५४.६)**

सविता देव सभी कर्मों को पूरा जानने वाला और अकेला ही सब यज्ञों को पूरा करता है। अतेव महान् बुद्धिमान् और ज्ञानी सविता देव की स्तुति करने में अपना मन और बुद्धि लगाते हैं, उसमें अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। अपने उत्तम गुणों के कारण सविता देव सबका मित्र है। सविता देव अपने विविध रूपों को प्रकट करता है। जब उषा आकर चली जाती है, तब सविता देव प्रकट होता है।

सविता देव की महिमा अत्यन्त प्रशंसनीय है। अतेव अन्य देव भी इसकी महिमा का अनुसरण करते हैं और तेजस्वी होते हैं। इस प्रकार तेजस्वी सविता देव अपनी महिमा से पृथ्वी के लोकों को नापता है –

**यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।**
**यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना।।**

**(ऋ. ५.८१.३)**

अपने उत्तम गुणों के कारण सविता देव सबका मित्र है। सविता देव, अकेला ही सभी उत्पन्न हुए जगत् का शासक है, अपने प्रयत्नों से ही इस जगत् का पोषण करता है। वह समस्त संसार का राजा है। तेजस्वी घोड़ों वाला वीर सविता देव की स्तुति करते हैं –

**उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेव इदुत पूषा भवसि देव यामभिः।**
**उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे।।**

**(ऋ.५.८१.५)**

वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि हम सविता देव से उस धन की इच्छा रखते हैं जो शत्रुओं का विनाशक, सबको धारण करने वाला और श्रेष्ठ है। सविता

का स्वराज्य यश को बढ़ाने वाला तथा प्रिय है। इसके स्वराज्य को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। राज्य का प्रबन्ध ऐसा हो कि कोई भी शत्रु इसकी स्वतन्त्रता पर आक्रमण न कर सके –

**अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम्।**

**(ऋ. ५.८२.२)**

हे सविता देव तू हमसे सभी दुर्गुणों को दूर कर, जो कल्याणकारी हों, उसे हमें प्रदान कर। सविता देव की आज्ञा में रहकर हम अखण्ड भूमि के लिए निरपराध हों तथा सम्पूर्ण धनों को धारण करें। सबके लिए देववत् पूज्य, सज्जनों के पालक, सत्य प्रतिज्ञा करने वाले सविता का आवाह्न करते हैं –

**आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे। सत्यसवं सवितारम्।**

**(ऋ. ५.८२.७)**

सविता देव उत्तम कर्म करने वाला है। अपनी सुवर्ण के समान बाहू दान के लिए ऊपर उठता है। उत्तम दक्ष, तरुण और यज्ञरूप यह देव रजोलोक के विविध रूपों में जल से युक्त अपने दोनों हाथ ऊपर उठाता है। सब द्विपाद और चतुष्पाद के विश्व के विश्राम और व्यवसाय में कारण सविता देव ही है। सविता देव से स्तुति की है कि हे सविता देव सुवर्ण जिह्वा वाले तू न दबने वाले कल्याणकारी रक्षणों से हमारे घर की रक्षा करो, नवीन सुख के लिए हमारी रक्षा करो। पापी हम पर कभी शासन न करे –

**अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वं शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।**
**हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत।।**

**(ऋ. ६.७१.३)**

सविता देव मन को शान्ति देने वाला, मन को अपने अधीन करने वाला है। अपनी सुवर्णमयी भुजा को फैलाकर हर रात्रि की समाप्ति पर उदय होता हैं सविता देव से प्रार्थना करते हैं कि प्रतिदिन हमें उत्तम धन प्राप्त हो क्योंकि तुम अनेक प्रकार के धन तथा आश्रय स्थान के स्वामी हो। अतः तुम्हारी भक्ति से हम उत्तम धन के भागी बनें –

**वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः।**
**वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम।।**

**(ऋ. ६.७१.६)**

यह सूर्य या सविता देव उदय होते समय स्वर्णमयी प्रभा को धारण

करता है। सूर्य का यह ऐश्वर्य निश्चय से मनुष्यों के द्वारा प्रशंसनीय है। सबके प्रेरक देव हैं। सुवर्ण यज्ञ में तेरे लिए किए जाने वाले इस स्तुति का श्रवण कर। सविता देव मानवों के लिए अनेक तरह के भोग्य पदार्थ देता है।

अगले मन्त्रों में वर्णन आता है कि दानशील भक्तजन मिलकर द्युलोक और पृथ्वी लोक के मित्ररूप सविता की उपासना करते हैं। मध्यस्थान अर्थात् अन्तरिक्ष में रहने वाला यह विद्युत रूप सविता हमारी प्रार्थना सुने। वाग्देवी मुख्य गौओं के साथ हमारी सुरक्षा करें –

**अभि ये मिथो वनुषः सपन्ते रातिं दिवो रातिषाचः पृथिव्याः।**
**अहिर्बुध्न्य उत न शृणोतु वरूत्र्येकधेनुभिर्नि पातु।।**
**(ऋ. ७.३८.५)**

अदिति देवी इस सविता की स्तुति करती है और उसके आदेशों का पालन करती है। सम्राट् वरुण भी इसकी प्रशंसा करता है, समान रूप से प्रेम करने वाला अर्यमा और मित्र इसकी स्तुति करते हैं। उग्र वीरभग से संरक्षण की शक्ति के साथ धन माँगता है, पर जो वीर नहीं है वह केवल धन माँगता है। संरक्षण की शक्ति माँगनी चाहिए क्योंकि बिना शक्ति के प्राप्त धन का संरक्षण नहीं हो सकता।

वीरों के हाथ ऐसे हों जो दान देने के लिए स्वर्ण से भरे हुए हों और दान देने के लिए वे हाथ फैलाये हुए हों। सविता देव के बाहू भी सुवर्ण से परिपूर्ण हैं। इन देव की सुनहरी किरणें प्राणियों को अपना प्रकाश प्रदान करने के लिए फैली रहती हैं। अतेव इसकी महिमा गायी जाती है। ऐसा दानी सविता मनुष्यों को भी उत्तम दान देने की सत्प्रेरणा दे –

**उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्त हिरण्यया दिवो अन्ताँ अनष्टाम्।**
**नूनं सो अस्य महिमा पनिष्ट सूरश्चिदस्मा अनु दादपस्याम्।।**
**(ऋ. ७.४५.२)**

इस प्रकार यहाँ 'दान' का वर्णन किया गया है। मनुष्य दान करने से पूर्व स्वयं धनवान् बने, सामर्थ्यवान् बने। धन का स्वामी शत्रु का पराभव करने में असमर्थ हो। वह स्वयं धनवान होकर प्रगति के कार्यों को आश्रय दे।

यजुर्वेद के अधिकांश सूक्त सविता देव को सम्बोधित है। प्रथम मन्त्र ही 'सविता' देव की स्तुति से है –

**इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण**

**आप्यायध्व मघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि।**

हे मानव सबको उत्पन्न करने वाला सविता देव तुझे अन्न प्राप्ति के लिए प्रेरित करे। हे मनुष्यों, तुम प्राण हो। सबका सृजन करने वाला देव तुम सबको श्रेष्ठतम कर्म के लिए प्रेरित करे। हे मनुष्यों, बढ़ते जाओ। तुम सब अवध्य हो, तुम्हारी शक्तियाँ क्षीण न हों। तुम इन्द्र के लिए अपना भाग बढ़ाकर दो। तुम सन्तानयुक्त, रोगमुक्त, और क्षयरोग रहित हो। चोर तुम्हारा प्रभु न बने, पापी तुम्हारा स्वामी न बने, अधिक संख्या में प्रजा सम्पन्न हो, यज्ञ करने वाले के पशुओं की रक्षा करो।

निर्माणकर्ता परमात्मा की इस रचना में शुद्धता करने के अनेक साधन पाये जाते हैं और उनमें सूर्यकिरण अत्यन्त प्रभावशाली है। सारे संसार में सूर्यकिरणों द्वारा पवित्रता का सृजन होता है। इसी कारण सभी अपने घरों में सूर्यकिरणों का प्रवेश कराते हैं। वहाँ रोगों को भय नहीं होता। जो अपने शरीर पर सूर्यप्रकाश का उपयोग करते हैं वे स्वयं आरोग्य–सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार सूर्य में किरणों द्वारा शुद्धता का गुण है।

**एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव।।** **(यजुर्वेद २–१२)**

अर्थात् सविता देव सब विश्व का प्रसविता है। इसी का नाम ज्ञान का स्वामी ब्रह्मा है। ब्रह्मा सृष्टि का निर्माता है। अत: जो भी यज्ञ किया जाता है वह प्रजापति ब्रह्मा के लिए किया जाता है, ऐसी मान्यता है। भाव यह है कि सविता, देव, बृहस्पति, ब्रह्मा, यज्ञ के नाम इस एक ही देवता के हैं। यह देव यज्ञ की, यजमान की और मेरी रक्षा करे। यही सबके द्वारा पूजनीय देव है।

गायत्री मन्त्र का उल्लेख यजुर्वेद में भी है –

**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।**

सविता वह देव है जो सबको अपने अन्दर से सृजन करता है। सबका प्रसविता है। उस विश्वव्यापी सृजनकर्ता 'सविता' देव के वरणीय तेज का ध्यान करने का उपदेश है। इस तेज से सम्पूर्ण विश्व तेजस्वी बना है। अत: उपासकों की भक्ति इस तेज से सत्कर्मों में प्रेरित होती है।

प्रस्तुत मन्त्र में सामूहिक उपासना है। अतएव 'हमारी सबकी बुद्धियों को वह तेज प्रेरित करता है।' यहाँ वैयक्तिक उपासना में सामूहिक भाव है।

यजुर्वेद में स्थान–स्थान पर 'देवस्य त्वा सवितुः कृन्तामि।' मन्त्र का वर्णन है। सबके निर्माता देव की बनाई इस सृष्टि में अश्विनौ के बाहुओं से तथा पूषा के हाथों से तेरा ग्रहण करता हूँ। वैद्यों के हाथों से और पोषक के हाथों योग्य पदार्थ का ग्रहण करना चाहिए। आगे कहा है कि जल औषधियों से मिले, औषधियाँ रसीली होवें। वृक्ष, धान्य, वनस्पति तथा औषधि द्रव्यों को उचित अवसर पर उचित मात्रा में जल मिलता रहे और सभी औषधियाँ उत्तम रस से युक्त होवें। इसी से मानव जाति में रोगप्रतिबंधक, रोगनिवारक तथा पोषक सामर्थ्य का सृजन हो, तभी मान आरोग्य सम्पन्नता प्राप्त कर सकता है। धनाढ्य वेगवानों से मिलजुल कर रहे। मधुर मधुर से मिल जाएँ। यहाँ समाज में एक सुव्यवस्था दी है कि धनिक जनता वेगशाली प्रजा से अच्छी तरह मिलकर रहे। परस्पर मधुरता का वातावरण हो। प्रगतिशाली समाज के लिए उपर्युक्त मन्त्र का पालन आवश्यक है। 'सविता' देव से ऋषि प्रार्थना करता है –

**वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यं सावीः।**
**वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम॥**
**(यजुर्वेद, ८–६)**

अर्थात् हे सबके उत्पादक सविता देव, तुम अज, कल और प्रतिदिन उत्तम सुख उत्पन्न करो। हे दिव्यगुण युक्त, हम निश्चय से बहुत उत्तम ऐश्वर्यों से युक्त, घर में रहने वाले हम इस उत्तम बुद्धि से ही सब उत्तम सुखों का भोग करने वाले हों।

'सविता' देव से यज्ञ उत्तम रीति से सम्पन्न करने के लिए प्रार्थना है–

**देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।**
**दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा॥**
**(यजुर्वेद ९–१)**

हे तेजस्वी सबके उत्पादक सविता देव, इस यज्ञ को विशेष रीति से सम्पन्न करो, यजमान को ऐश्वर्य लाभ के निमत्त प्रेरणा करो, दीप्यमान अन्न के पवित्र करने वाले रश्मियों के धारक तुम हमारे अन्न को पवित्र करो, और वाणी के अधिपति तुम हमारे वाक्यों के माधुर्य से युक्त करो, यह आहुति भली प्रकार स्वीकृत हो। यजुर्वेद के एकादश अध्याय के अधिकांश मन्त्र 'सविता' देव को सम्बोधित हैं। **सविता प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः** – सर्व उत्पादक प्रजापति परमेश्वर ने सबसे प्रथम मन और बुद्धियों को उत्पन्न करके उनकी शक्तियों को

फैलाया है। **अग्नेज्योतिर्निचाय्य** – अग्नि से प्रकाश उत्पन्न करके उसी ईश्वर ने फैलाया है। **पृथिव्या अध्याऽभरत्** – पृथ्वी पर उन्होंने यह अग्नि आदि शक्तियों को फैलाया है। प्रकाश फैलाने वाले सूर्य आदि देव हैं। अपनी बुद्धि से उन देवों को प्रकाश फैलाने के कार्य में नियुक्त करता है। अत: इस विश्व में रहकर हम एकाग्र योगयुक्त मन से अपनी शक्ति से प्रयत्न करें और उत्तम सुख को प्राप्त करें।

सविता देव की कृपा से यज्ञ कार्य सम्पन्न होते हैं। अत: मन्त्रों में यही कहा गया है कि विद्वान् ज्ञानी लोग यजमान का यज्ञकार्य करने के समय उसी यज्ञ कार्य में अपने मन और बुद्धि को लगाते हैं।

सामवेद में सविता देव का वर्णन है – सायंकाल में गायत्री की अवस्था वृद्धा मानी गयी है। वे वृषभ पर बैठी हुई रुद्रशक्ति के रूप में उपस्थित होती है। शरीर का वर्णन शुक्ल है। अपनी चार भुजाओं में वे त्रिशूल, डमरु, पाश और पात्र धारण किए होती हैं इस स्वरूप का नाम 'सरस्वती' है।

इस प्रकार गायत्री, सवितृ/सावित्री, सरस्वती एक ही ब्रह्म–शक्ति के नाम हैं। प्रणव, वेद, व्याहृति, वेदाङ्ग–शास्त्र, पुराण और इतिहास आदि समस्त वाङ्मय इन्हीं का स्वरूप हैं। ये ही सबकी अधिष्ठातृ देवी हैं। इन्हीं को ब्राह्मी, भारती, एवं वाणी कहते हैं। बुद्धि की अधिष्ठातृ देवी ये ही हैं। इन्हीं की शक्ति से ब्रह्मा जी की सृष्टि का कार्य सञ्चालन करते हैं। स्वरूप एक होते हुए भी सावित्री और सरस्वती पृथक्–पृथक् हैं।

यजुर्वेद में इसका वर्णन इस प्रकार से है – 'मध्याह्नकाल में इसकी अवस्था युवती की सी रहती है। इसकी चार भुजाएँ और तीन नेत्र होते हैं। चारों हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म शोभा पाते हैं। उस समय इनकी सवारी में गरुड़ रहता है। ये वैष्णवी शक्ति रूप में प्रकट होती है। इसी स्वरूप का नाम सावित्री है।

# ब्रह्मवादिनी सूर्या

ऋग्वेद के दशम मण्डल में ब्रह्मवादिनी सूर्या द्वारा मन्त्रद्रष्ट्री के रूप में ४७ ऋचाओं का उल्लेख है। वेद–शास्त्रों में जितने आख्यान हैं, उन सबके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ हैं। वैदिक ऋचाओं के भी तीन अर्थ हैं, परन्तु वे केवल आध्यात्मिक अर्थ रूप ही हैं, इतिहास नहीं है, ऐसी बात नहीं है। यह सूक्त विवाह सम्बन्धी है। आरम्भ के पाँच सूक्तों में 'सोम' का वर्णन है। सूक्त का प्रारम्भ है कि देवों में सत्यरूप ब्रह्मा ने पृथ्वी को आकाश में धारण किया है। सूर्य ने द्युलोक को धारण किया है। यज्ञ के द्वारा देव रहते हैं, द्युलोक में सोम ऊपर अवस्थित है –

**सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।**
**ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः।।**

**(ऋ. १०.८५.१)**

सोम का वर्णन औषधि के रूप में है कि जब लोग तेरा औषधि रूप में पान करते हैं, उस समय तू बार–बार पिया जाता है। वायु सोम की रक्षा करता है। जब सोम रूपी वनस्पति औषधि को पीसते हैं, उस समय लोग मानते हैं कि उन्होंने सोमपान कर लिया। परन्तु जिस सोम को ब्रह्म जानने वाले ज्ञानी लोग जानते हैं, उसको दूसरा कोई भी अयाज्ञिक खा नहीं सकता है।

आगे की ऋचाओं में चन्द्रमा के साथ सूर्यकन्या सूर्या के विवाह का वर्णन है। सूर्या के विवाह का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे कई तत्कालीन प्रथाओं का परिचय मिलता है, जो आज भी न्यूनाधिक रूप में पायी जाती हैं। चन्द्रमा के साथ सूर्या के विवाह का आध्यात्मिक अर्थ भी है और उसका ऐतिहासिक तथ्य भी है। जहाँ चन्द्र और सूर्य को नक्षत्र रूप में ग्रहण किया गया है, वहाँ आलङ्कारिक भाषा में आध्यात्मिक वर्णन है और जहाँ उनके अधिष्ठात्री देवता के रूप में लिया गया है वहाँ प्रत्यक्ष ही वैसा व्यवहार है।

रैभी (कुछ वेदमन्त्र) विवाह के अनन्तर विवाहिता की सखी थी। मनुष्यों से गाई हुई ऋचाएँ उसकी दासी थीं। सूर्य का आच्छादन वस्त्र अति सुन्दर था और वह गाथा से सुशोभित था। जिस समय सूर्या पति के गृह में गई, उस समय विचार ही चादर था। काजल युक्त नेत्र थे। आकाश और पृथ्वी ही उसके खजाने थे।

आगे मन्त्र है कि सूर्या जब विदा होकर पति के साथ चली तब उसके बैठने का रथ मन के वेग के समान था और आकाश ऊपर की छत थी। सूर्य

और चन्द्र उसके रथ वाहक थे। सूर्या को पिता ने दहेज में गौ, स्वर्ण, वस्त्र आदि पदार्थ दिए थे।

सूर्या द्वारा अविष्कृत मन्त्रों में भी यह स्पष्ट किया गया है कि स्त्री अपने पति के अधीन रहती थी। परन्तु घर के अन्य सब पदार्थों पर उसी का प्रभुत्व रहता था। नौकर आदि पर भी शासन करती थी। वर और वधू जब विवाह में एक साथ बैठते थे, उस समय गुरुजनों और देवताओं से वधू के सौभाग्य के लिए प्रार्थना की जाती थी। यह प्रथा आर्यों में अभी तक प्रचलित है। आज भी यह मन्त्र पढ़कर सिन्दूर एवं सौभाग्यवर्धक आशीर्वाद अर्पण किया जाता है –

**सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।**
**सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाऽथास्तं वि परेतन।।**

**(ऋ. १०–८५–३३)**

यह परम कल्याणमयी वधू यहाँ बैठी है, गुरुजनों तथा देवताओं आप सब लोग यहाँ आवें, इसे कृपादृष्टि से देखें तथा इसे सौभाग्यसूचक आशीर्वाद देकर अपने–अपने स्थान को पधारें।

सूर्या के बड़े सुन्दर उपदेश हैं – वर कन्या को वधू रूप में ग्रहण करते समय उसका हाथ पकड़कर कहता था –

**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदिष्टर्यथासः।**
**भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।**

**(ऋ. १०–८५–३६)**

अर्थात् कल्याणी, मैं तुम्हारे और अपने सौभाग्य के लिए तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। तुम मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक बनी रहो। भग, अर्यमा, सविता, पुरन्ध्रि आदि देवताओं ने गृहस्थ धर्म की रक्षा के लिए मुझे तुमको दिया है।

विवाह–पद्धति में इस विधि का आज भी पालन कराया जाता है। यह परम्परा भी आज तक कायम है। हिन्दू धर्म में पति–पत्नी एक दूसरे के सखा और सहधर्मी हैं। दोनों का समान स्थान है। कोई किसी से छोटा या बड़ा नहीं है। सप्तपदी के विधान द्वारा नव–दम्पत्ति के इस सख्य भाव को सुदृढ़ किया जाता है –

**इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।**
**क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।।**

**(ऋ. १०–८५–४२)**

अगले मन्त्र में पति का कथन है – 'प्रजापति हमें सन्तति दें, अर्यमा

वृद्धावस्था तक हमें साथ रखें। वधू! तमु मङ्गलमयी होकर पति–गृह में रहो। घर के मनुष्यों और पशुओं के लिए कल्याणकारी बनो –

**आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।**
**अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।**

**(ऋ. १०–८५–४३)**

वृद्धावस्था तक नारी अपने घर में प्रभुता रखती थी। पशु रक्षिणी और वीरप्रसविनी नारी का उस समय विशेष आदर था। नारी स्त्री–धन से ब्राह्मणों को दान देती थी। ऐसी नारी की प्राप्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना की जाती थी। फिर ईश्वर से प्रार्थना की गयी है –

**इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।**
**दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।**

**(ऋ. १०–८५–४५)**

अर्थात् परमात्मन् ! इस वधू को सुयोग्य पुत्रवाली तथा सौभाग्यवती बनाओ। इसके गर्भ में दस पुत्रों को स्थापित करो। इसके दस पुत्र और ग्यारहवें पति सब रहें।

किन्हीं मन्त्रों में कहा गया कि 'हे बहू तू शरीर के मल से मलिन वस्त्र का त्याग करो। प्रायश्चित्तार्थ ब्राह्मणों को धन दो। यदि पति वधू के वस्त्र से अपने शरीर को ढकना चाहे तो पति का शरीर श्रीरहित, रोगादि से दूषित हो जाता है। वधू से वा वधू के सम्बन्धियों से व्याधियाँ तेजःपुंज वर के शरीर को प्राप्त होती हैं। मलिन रहने, मलिन कपड़े पहनने, प्रतिदिन स्नान न करने से और आलस्य में रहने से भाँति–भाँति के रोग हो जाते हैं और पत्नी की मलिनता पति में पहुँच जाती है। अतः पति का कल्याण चाहने वाली स्त्री को स्वच्छ रहना उचित है। मैलेपन से होने वाले रोग से शरीर कुरूप हो जाता है।

अन्तिम मन्त्र में वधू को आशीर्वाद दिया गया है –

**सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्वां भव।**
**ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।।**

**(ऋ. १०–८५–४७)**

अर्थात् वधू तुम घर में सास, ससुर, ननद और देवर – सबके हृदय की महारानी बनो, सबको अपने प्रेम, सेवा और सद्व्यवहार से जीत लो।

इन दिव्य आदर्शों का पालन वधू करती थी। आज भी विवाह के समय ये वैदिक शिक्षाएँ दी जाती हैं।

## ब्रह्मवादिनी उशिज

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ११६ से १२५ तक के सूक्तों की ऋषिका ब्रह्मवादिनी उशिज है। १२६वें सूक्त में भी कुछ मन्त्र 'उशिज' ऋषिका के हैं। ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि की पत्नी नाम उशिज था। प्रसिद्ध महर्षि काक्षीवान् इन्हीं के सुपुत्र थे। इनके दूसरे पुत्र का नाम दीर्घश्रवा था। वे भी प्रसिद्ध ऋषि थे। प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी घोषा इन्हीं की पौत्री थी। इस प्रकार सारा परिवार ही ब्रह्मपारायण था। इनके सूक्त अश्विनीकुमारों, इन्द्र और उषा से सम्बन्धित हैं।

इनके मन्त्रों का प्रारम्भ 'अश्विनीकुमारों' के वर्णन से हैं। मन्त्रों में छोटे–छोटे आख्यानों के माध्यम से 'अश्विनीकुमारों' की शौर्यता का वर्णन है। दोनों अश्विनी देवों ने नवयुवक विमद की पत्नी को अपने सेना के साथ रथ में बिठलाकर सुरक्षापूर्वक घर पहुँचाया। दूसरा आख्यान है कि तुग्र नरेश ने अपने पुत्र भुज्यु को जलों से भरे प्रचण्ड समुद्र में शत्रु पर हमला करने के लिए छोड़ दिया। भुज्यु गया और उसका बेड़ा टूट गया। उस समय तुम दोनों अश्विनी कुमारों ने अपनी अद्भुत शक्तिशाली, आकाश में संचार करने वाली और जल को तोड़कर जल में भी जाने वाली नौकाओं से उठाकर उसको पिता के पास पहुँचाया। आगे मन्त्र है कि अगाध समुद्र के परे जहाँ रेतिला प्रदेश है, वहाँ से तीन दिन और तीन रात बराबर बीच में किसी जगह न ठहरते हुए अतिवेग से जाने वाले, सौ पहियों से युक्त, छः चालक कला यन्त्रों से युक्त पानी जैसे उड़ने वाले तीन यानों से तुम दोनों ने भुज्यु को उसके घर पहुँचाया। जहाँ ठहरने के लिए कोई स्थान नहीं। जहाँ पकड़ने के लिए कोई पदार्थ ही नहीं है, ऐसे अथाह महासागर में तुम दोनों ने सौ बल्लियों से चलायी जाने वाली नौका पर बिठाकर भुज्यु को उसके घर पहुँचाया वह सचमुच बड़ा ही वीरता का कार्य है। (ऋग्वेद, प्रथम मण्डल ११६–१ से ५)।

इन मन्त्रों में ऐसे यानों की चर्चा की गयी है जो भूमि पर, जल में, तथा आकाश में उत्तम गति से चल सके। जल, अग्नि, वायु, विद्युत आदि देवताओं की शक्ति से आकाश यान तथा अन्यान्य यान अतिशीघ्र गति से चलाने योग्य हैं। भयानक युद्ध में वीर ऐसा पराक्रम करें कि जिससे शत्रु सैनिक सहस्रों

की संख्या में मर जाएँ। आज की भाषा में कहें तो इसमें जल सेना, थल सेना और वायु सेना का परिचय इन सूक्तों से मिलता है।

अश्विनीकुमारों के दान का भी वर्णन किया है कि इन्होंने अघाश्व को श्वेत घोड़ा दिया और पेदु को चढ़ाई करने के कार्य में निपुण घोड़ा दिया। घोड़ों को विविध कार्यों में उत्तम शिक्षित करके वीरों को दान दिया जो प्रशंसा के योग्य है।

निम्नलिखित मन्त्र ऋषिका की दिव्य दृष्टि का परिचायक है –

**युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरंधिम्।**
**कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः।।**

**(ऋग्वेद,१–११६–७)**

उच्च कुल में उत्पन्न कक्षीवान् को, उनके द्वारा की तुम्हारी स्तुति समाप्त होते ही, तुम दोनों अश्विन कुमारों ने नगर के संरक्षण करने में समर्थ बुद्धि और शक्ति प्रदान की। इसी तरह बलिष्ठ खुर के समान आकार वाले विशेष बड़े बर्तन से शुद्ध जल के सौ घड़े तुम दोनों ने भरकर रखे। भाव यह है कि नगर को शत्रु के हमले से संरक्षण हेतु नागरिकों को बुद्धि तथा शक्ति प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त शुद्ध वृष्टि जल बड़े–बड़े पात्रों में भरकर रखें।

आज इस मन्त्र की सार्थकता सिद्ध हो रही है क्योंकि आज के वैज्ञानिक 'Rain Water Harvesting System' की ओर अग्रसर हो रहे हैं। कई प्रान्तों में तो इसके सफल प्रयास किए गए हैं। वे वर्षा के जल का संग्रह उसे पीने के योग्य बना रहे हैं या अन्य किसी कार्य में उसका उपयोग कर रहे हैं।

अत्रि ऋषि को असुरों ने अन्धेरे कारागार में उनके अनुयायियों के साथ बन्द करके रखा था और चारों ओर आग जला दी थी। अश्विनी देवों ने बर्फ से धधकती अग्नि को शान्त किया और अत्रि ऋषि को उनके अनुयायियों सहित कारागार से मुक्त किया। इसके अतिरिक्त उन्हें पुष्टिकारक तथा बलप्रद अन्न दिया।

गौतम ऋषि के आश्रम में पानी पहुँचाने का भी सराहनीय कार्य अश्विदेवों द्वारा ही किया गया। एक स्थान से कुएँ का जल बहुत दूर तक ले जाकर उसके तल भाग को ऊँचा करके टेढ़े मार्ग बनाये, उससे जल–प्रवाह बहा दिए और उस जल को गौतम ऋषि के आश्रम तक पहुँचाया। आश्रमवासियों को पीने के लिए जल तो मिला ही साथ ही अनेकों प्रकार की धान्यादि की सम्पदा भी प्राप्त हुई।

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि जहाँ पानी न हो वहाँ दूर से नहर आदि द्वारा

पानी लाने की व्यवस्था करनी चाहिए। उत्तम रमणीय आश्रम स्थान बनाना चाहिए। इस कार्य के लिए यदि नहर को वक्र मार्ग से लाना आवश्यक हो तो वैसे ही लाना चाहिए। जल व्यवस्था होने से आश्रमवासियों को तो पानी मिलता ही है, परन्तु साथ–साथ आश्रम के आस–पास के खेतों, वृक्षों तथा उद्यानों को भी पानी मिलता है।

वृद्ध एवं सम्बन्धियों द्वारा परित्यक्त च्यवन ऋषि को सत्यपालक तथा शत्रुनाशक अश्विनकुमारों ने कवच के समान बुढ़ापे की चमड़ी उतारकर उन्हें नवयौवन दिया तथा दीर्घायु बनाकर अनेक सुन्दर स्त्रियों का पति बताया।

वन्दन ऋषि को गहरे गड्ढे में पड़ा देखकर अश्विनीकुमारों ने गुप्त स्थान से जिस प्रकार धन को ऊपर उठाया जाता है, उसी प्रकार ऋषि को गड्ढे से निकाला। वास्तव में यह कार्य प्रशंसनीय है।

अथर्वकुल में उत्पन्न दधीची ऋषि ने घोड़े का सिर धारण करके तुम दोनों को 'मधुविद्या' पढ़ायी। इस विषय में जो तुमने कार्य किया वह सचमुच भयानक ही कार्य था। तुम दोनों के इस भीषण कार्य को, गरजने वाला मेघ जैसे वर्षा का अविष्कार करता है, वैसे ही जनसेवा हो जाए, यही मेरी इच्छा है।

अश्विकुमार बहुतों को भोजन देने वाले, कार्यशील और सत्य के पालक हैं। ये बड़ी भारी यात्रा पर गए हुए थे, उस समय बुद्धिमती स्त्री ने इनसे प्रार्थना की, वह प्रार्थना इन्होंने राजा की आज्ञा जैसी मानी और उस वन्ध्या स्त्री को उत्तम पुत्र होने योग्य गर्भधारण समर्थ बनाया और उससे उसको हिरण्यहस्त नामक पुत्र हुआ।

अश्विदेवों ने भेड़िये के मुख से चिड़िया को निकालकर बचाया और प्रार्थना करने वाले अन्धे कवि को उत्तम दृष्टि दी।

युद्ध में खेल नरेश की सम्बन्धिनी पिश्पला नाम स्त्री का पैर युद्ध में कट गया और गिर गया था, आप दोनों ने रात्रि के समय में ही उस विश्पला के लिए युद्ध शुरु होने के बाद चढ़ाई करने के लिए लोहे की टाँग तुरन्त ही बिठला दी और उसे चलने फिरने योग्य बना दिया।

ऋज्राश्व ने अपने पिता की सौ भेड़ों को भेड़िये के खाने के लिए सौंप दिया, इस अपराध के कारण उसके पिता ने उसे अन्धा बनाया। वैद्य अश्विनीदेवों ने उसे कभी न बिगड़ने वाली आँखें लगाकर उसे दृष्टिवान् कर दिया।

जन्हु की प्रजा दिन में तीन बार अन्नों का प्रदान करती है, तीनों सवनों

में हवि से यजन करती है, इसलिए तुम दोनों अश्विदेवों उस प्रजा को उत्तम क्षात्र बल, उत्तम संतति, उत्तम ऐश्वर्य और उत्तम पराक्रममय दीर्घ जीवन उनके पास जाकर देते हो।

अश्विदेव सत्य के पालक और तरुणों के समान कार्य करने वाले हैं। जहुष राजा शत्रु सेना से घेरा गया था, उस समय अश्विदेवों ने रात्रि के समय उस राजा को उस घेरे में से चुपचाप उठाया और गुप्त परन्तु सुगम मार्ग से दूर स्थान पर पहुँचाया। स्वयं अपने शत्रु के घेरे को तोड़ देने वाले रथ पर चढ़कर, शत्रु का घेरा तोड़कर वेग से पर्वतों के भी पार चले गये।

बलवान् अश्विदेवों ने वश नामक नरेश को सहस्रों प्रकार के धन प्राप्त हो, इसलिए एक ही दिन में सुरक्षित भी किया तथा पृथुश्रवा नरेश के दुष्ट शत्रुओं को भी इन्द्र की सहायता पाकर पूर्णरूप से नष्ट किया।

ऋचत्क के प्यासे पुत्र शर के पीने के लिए गहरे कूप से पानी ऊपर लाये और उसे पीने के लिए दिया। तथा थके माँदे शत्रु ऋषि के लिए वन्ध्या गाय को भी अपनी शक्तियों से तुम दोनों ने दुधारू बनाया।

सरल मार्ग से जाने वाले कृष्ण पुत्र विश्वक का विष्णाप्व नाम वाला पुत्र गुम हो गया था, उस पुत्र को तुमने अपनी शक्तियों से ढूँढकर प्राप्त किया और उसके पिता के पास पहुँचाया।

रेभ नामक ऋषि को दुष्ट असुरों ने रज्जू से बाँधकर जल में फेंक दिया था। नौ दिन और दस रात्रि व्यतीत होने पर अश्विदेवों को इसका पता लगा, तब उन्होंने तत्काल ही जल से भीगे हुए तथा व्यथा से भरे हुए ऋषि रेभ को जैसे स्रुवा से सोमरस ऊपर उठा लेते हैं, उसी प्रकार ऊपर उठा लाये।

अश्विनीकुमारों के पराक्रम का वर्णन मन्त्रों में किया है और प्रार्थना की है कि सत्यपालक रूपी अश्विदेवों, हमें उत्तम बुद्धि तथा कर्म करने की शक्ति प्रदान करो, हमें उत्तम सन्तान तथा श्रेष्ठ प्रकार का धन मिलता रहे। मनुष्य को उत्तम रीति से निभाने की शक्ति मिलती रहे। सारी क्रियाओं तथा बुद्धियों को अच्छी तरह सुरक्षित रखो –

**सदा कवी सुमतिमा चके वां विश्वा धियो अश्विना प्रावतंमे।**
**अस्मे रयिं नासत्या बृहन्तमपत्यसाचं श्रुत्यं रराथाम्।।**

**(ऋग्वेद, १०– ११७–२३)**

अश्विनकुमारों कीं स्तुति किस प्रकार की जाए क्योंकि मनुष्य हित के

लिए जितना कुछ भी हो सकता हे, वे अश्विदेव करते हैं। अत: मन्त्र है कि घोषा ऋषि का पुत्र, भृगु ऋषि और पज्र कुल में उत्पन्न अंगिरा ऋषि जिस तरह की स्तुति करते रहे, उस तरह की वर्णन शैली मेरी हो –

**प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे यया वाचा यजति पज्रियो वाम्। प्रैषयुर्न विद्वान्।**

**(ऋग्वेद, १०–१२०–५)**

अश्विदेवों के अतिरिक्त इन्द्र की स्तुति में मन्त्र हैं। देव बनने की इच्छा करने वाले मनुष्यों की स्तुति को यह कब सुनाता है, यह कुछ पता नहीं चलता। पर जब सुन लेता है, तब उनके यज्ञ में शीघ्रता से जाता है और उनके कर्मों को पूर्ण करवाता है और उन्हें सभी प्रकार के ऐश्वर्य देता है।

सूर्य रूपी इन्द्र ने द्युलोक को स्थिर किया हुआ है। किरणों को प्रकाशित करने वाले तेजस्वी इन्द्र अन्न को उत्पन्न करने के लिए जल को बरसाता है। सूर्य से उषा उत्पन्न होती है। अत: यह सूर्यपुत्री है। संसार में प्रथम पिता प्रकाशित होता है, फिर पुत्री। परन्तु यहाँ प्रथम पुत्री प्रकाशित होती है और फिर पिता। यह सूर्य चन्द्रमा की स्त्री रात्रि को किरणों की माता बनाता है। चन्द्रमा और रात्रि दोनों सहचर होने के कारण पतिपत्नी हैं। रात्रि के बाद सूर्यकिरणों प्रकाशित होती हैं। अत: रात्रि सूर्यकिरणों की माता है।

सूर्य की विशेषताओं का वर्णन किया है कि श्रेष्ठ पुरुषों को सूर्य उत्तम कर्म करने की प्रेरणा देता है। उषाओं को प्रकाशित करने वाले सूर्य के उदय होते ही लोग सूर्य की स्तुतियाँ करने लगते हैं। उदय होने के पश्चात् सूर्य अपनी किरणों को तेज करता है और समस्त प्राणिमात्र के लिए द्युलोक को प्रकाशित करता है। सज्जनों की रक्षा करता है, पर जो द्रोह करता है उनके लिए अवनति के द्वार खोल देता है।

मन्त्र में 'यज्ञ' का वर्णन है कि किस प्रकार यज्ञ करने से वर्षा होती है और वर्षा से अन्नादि की उत्पत्ति होती है और प्राणिमात्र का कल्याण होता है। जब मनुष्य उत्तम दुधारू गाय के पवित्र दूध आदि का हवन करते हैं, तब उन्हीं किरणों के द्वारा पृथ्वी का पानी आकाश में जाकर बादल बनते हैं। ये बादल द्यावापृथिवी के बीच में फैले और पानी से भरपूर रहते हैं। ये पानी बरसाकर अन्न उत्पन्न करते हैं, वनस्पतियाँ उत्पन्न करते हैं। अन्न खाकर प्राणिमात्र ऐश्वर्यवान होते हैं। वनस्पतियों को खाकर गायें हृष्टपुष्ट होती हैं, तब उनकी सन्ततियों का विस्तार होता है। उनके दुग्ध–घृतादि का उपयोग हिंसारहित यज्ञ में होता है। वर्षा

के अभाव में जो अन्नरहित, पशुरहित और प्रयत्नरहित हो गये थे, वर्षा होने पर वे पुनः अन्न और पशुप्राप्ति के लिए कर्म करने लग जाते हैं। इस प्रकार सूर्य ही जल बरसाकर उन्हें काम में नियुक्त करता है।

बुराइयों को दूर करके उत्तमता को फैलाने वाले सज्जन की रक्षा के लिए इन्द्र प्रजाओं का शोषण करने वाले दुष्टों का नाश करता है। आक्रमणकारी को मारने के लिए ऋभु के द्वारा द्युलोक से लाए गए पत्थर और लोहे से बने हुए अस्त्र का प्रयोग करता है।

कवि के पुत्र उशना ने वृत्र को मारने वाले तथा शत्रु पर आक्रमण करने वज्र को इन्द्र को दिया, उसे इन्द्र तीक्ष्ण करता है, फिर रथ में अच्छी तरह जुड़ने वाले तथा वायु के समान गतिशील घोड़ों वाले रथ में बैठकर वह मनुष्यों का हित करने वाले की रक्षा करता है। प्रकाशमान सूर्य की तरह यह इन्द्र भी मनुष्यों को हित करने वाली और रसों का हरण करने वाली किरणों से प्रकाशित होता है। इन्द्र यज्ञ न करने वालों का कट्टर शत्रु है।

इन्द्र की स्तुति की गयी है कि वज्रधारण करने वाले इन्द्र, कठिनाई से नष्ट करने योग्य इस दुर्गति एवं पाप से हमें बचा, संग्राम में हमारी रक्षा कर तथा रथ और घोड़ों में युक्त धनों को बल, यश और उत्तम सत्यपूर्ण व्यवहार के लिए प्रदान कर। हम इन्द्र के विषय में सदा अच्छे विचार रखें। हमारी उत्तमबुद्धि नष्ट न हो। उत्तम बुद्धि से युक्त होकर हम अन्न और धनों को प्राप्त करें। गायादि ऐश्वर्य प्राप्त करके हम एक साथ रहकर आनन्दित हों।

अन्य कुछ मन्त्रों में देव 'रुद्र' और 'मरुत्' की भी चर्चा है। शत्रुओं को रुलाने के कारण देव का नाम 'रुद्र' है। यह वीर मरुतों के साथ रहता हुआ असुरों का नाश करता है। 'मरुत्' वे देव हैं जो मरने तक शत्रुओं से लड़ते हैं। जिस प्रकार धनुधारी बाणों से शत्रुओं को नष्ट करता है, उसी प्रकार द्युलोक से असुरों को नष्ट करने वाले द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच में वीरों के साथ रहने वाले 'मरुतों' की स्तुति करता हूँ।

देवों की श्रद्धापूर्वक स्तुति करने से हर प्रकार का दुःख दूर होता है। अनेक प्रकार की कामना करने वाले मनुष्य को चाहिए कि अपनी इच्छाओं को प्राप्त करने के लिए देवों की शरण में जाए और उनसे प्रार्थना करे। अग्नि कर्मों का प्रेरक है। द्युलोक और पृथ्वी जल बरसाते हैं। सभी 'देव' मनुष्य की सहायता करते हैं। भयानक संग्रामों में केवल वही विजय प्राप्त कर सकता है, जो वीर हो और देवों

का भक्त हो। वही जय प्राप्तकर अनेकों ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता हैं तथा देव भी उन्हीं की सहायता करते हैं जो श्रुतरथ हों और प्रियस्थ हों अर्थात् मित्रादि देव भी उस प्रसिद्ध एवं उत्तम रथवाले शूर में शीघ्र ही पुष्टि स्थापित करते हुए जाते हैं।

मित्र और वरुण को सम्बोधित करते हुए कहा है कि जो मनुष्य इनसे द्रोह करता है, टेढे मार्ग से चलता है और यज्ञ नहीं करता, वह अपने हृदय में अनेक तरह के रोगों को धारण करता हैं परन्तु सत्य के मार्ग पर चलने वाला मनुष्य मन्त्रों द्वारा यज्ञ करता है, वह आपकी कृपा प्राप्त करता है। जो देवों की भक्ति करता है वह अश्वादियों से युक्त होकर भयंकर शत्रुओं का भी विनाशक होता है। वह याचकों की उदारतापूर्वक सहायता करता है तथा संग्राम में शत्रुओं का नाश करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। देव जिसके यहाँ रमते हैं और आनन्दित होते हैं, उसे ये देव बलवान् और ऐश्वर्यवान् बनाते हैं। इन्हीं देवों में सब तरह के तेजस्वी ऐश्वर्य रहते हैं। देव प्रत्युपकारी हैं। अतः वे हमें उत्तम रूपवान् और सभी अलंकारों से युक्त सन्तानों को दें। श्रेष्ठ देव हमारे मुख से निकलने वाली स्तुतियों को और घृतादि हवियों को स्वीकार करें।

कुछ सूक्त 'उषा' को समर्पित हैं। श्रेष्ठ उषा मानवों के सुखदायी निवास के लिए ज्ञानपूर्वक यत्न करती है। उसने अपने आपको अन्धकार से ऊपर उठाया है। सब प्राणियों के पहले यह उषा जागृत होती है। यह बहुत दान करने वाली उषा अन्न, बल तथा धन को जीत लेती है। यह बार–बार आने वाली तरुणि स्त्री उषा सबसे प्रथम स्थान में विराजमान होती है और उच्च स्थान से सबको देखती है। हविर्भाग लेने उषा प्रतिदिन आती है। कीर्ति को धारण करती है, स्तुति सुनती है और घर–घर पहुँचती है, घर–घर में प्रकाश करती है। धनों के श्रेष्ठ भाग का सेवन करती है। उषा, भग और वरुण की बहिन है। उषा सब देवों में पहले स्तुत होने वाली है। मनुष्य सदा सत्यवाणी ही बोले। अग्नि प्रदीप्त करे। हवन करें। तब उनके लिए तेजस्वी उषा अन्धकार में छिपे हुए धन प्रकट करती है। विरुद्ध रंग वाली रात्रि और उषा क्रम से संचार करती है। एक चली जाती है, तब दूसरी आती है। इन दोनों में से एक अन्धकार से सबको ढक देती है और दूसरी अपने तेज से सबको प्रकाशित करती है।

एक–एक उषा तीस योजनों की परिक्रमा करती है। किसी मन्त्र में उषा को सूर्य की पुत्री बताया है और कहीं सूर्य को उषा का पति बताया है। माता से परिशुद्ध की गई तरुणी के समान सुन्दर बनी हुई तरुणी उषा अपने शरीर के

अवयवों को बताने के लिए प्रकट करती है। अन्य उषायें तेजस्विता में इसकी बराबरी नहीं कर सकतीं। रात्रि माता है जो अपनी पुत्री उषा को सजा–धजाकर, उसके प्रिय पिता के पास भेजती है। यह उषा प्रतिदिन आकर मनुष्य की आयु कम करती है अर्थात् प्रतिदिन इसके उदय के साथ ही मनुष्य की आयु के एक–एक दिन घटते जाते हैं। उषा स्वकीय या परकीया भेद नहीं करती, सभी पर अपना प्रकाश समान रूप से डालती है। छोटे या बड़े किसी का भी त्याग नहीं करती। भ्रातृहीन स्त्री जिस प्रकार निराश्रित होने पर वापिस अपने माता–पिता के पास चली जाती है अथवा जिस प्रकार कोई विधवा धन प्राप्त करने के लिए न्यायालय जाती है। पति की इच्छा करने वाली उत्तम वस्त्र धारण करने वाली स्त्री जैसे पति के पास जाती है, यह उषा हँसती हुई स्त्री के समान अपनी सुन्दरता प्रकट करती है। छोटी बहिन अपनी बड़ी बहिन के आने पर अपनी जगह खाली कर देती है। रात्रि छोटी बहिन और उषा बड़ी बहिन है। उषा के आते ही रात्रि जगह खाली कर देती है।

यह तरुणी उषा पूर्व दिशा से प्रकाशित हो रही है। यह लाल रंग के घोड़ों के समूह को अपने रथ में जोतती है। उषा के प्रकट होते ही पक्षी अपने घोंसलों से बाहर उड़ने लगते हैं। जिनके पास अन्न हैं, वे यज्ञ करने लगते हैं। सूर्य सबेरे–सबेरे आकर लोगों को रत्न देता है। बुद्धिमान उस रत्न को पहचानकर उसकी महत्ता जानकर उसे अपने पास रख लेता है। तब उससे मनुष्य अपनी आयु और सन्तानों को बढ़ाता हुआ धन और पुष्टि से संयुक्त होता है। भाव यह है कि जो विद्वान् इसे जानते हैं वे सूर्यादय से पूर्व उठकर सूर्यप्रकाश में निहित पोषण तत्त्वों को प्राप्त करते हैं। पोषण तत्त्वों से लाभ उठाता है और समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करता है। प्रातःकाल उठने वाले देव का उत्तम आशीर्वाद प्राप्त करते हैं।

मन्त्रों में 'दान' की महिमा और 'यज्ञ' का भी वर्णन हैं यज्ञ करना एक श्रेष्ठतम कर्म है। जो यज्ञ करते हैं, उनके लिए सुख देने वाली नदियाँ बहती हैं। जो धन का दान करके सबको पूर्ण करते हैं और सबको सम्पन्न बनाकर प्रसन्न करते हैं, उनके लिए गायें घी की धाराएँ प्रदान करती हैं। ऐश्वर्य एवं सुख को प्राप्त करने का यज्ञ और दान उत्तम साधन है। जलप्रवाह दानी के लिए तेजस्वी जल देते हैं और पृथ्वी उसके लिए सदा धान्य से भरी रहती है। जो लोगों को धन का दान करते हें, अपने आश्रितों को धनधान्य से समृद्ध करते हैं, उन्हें सभी

प्रकार के ऐश्वर्य मिलते हैं। द्युलोक में भी सूर्य उन्हीं के लिए हर तरह के स्वास्थ्य प्रदान करता है। वे दीर्घकाल तक जीवित रहकर उस अमरत्व की उपासना करते हैं। धन के दान से लोग प्रसन्न होकर दानी के प्रति अपनी शुभ कामनाएँ रखते हैं, इससे दानी की आयु बढ़ती है। जो अपने धन से देवों को हवि देकर और मनुष्यों को दान देकर तृप्त करते हैं, वे कभी दुःखी और पापी नहीं होते। जो विद्वान् सदा उत्तम व्रतों का आचरण करते हैं, वे शीघ्र वृद्ध नहीं होते।

राजा ऐसा वीर और पराक्रमी हो कि कोई भी शत्रु उसकी हिंसा न कर सके। ऐसा शूर राजा अपने यश को बढ़ाने के लिए यज्ञों को करें। यज्ञों को करने से यश फैलता है। यज्ञों का विस्तार नदियों के किनारे पर किया जाए और उन यज्ञों में बुद्धिपूर्वक ज्ञान से भरे स्तोत्रों का गायन किया जाए जो तेजस्वी पुरुष लोगों के प्राणों की रक्षा करता है, देवों की प्रार्थना करता है और दान देता है, उसका यश कभी नष्ट नहीं होता।

राजा सब प्रजाओं को उत्तम नीति से चलाने वाला हो। उसकी प्रजा के पास उत्तम वर्णवाले घोड़े, उत्तम और सुन्दर स्त्रियों और सुन्दर रथ हों। उत्तम ज्ञानी के पास अनन्त गायें हों और वह घृत आदि का उपभोग करे। रथों में उत्तम घोड़े जोड़े जाएँ। घोड़े भी शत्रुओं को हराने वाले, सोने के अलंकारों से सजे हुए तथा घासादि खाकर हृष्टपुष्ट हों। ऐसे उत्तम घोड़ों को वश में रखकर उन्हें उत्तम रीति से शिक्षित किया जाए। भाष्यकारों का मत है कि आनन्द देने वाले दस साधनों का स्वामी आत्मा दशरथ है। मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार, इन चारों से दस इन्द्रियों को संयुक्त करना ही चालीस अश्व हैं। इन्हें से सहस्रों सुख प्राप्त किए जा सकते हैं। राजा की नीति प्रयत्न करने वालों को उन्नत करने वाली तथा उत्तम गुणों से युक्त हो, ऐसी नीति राष्ट्र को धारण करने में समर्थ होती है। ऐसी नीति सज्जनों का संरक्षण करती है और दुष्टों को चाबुक के समान दण्ड देने में समर्थ होती है। ऐसी नीति पर चलने से राष्ट्र की प्रजाओं को सभी तरह के भोग्य पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं।

इस प्रकार ११६ से १२० तक ऋषिका उशिज ने अश्विनीकुमारों द्वारा किए गए कार्यों का वर्णन किया है। विभिन्न मन्त्रों द्वारा ज्ञात होता है कि अनेक ऋषि–मुनियों एवं राजाओं की विपत्ति पड़ने पर एक कुशल वैद्य के रूप में, कहीं कुशल प्रशासक के रूप में, कहीं वैज्ञानिक रूप में अश्विनी कुमारों की अहं

भूमिका रही। अश्विदेवों को बार–बार सत्यपालक कहा गया है। अश्विदेवों द्वारा किए गए कार्य आजकल थलसेना, जलसेना एवं वायुसेना द्वारा किए गए कर्त्तव्यों से साम्य रखते हैं। विभिन्न यानों की चर्चा आज के समय के वायुयान, समुद्री जहाज एवं पनडुब्बी आदि ही हैं। राजाओं को उत्तम शिक्षा दी गयी है कि वे अपने नगर की शत्रुओं के हमले से रक्षा करने की बुद्धि प्राप्त करें। जल का सदुपयोग करें। समय पड़ने पर नहर आदि की व्यवस्था का भी वर्णन है। दधीची ऋषि द्वारा अश्विदेवों को जो विद्या पढ़ायी, उससे वैदिक तत्त्वज्ञान विदित होता है।

विभिन्न मन्त्रों से वैदिक राज्यशासन, वैदिक सभ्यता और संस्कृति का परिचय मिलता है। इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि वेदों से पूर्व भी कोई सभ्यता और विज्ञान था। मनुष्य के हित के लिए जितना भी कुछ हो सकता है, अश्विदेव अवश्य करते हैं। वैदिककालीन प्रजातंत्रीय शासन में अत्याचारी राजा को पदच्युत करके उसके स्थान पर उत्तम और श्रेष्ठ राजा को बिठाने का प्रजा को पूरा अधिकार था।

'यज्ञ' भी वैदिक संस्कृति का प्रमुख अङ्ग था। 'यज्ञ' करने से पर्यावरण शुद्ध होता है। अत: 'यज्ञ' और 'दान' की महिमा का गुणगान किया गया है। इन मन्त्रों की अधिष्ठात्री देवी 'उशिज' है। अत: 'उशिज' के सम्पूर्ण ज्ञान और विज्ञान का परिचय भी मिलता है। अपने समय की राज व्यवस्था के प्रति वे कितनी सजग थीं, राजा और प्रजा के अच्छे सम्बन्ध और राज्य शिक्षा व्यवस्था सबका चित्रण 'उशिज' द्वारा विभिन्न मन्त्रों के माध्यम से किया गया है।

# ब्रह्मवादिनी वाक्/वागाम्भृणी

'वाक्' भी एक देवी का नाम है। ये अभृण ऋषि की कन्या थी। ब्रह्मज्ञानिनी के रूप में प्रसिद्ध थीं और इन्होंने भगवती देवी के साथ अभिन्नता प्राप्त कर ली थी। ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२५वें वैदिक सूक्त की ऋषिका ये ही हैं। इन्हें अन्न–जल की दात्री एवं हर्ष प्रदायिनी माना गया है। ये वाग्देवी ही मित्र और वरुण को धारण करने वाली धनदात्री, ज्ञानवती, प्राणव्यापिनी, उपदेशिका तथा आकाशजननी आदि कही गयी हैं। देवी–सूक्त के जो आठ मन्त्र हैं, उनका चण्डीपाठ के साथ बड़ा माहात्म्य माना जाता है। इन मन्त्रों में स्पष्टतया अद्वैतवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित है। मन्त्र हैं –

**अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।**
**अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।। १।।**

मैं सच्चिदानन्दमयी सर्वात्मा देवी रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेव गणों के रूप में विचरती हूँ। मैं ही मित्र और वरुण दोनों को, इन्द्र और अग्नि तथा दोनों अश्विनीकुमारों को धारण करती हूँ

**अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।**
**अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते।। २।।**

मैं शत्रुहन्ता सोम को धारण करती हूँ। मैं त्वष्टा, पूषा और भग को धारण करती हूँ। मैं अन्नादि हविष्य पदार्थ वाले, उत्तम हवियों से देवों को तृप्त करने वाले और सोम रस अभिषन करने वाले यजमान को यज्ञफल रूप धन प्रदान करती हूँ।

**अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।**
**तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।। ३ ।।**

मैं जगत् की स्वामिनी हूँ, धन प्रदान करने वाली हूँ। साक्षात्कार करने योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप में जानने वाली तथा पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। मैं प्रपञ्चरूप से अनेकों भावों में स्थित हूँ। सम्पूर्ण भूत–प्राणियों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहने वाले देवता जहाँ कहीं जो कुछ भी करते हैं, सब मेरे लिए ही करते हैं।

**मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।**
**अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।। ४ ।।**

जो अन्न भोग करता है, जो देखता है, जो प्राण धारण करता है और जो इस ज्ञान का श्रवण करता है, वह मेरी सहायता से सब करता है। जो मुझे इस रूप में नहीं जानते, वे न जानने के कारण ही हीन दशा को प्राप्त होते हैं। हे बहुश्रुत, मैं तुम्हें श्रद्धा से प्राप्त होने वाले ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करती हूँ, सुनो–

**अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।**
**यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।। ५।।**

मैं स्वयं ही देवताओं और मनुष्यों द्वारा सेवित इस दुर्लभ तत्त्व का वर्णन करती हूँ। मैं जिसको चाहती हूँ उसको श्रेष्ठ बलवान् करती हूँ। उसी को सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, परोक्ष ज्ञान सम्पन्न ऋषि तथा उत्तम मेधाशक्ति से युक्त बनाती हूँ।

**अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।**
**अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश।। ६।।**

मैं ही ब्रह्मद्वेषी हिंसक असुरों का वध करके रुद्र के धनुष को चढ़ाती हूँ। मैं ही शरणागत जनों की रक्षा के लिए शत्रुओं से युद्ध करती हूँ तथा अन्तर्यामी रूप से पृथ्वी और आकाश के भीतर व्याप्त रहती हूँ।

**अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।**
**ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि।। ७।।**

मैं ही इस जगत् के शिरस्थान में स्थित द्युलोक को उत्पन्न करती हूँ। मेरा उत्पत्ति स्थान समुद्र के जल में – परमेश्वर की बुद्धि में है, उसी स्थान से सारे संसार को व्याप्त करती हूँ और इस महान् अन्तरिक्ष को अपनी उन्नत देह से स्पर्श करती हूँ। अतएव मैं समस्त भुवनों में व्याप्त रहती हूँ तथा उस स्वर्गलोग का भी अपने शरीर से स्पर्श करती हूँ।

**अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।**
**परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव।। ८ ।।**

मैं कारण रूप से जब समस्त विश्व की रचना आरम्भ करती हूँ, तब दूसरों की प्रेरणा के बिना स्वयं ही वायु के समान सर्वत्र व्यापती हूँ। स्वर्ग से भी और इस पृथ्वी से श्रेष्ठ मैं अपने महान् सामर्थ्य से प्रकट होती हूँ। मैं पृथ्वी और आकाश दोनों से परे हूँ। मैं अपनी महिमा से ऐसी हुई हूँ।

इस प्रकार इन मन्त्रों का धार्मिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है। सम्पूर्ण जगत् की अधिष्ठात्री देवी का चिन्तन है।

# शची/इन्द्राणी

इन्द्राणी देवराज इन्द्र की पत्नी है। इनका एक नाम शची भी है। ऋग्वेद के दशम मण्डल, सूक्त १४५ की ऋषिका भी ये ही है। १५९ सूक्त की ऋषिका पुलोमपुत्री शची कही गयी है। ये भगवती आद्याशक्ति की एक कला मानी गयी है। ये स्वयंवर की अधिष्ठात्री देवी है। प्राचीनकाल में जब कहीं स्वयंवर होता था, तो पहले शची का आवाहन और विधिवत् पूजन कर लिया जाता था जिससे स्वयंवर में कोई विघ्न–बाधा उपस्थित न हो।

विभिन्न पुराणों में शची के जीवन की कथा मिलती है। शची देवी का जन्म दानवकुल में हुआ था, तथापि वे अपने त्याग, तपस्या और संयम आदि सद्गुणों से देवताओं की भी वन्दनीया हो गयी। पिता का नाम पुलोमा था, उसी के नाम पर शची को पौलोमी और पुलोमजा भी कहते हैं। बाल्यकाल में शची ने भगवान् शर को प्रसन्न करने के लिए बड़ी भारी तपस्या की थी और उन्हीं के वरदान से वे देवराज की पत्नी तथा स्वर्गलोक की रानी हुई।

शची देवी पतिव्रता स्त्रियों में श्रेष्ठ मानी गयी हैं। वे भोग–विलासमय स्वर्ग की रानी होकर भी सतीत्व साधना में संलग्न रहती हैं। उनके मन पर पति के विलासी जीवन का विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपने को सती–साध्वी देवियों के पुण्यपथ पर अग्रसर करती रहती है। इन्द्र के अतिरिक्त किसी भी दूसरे पुरुष को, भले ही वह इन्द्र से भी ऊँचे पद पर क्यों न प्रतिष्ठित हो, अपने लिए कभी आदर नहीं देती थीं।

रत्न किसी अयोग्य स्थान में पड़ा हो तो भी रत्न ही है। इसके महत्त्व में कमी नहीं आती। देव साम्राज्ञी शची के जीवन में भी यह कहावत चरितार्थ होती है। देहधारी प्राणी स्वर्ग के देवता हों, या मर्त्यलोक के साधारण मनुष्य, सभी के जीवन में सुख–दुःख क्रमानुसार आते हैं। सुख का जीवन व्यक्ति को प्रमादी और अभिमानी बना देता है। दुःख मनुष्य के लिए एक चुनौती बनकर आता है। इसमें प्राणी सजग हो उठता है। अपनी भूल सुधारने और प्रायश्चित का अवसर मिलता है। दुःख में ईश्वर का स्मरण आता है और धर्म का महत्त्व समझ आता है। शची के जीवन में भी एक समय ऐसा आया, जब उन्हें सतीत्व की अग्नि

परीक्षा देनी पड़ी और शची ने अपने गौरव के अनुरूप कार्य करके धैर्य और साहसपूर्ण प्राणों से भी अधिक प्रिय सतीत्व की रक्षा की।

पुराणों में शची/इन्द्राणी के सम्बन्ध में जो कथा मिलती है, उसका सारांश इस प्रकार है कि देवराज इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र भगवद्भक्त वृत्रासुर का वध कर दिया। इस अन्याय के कारण इन्द्र की सब ओर निन्दा होने लगी। उन पर भयानक ब्रह्म हत्या का आक्रमण हुआ। उससे बचने के लिए वे मानसरोवर के जल में जाकर छिप गए। स्वर्ग को इन्द्र से शून्य देखकर तीनों लोकों में अराजकता फैल गयी। वर्षा बन्द हो गयी। नदियाँ सूख गयीं। पृथ्वी धन–वैभव से रहित हो गयी। कहने का अभिप्राय यह है कि राजा के न होने पर पर्यावरण भी प्रदूषित हो जाता है।

अत: इन सब बातों का विचारकर देवताओं ने भूतल से राजा नहुष को बुलाया और उन्हें इन्द्र के पद पर स्थापित कर दिया। किन्तु धर्मात्मा होने पर भी नहुष इन्द्रपद पाने के बाद अपने को राजमद से मुक्त न रख सके। उन्होंने शची के रूप और लावण्य आदि गुणों की चर्चा सुनी तो उनकी प्राप्ति के लिए वे चिन्तित हो उठे। शची को जब इसका पता लगा तो गुरु बृहस्पति की शरण में गयी। बृहस्पति ने उसको आश्वासन देते हुए कहा – बेटी, विश्वास रखो, मैं सनातनधर्म का त्याग करके तुम्हें नहुष के हाथ में कभी नहीं पड़ने दूँगा। जो शरण में आए हुए आर्तजनों की रक्षा नहीं करता, वह एक कल्पतक नरक में पड़ा रहता है। अत: मैं किसी भी अवस्था में तुम्हारा त्याग नहीं करुँगा।

नहुष ने सुना, इन्द्राणि बृहस्पति की शरण में गयी है। तब उसे बड़ा क्रोध हुआ और उसने देवताओं से कहा 'यदि बृहस्पति मेरे प्रतिकूल आचरण करेगा तो मैं उसे मार डालूँगा।' देवताओं ने नहुष को शान्त करने के लिए अनेक उपदेश दिए। परन्तु कामान्ध नहुष पर उपदेश का असर नहीं हुआ। तब बृहस्पति ने देवताओं के साथ परामर्श किया और फिर इन्द्राणी को साथ लेकर सब के सब नहुष के पास गए। इन्द्राणी काँपने लगी और लजाते हुए बोली – देवेश्वर, मैं आपसे वरदान प्राप्त करना चाहती हूँ। जब तक इस बात का निर्णय कर लेती हूँ कि इन्द्र जीवित हैं या नहीं, तब तक के लिए आप प्रतीक्षा करें। निर्णय करके ही आपकी सेवा में उपस्थित होऊँगी।' इन्द्राणी के इस प्रकार कहने से नहुष मान गए, तब देवताओं ने जाकर भगवान् विष्णु की स्तुति की। भगवान् ने कहा – 'इन्द्र अश्वमेध–यज्ञ के द्वारा जगदम्बा की आराधना करे तो वे पाप–मुक्त हो सकते हैं। इन्द्राणी को भी भगवती की आराधना में लग जाना चाहिए।' यह सुनकर बृहस्पति और देवता उस स्थान पर गए, जहाँ इन्द्र छिपे थे और उनसे विधिपूर्वक

अश्वमेध–यज्ञ का अनुष्ठान करवाया। तदनन्तर इन्द्र ने अपनी ब्रह्महत्या को वृक्ष, नदी, पर्वत, स्त्री और पृथ्वी को बाँट दिया। इधर इन्द्राणी ने भी बृहस्पति जी से भुवेश्वरी देवी के मन्त्र की दीक्षा लेकर उनकी आराधना आरम्भ की। वे सम्पूर्ण भोगों का परित्याग करके तपस्विनी बन गयी और भक्ति भाव से भगवती की पूजा करने लगी। अन्त में देवी ने सन्तुष्ट होकर इन्द्राणी को प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वरदान दिया – तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी। तुम इस दूती के साथ मानसरोवर पर्वत पर जाओ। वहाँ तुम्हें इन्द्र का दर्शन होगा।' देवी की आज्ञा से दूती ने शची को तुरन्त ही उसके पति के पास पहुँचा दिया। फिर शची ने नहुष की पाप वासना और अपने संकट का सारा वृत्तान्त पति को सुनाया। तब इन्द्र ने कहा – 'देवी, पतिव्रता नारी अपने धर्म से सदा सुरक्षित रहती है। वो दूसरों के बल पर अपनी सतीत्व की रक्षा करती है, वह उत्तम श्रेणी की पतिव्रता नहीं है। तुम भगवती का स्मरण करके उचित उपाय से आत्मरक्षा करो।' अन्त में शची ने अपनी सतीत्व की रक्षा करके अपने ऊपर आए हुए संकट पर विजय प्राप्त की और पति को भी पुनः स्वर्ग के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। नहुष को ऋषियों के अपमान करने के कारण एवं मर्यादा का अतिक्रमण करने के कारण सर्पयोनि में जाने का शाप मिला।

अतः पौलोमी शची के नाम से भी ऋग्वेद में भी सूक्त हैं। सपत्नियों पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए अनुष्ठानोपयोगी मन्त्र हैं –

**इमां स्वनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।**
**यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्।**

**(ऋग्वेद, १०–१४५–१)**

इस लतारूप, अपने कार्य में अत्यन्त बलवती औषधि को मैं खोदकर निकालता हूँ। जिससे सौत को दुःख दिया जाता है और जिससे स्वामी का असाधारण प्रेम प्राप्त किया जाता है।

ऊपर की ओर फैलने वाली पत्तों वाली, हे उत्तम सौभाग्य से युक्त, हे देवों द्वारा निर्मित, हे अतीव तेज वाली, तू मेरी सपत्नी को दूर कर, और केवल मेरा ही पति रहे, ऐसा कर –

**उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति।**
**सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु।।**

**(ऋग्वेद, १०–१४५–२)**

औषधि से प्रार्थना की गयी है कि हे उत्कृष्ट औषधि, मैं उत्कृष्ट होऊँ, उत्कृष्ट श्रेष्ठ में भी श्रेष्ठ होऊँ, और जो मेरी सपत्नी है, वह निकृष्ट में से भी अति निकृष्ट हो जाय –

**उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः।**
**अथा सपत्नी या ममाऽधरा साधराभ्यः।**
**(ऋग्वेद, १०–१४५–३)**

मैं इस सपत्नी का नाम भी नहीं लेती हूँ। इस सपत्नी से कोई भी रमता नहीं। मैं सपत्नी को दूर से दूर देश को भेजती हूँ –

**नह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन् रमते जने।**
**परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि।**
**(ऋग्वेद, १०–१४५–४)**

हे औषधि, मैं तेरी कृपा से सपत्नी को पराभूत करने वाली हूँ और तू भी पराजित करने वाली हो। हम दोनों बलवान्–शक्ति सम्पन्ना होकर सपत्नी को पराजित करें –

**अहमस्मि सहमाना ऽथ त्वमसि सासहिः।**
**उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नीं मे सहावहै।**
**(ऋग्वेद, १०–१४५–५)**

अन्त में ऋषिका कहती है कि हे पतिदेव, मैं तेरे सिर के पास सपत्नी को पराजित करने वाली इस औषधि को रखती हूँ। जैसे गाय बछड़े के लिए दौड़ती है और जल नीचे की ओर दौड़ता है, वैसे ही तेरा मन मेरी ओर दौड़कर आवे –

**उप तेऽधां सहमानामभि त्वाधां सहीयसा।**
**मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु।**
**(ऋग्वेद, १०–१४५–६)**

दशम मण्डल के १५९वें सूक्त की ऋषिका भी पौलोमी शची है। इन मन्त्रों में भी सपत्नियों पर विजय प्राप्त करने वाले मन्त्र हैं –

**उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।**
**अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः।**
**(ऋग्वेद, १०–१५९–१)**

यह द्युलोक में स्थित सूर्य उदित हुआ है। यह सूर्यरूप इन्द्र – मेरा सौभाग्य भी इसी प्रकार उदय को प्राप्त हो। उसको जानने वाली और अपना पति

प्राप्त करके वश में रखने वाली मैं विशेष रूप से सपत्नियों को परास्त करने में समर्थ होकर पराभूत करती हूँ।

मैं ध्वजा के समान ज्ञानवती हूँ और सिर के समान प्रमुख हूँ। मैं क्रोधी हूँ, तो भी पति को मेरे साथ मीठे वचन बोलने के लिए उद्युक्त करती हूँ। सपत्नियों पर विजय पाने वाली मेरे ही कार्य का, इच्छा का अनुमोदन करता है–

**अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी।**
**ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्।**

**(ऋग्वेद, १०–१५९–२)**

मेरे पुत्र शत्रुओं का नाश करने वाले हैं। मेरी कन्या विशेष रूप से शोभित है। मैं सबको जोतती हूँ। पति के पास मेरा ही यश–वचन श्रेष्ठ है –

**मम पुत्राः शत्रुहणो ऽथो मे दुहिता विराट्।**
**उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः।**

**(ऋग्वेद, १०–१५९–३)**

जिस हवि से मेरा पति इन्द्र समर्थ कर्मकर्ता, जगत् में प्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ हुआ है, हे देवो, वह हवि मैंने ही किया है। इससे ही मैं शत्रु–सपत्नी से रहित हो गई हूँ –

**येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।**
**इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम्।**

**(ऋग्वेद, १०–१५९–४)**

मैं शत्रु से रहित, शत्रुओं का नाश करने वाली, जयशाली और सबको पराजित करने वाली हूँ। जैसे अस्थिर शत्रुओं का तेज और धन नष्ट किया जाता है, वैसे ही मैं अन्य सपत्नियों का तेज और धन सब तरह से नष्ट करती हूँ–

**असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी।**
**आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव।**

**(ऋग्वेद, १०–१५९–५)**

पराजित करने वाली मैं इन सब पत्नियों पर विजय प्राप्त करती हूँ। जिससे मैं इस वीर इन्द्र और उसको आप्तजनों के साथ विशेष रूप से प्रभुत्व प्राप्त कर सकूँ –

**समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।**
**यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च।**

**(ऋग्वेद, १०–१५९–६)**

इस प्रकार उपर्युक्त १२ मन्त्रों से स्पष्ट है कि शची/इन्द्राणी के सभी मन्त्रों में सपत्नियों का नाश करने की प्रार्थना है। शची देवी पतिव्रता स्त्रियों में श्रेष्ठ मानी गयी हैं। वे भोग–विलासमय स्वर्ग की रानी होकर भी सतीत्व साधना में संलग्न रहती हैं। वे केवल अपने को देखती हैं और अपने को सती–साध्वी देवियों के पुण्यपथ पर अग्रसर करती रहती हैं। उनके सर्वस्व देवराज इन्द्र हैं। इन्द्र के सिवा किसी पुरुष को, भले ही वह इन्द्र से ऊँचे पद पर क्यों न प्रतिष्ठित हो, अपने लिए कभी आदर नहीं देती। **अहं केतुरह . . . . . उपाचरेत्** (ऋग्वेद, १०–१५९–२) मन्त्र से स्पष्ट है कि शची विदुषी एवं ज्ञानवती है। यद्यपि उन्होंने स्वयं कहा है कि उनका स्वभाव क्रोधी भी है परन्तु पति के प्रति मधुर वाणी का भी प्रयोग करती है। शची का उद्देश्य मात्र सपत्नियों पर विजय प्राप्त करना है। शची यज्ञ में हवि का प्रयोग करती है वह केवल अपने पति इन्द्र को सामर्थ्यवान् और सर्वोत्कृष्ट बनाने के लिए। पुराणों में शची के विषय में विस्तृत वर्णन से उनके सतीत्व धर्म पर अधिक प्रकाश पड़ता है।

## ब्रह्मवादिनी ममता

ममता दीर्घतमा ऋषि की माता थी। वे बहुत बड़ी विदुषी और ब्रह्मज्ञान सम्पन्ना थीं। इन्होंने 'अग्नि' की स्तुति की है जिसका भाव है– हे दीप्तिमान्, असंख्य चोटियों वाले और देवताओं को बुलाने वाले अग्नि, दूसरे अग्नि की सहायता से प्रकाशित होकर आप इस मानवस्तोत्र को सुनिये। श्रोतागण ममता के सदृश ही अग्नि के उद्देश्य से इस मनोहर स्तोत्र को पवित्र घृत की भाँति अर्पण करते हैं।

# अरण्यानी

ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'अरण्यानी' देवी की स्तुति की है। 'अरण्यानी' जंगल की देवी है। पर्यावरण संरक्षण में अरण्यों का महत्त्व बहुत अधिक है। मात्र ६ मन्त्र ही 'अरण्यानी' देवी के लिए हैं। प्रथम मन्त्र है –

**अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।**
**कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती।**

**(ऋग्वेद, १०–१४६–१)**

हे अरण्य देव, वन में जो तू देखते–देखते ही अन्तर्धान हो जाती है, वह तू नगर–ग्राम की कुछ विचारणा कैसे नहीं करती? निर्जन अरण्य में ही क्यों जाती है? तुझे डर नहीं लगता?

जंगलों का जो प्राकृतिक सौन्दर्य है, वह ग्राम या नगर में प्राप्त नहीं होता। भिन्न–भिन्न वृक्ष आदि जो प्रकृति की देन है, जहाँ उन्हें कोई सँवारने वाला नहीं, वह फलते–फूलते हैं।

घनघोर वन में जब चीं–चीं शब्द करने वाले प्राणी प्राप्त होते हैं, उस समय मानों वीणा के स्वरों के समान स्वरोच्चारण से मानो अरण्य देवता का यशोगान करता है –

**वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।**
**आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते।**

**(ऋग्वेद, १०–१४६–२)**

वन का वर्णन है कि वन में गौओं और अन्य पशु आदि भी चरते हैं। लता–गुल्म आदि गृह के समान दिखाई देते हैं और सायंकाल के समय वन से विपुल गाडिये चारा, लकड़ी आदि लेकर निकलती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानों अरण्यदेवता उन्हें अपने घर भेज रही हैं –

**उत गाव इवादन्त्युत वेश्यमेव दृश्यते।**
**उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति।**

**(ऋग्वेद, १०–१४६–३)**

हे अरण्य देवता! यह एक पुरुष गाय को बुला रहा है और दूसरा काष्ठ

काट रहा है। रात्री में अरण्य में रहने वाला मनुष्य नानाविध शब्द सुनकर कोई भयभीत पुकारता है, ऐसा मानता है –

**गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्।**
**वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते।।**

**(ऋग्वेद, १०–१४६–४)**

अरण्यानी किसी की हिंसा नहीं करती और न ही उस पर कोई आक्रमण करता है। अपितु मधुर फलों का आहार करके अपनी इच्छा के अनुसार सुख से रहता है –

**न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।**
**स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते।**

**(ऋग्वेद, १०–१४६–५)**

अन्तिम मन्त्र में 'अरण्यानी' की स्तुति की है कि कस्तूरी आदि उत्तम सुवास से युक्त, सुगन्धी, विपुल फलादि भक्ष्य अन्न से पूर्ण, कृषिवलों से रहित और मृगों की माता, अरण्यानी की मैं स्तुति करता हूँ –

**आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।**
**प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्।**

**(ऋग्वेद, १०–१४६–६)**

# ब्रह्मवादिनी शश्वती

ब्रह्मवादिनी रोमशा की भाँति शश्वती भी वेद की एक ऋचा की ऋषिका है। ये अङ्गिरा ऋषि की कन्या और आसंग राजा की पत्नी थीं। इनकी ऋचा में बहुत ही उत्तम तथा गूढ़ उपदेश हैं –

**अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः।**
**शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि।।**

**(ऋ. ८–१–३४)**

अर्थात् ज्ञान से युक्त स्त्री अपनी सूक्ष्म दृष्टि से सब कुछ देखकर कहती है कि इस इन्द्र का स्थूल रूप पहले दिखाई देता है, पर इस इस स्थूलरूप के पीछे अस्थि से रहित, विस्तृत तथा सर्वत्र व्याप्त रूप है। हे श्रेष्ठ इन्द्र, तू ही उत्तम कल्याणकारी भोजन धारण करता है।

अष्टम मण्डल के प्रथम सूक्त के देवता 'इन्द्र' हैं। शश्वती ऋषिका ने भी अपने मन्त्र में 'इन्द्र' की स्तुति की है। 'इन्द्र' को भगवान् रूप मानकर कहा गया है कि आँखों के सामने जो संसार है, वह प्रभु का स्थूल रूप है, पर इस संसार के पीछे जो प्रभु का सूक्ष्म रूप है, वह पञ्चतत्त्व से परे, विस्तृत और सर्वव्यापक हैं वही सूक्ष्मरूप प्रभु सारे विश्व के लिए भोजनादि प्रदान करता हैं इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है।

# ब्रह्मवादिनी अपाला

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ९१वें सूक्त की १ से ७ तक की ऋचाओं की ऋषिका ब्रह्मवादिनी अपाला है, देवता इन्द्र हैं। विश्ववारा की भाँति अपाला भी अत्रि मुनि के वंश में उत्पन्न हुई थी। ऐसी मान्यता है कि अपाला को कुष्ठ रोग हो गया था, इस कारण उनके पति ने उन्हें घर से निकाल दिया था। वे बहुत दुःखी रहती थीं। उन्होंने कुष्ठ रोग से मुक्त होने के लिए इन्द्र की आराधना की। यही कारण है कि अपाला ऋषिका के सूक्तों के देवता 'इन्द्र' हैं। उनके सारे मन्त्र इन्द्र को समर्पित हैं। प्रथम दो मन्त्रों में वर्णन आया है कि एक बार अपाला ने इन्द्र को अपने घर बुलाकर उन्हें सोमपान करवाया और इन्द्रदेव को प्रसन्न किया–

**कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत्।**
**अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवै त्वा शक्राय सुनवै त्वा।।**
**असौ य एषि वीरको गृहंगृहं विचाकशत्।**
**इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्।।**

**(ऋग्वेद, ८, ९१–१–२)**

अर्थात् नदी की ओर स्नान के लिए जाती हुई कन्या ने मार्ग में सोम को प्राप्त कर लिया। उस घर को लाती हुई बोली कि मैं तुझे इन्द्र के लिए निचोड़ूँगी। हे इन्द्र जो यह वीर तू तेजस्वी होता हुआ प्रत्येक के घर जाता हे, वह तू खीलों वाले, दही मिश्रित, पुओं से युक्त तथा प्रशंसनीय इस पीने के लिए निचोड़े गए सोम को पी।

स्त्रियाँ भी स्नान आदि से पवित्र होकर यज्ञ करें और उसमें सोम रस तैयाकर करके इन्द्र को बुलाकर उसका सत्कार करें। स्त्रियों को भी यज्ञ करने का अधिकार है, यह इन दो मन्त्रों से प्रतिपादित होता है।

इन्द्र के रूप अनेक हैं। अतः यह अनेक रूपों में प्रकट होता है। इसी अनेकता के कारण वह सर्वत्र व्यापक होते हुए भी उसे पहचानना कठिन होता है। इसीलिए उसे जानने की इच्छा करने वाले ज्ञानीजन भी उसे पहचान नहीं सकते। जैसे कि पहले स्पष्ट किया है कि पति ने ऋषिका को घर से निकाल दिया था। प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि पति के क्रोध के कारण आई हुई मैंने इन्द्र

की बहुत बार उपासना की है। वह इन्द्र हमें अनेक बार सामर्थ्य युक्त करे तथा अनेक बार धनवान् करे –

**कुविच्छकत् कुवित् करत् कुविन्नो वस्यसस्करत्।**
**कुवित् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण संगमामहै।।**

**(ऋग्वेद, ८–९१–४)**

इन्द्र से प्रार्थना है कि मेरे पिता का सिर, उसकी उर्वरा भूमि और मेरे पेट के पास का स्थान, ये तीनों स्थानों को उत्तम कर। अर्थात् मनुष्य ऐसे कर्म करे कि जिससे उसके पिता का सिर सदा गर्व से ऊँचा रहे, वे सम्पत्तिशाली बने तथा स्वास्थ्य उत्तम बने।

इन्द्र के वरदान से अपाला के पिता के सिर के उड़े हुए केश फिर आ गये। उनके खेत हरे–भरे हो गए और अपाला का कुष्ठ रोग ठीक हो गया –

**असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं मम।**
**अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि।।**

**(ऋग्वेद, ८–९१–६)**

अन्तिम मन्त्र है कि रथ, गाड़ी और रथ के जुए के छिद्र से अपाला को तीन बार पवित्र करके उसको सूर्य के समान तेजस्वी बना –

**खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शक्रक्रतो।**
**अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्।।**

**(ऋग्वेद, ८–९१–७)**

स्पष्ट है कि अपाला कन्या सामर्थ्यवती बनी और इन्द्र की कृपा से वह आरोग्यवती हुई। इन मन्त्रों से यह भी स्पष्ट हुआ है कि शक्तिशाली इन्द्र में कुष्ठ रोग ठीक करने की भी क्षमता है। सिर पर बाल भी उगा सकते हैं। वह मनुष्यों को धनवान बनाने का भी सामर्थ्य रखते हैं। इस प्रकार वैदिक इन्द्र अनेकता के कारण सर्वत्र व्यापक हैं।

## ब्रह्मवादिनी रोमशा

रोमशा बृहस्पति जी की पुत्री थी और भावभव्य की धर्मपत्नी। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२६वें सूक्त में एक मन्त्र की ऋषिका रोमशा है। कहते हैं कि इनके सारे शरीर में रोमावली थी, इससे इनके पति इन्हें नहीं चाहते थे। यह भी कहा जाता है कि जिन–जिन बातों से स्त्रियों की बुद्धि का विकास होता है, उन्हीं का प्रचार करती थीं, इसीलिए ये रोमशा नाम से प्रसिद्ध हुईं। वेद और शास्त्रों की अनेक शाखाएँ ही इनके शरीर के रोम हैं और वे इसका प्रचार करती थीं इसी से रोमशा कहलायीं। इनके द्वारा संकलित मन्त्र हैं –

**उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।**
**सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका।।**

**(ऋग्वेद, १–१२६–७)**

अर्थात् हे पति मेरे पास आकर मेरी सलाह ले, तू मेरे कामों को छोटा मत समझ। गांधार देश की भेड़ के समान मैं सब जगह रोमावाली हूँ अर्थात् मैं छोटी नहीं हूँ, प्रौढ़बुद्धिवाली हूँ।

पुरुष जहाँ तक हो वहाँ तक गृहकार्यों में अपनी पत्नी की सलाह अवश्य ले। अपनी पत्नी के विषय में पति क्षुद्र विचार न रखे।

इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में जहाँ नारी धर्म है वहाँ ऋषिका ने पति–धर्म का भी उल्लेख किया है कि पति का भी अपनी पत्नी के लिए कुछ कर्त्तव्य है।

# ब्रह्मवादिनी सती लोपामुद्रा

महर्षि अगस्त की धर्मपत्नी लोपामुद्रा अपने पातिव्रत्य, संयम, तपस्या, और त्याग के लिए संसार में विख्यात है। लोपामुद्रा का विस्तृत वर्णन पुराणों में है। लोपामुद्रा विदर्भ देश के राजा की पुत्री थी। इनके जन्म का वर्णन मिलता है कि विदर्भ राजा सन्तान के लिए तपस्या कर रहे थे। मुनि ने राजा को एक श्रेष्ठ कन्या होने का आशीर्वाद दिया। समय आने पर ऋषि के वरदान से विदर्भराज के यहाँ एक तेजस्विनी कन्या उत्पन्न हुई। ब्राह्मणों ने उस कन्या का नाम लोपामुद्रा रखा। वह मनोहर रूप धारण करने वाली राजकुमारी शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगी। रूप—सौन्दर्य में स्वर्ग की अप्सराओं को भी लज्जित करने लगी। उसमें विनय, सुशीलता, सदाचार, लज्जा और धर्मानुराग आदि सद्‌गुण स्वाभाविक रूप से विकसित हो रहे थे। पिता उसके सुन्दर स्वभाव और सद्‌व्यवहार से बहुत प्रसन्न रहते थे। कन्या को विवाहयोग्य होते देख पिता चिन्ता में पड़ गए।

महर्षि अगस्त्य मन ही मन विदर्भराज की कन्या को अपनी सहधर्मिणी बनाने का निश्चय कर चुके थे। वे स्वयं जाकर विदर्भराज से मिले और बोले— राजन् मैं पुत्र की उत्पत्ति के लिए विवाह करना चाहता हूँ। तुम लोपामुद्रा का विवाह मेरे साथ कर दो। विदर्भराज दम्पत्ति अपनी पुत्री का विवाह इनसे करना नहीं चाहते थे। माता—पिता को दुःखी देखकर राजकुमारी लोपामुद्रा ने स्वयं आकर कहा — 'महाराज ! आप मेरे लिए दुःखी न हों। मुझे अगस्त्य ऋषि को सौंपकर अपनी रक्षा करें।' पुत्री की बात सुनकर राजा ने शास्त्रविधि अनुसार अगस्त्यजी के साथ उसका विवाह कर दिया।

विवाहोपरान्त लोपामुद्रा ने महर्षि के आदेशानुसार बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उतार दिए, क्योंकि वन में इनकी रक्षा करना असम्भव है। राजकुल में जन्म लेने के कारण, राजोचित सुखभोग में पली थी और अच्छे वस्त्रों और आभूषणों से शरीर का शृङ्गार किया था, फिर भी पति की आज्ञा पाते ही उसने उस राजवैभव का, उन बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों का मोह क्षणभर में त्याग दिया। उसके स्थान पर चीर, वल्कल और मृगचर्म धारण कर लिए। राजकुमारी ने तपस्विनी की वेशभूषा धारण की और अपने पति के समान ही व्रत एवं नियमों का पालन करने लगी। तन, मन, प्राण से पति की अनुगामिनी बन गयी। महर्षि

अगस्त्य वहीं रहकर तपस्या करने लगे और लोपामुद्रा बड़े ही प्रेम, उत्साह और तत्परता से पति–सेवा करती थी। लोपामुद्रा अपने सदाचार, सतीत्व और धर्मपरायणता आदि सद्‌गुणों द्वारा पति को बहुत ही प्रिय थी। महर्षि ने स्वयं कहा था – **तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने।** वनवास के समय श्रीराम सीता और लक्ष्मण के साथ महर्षि अगस्त्य के आश्रम पर पधारे थे। वहाँ देवी लोपामुद्रा ने अपने पति के साथ इन परमाराध्य अतिथियों का स्वागत करके अपने को धन्य बनाया था।

एक समय की बात है कि देवगण महर्षि अगस्त्य के आश्रम पर पधारे, महर्षि ने उनका विधिपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् बृहस्पति ने देवताओं की ओर से महर्षि का अभिनन्दन करते हुए उनकी धर्मपत्नी लोपामुद्रा के सम्बन्ध में जो उद्‌गार प्रकट किये, वह प्रत्येक भारतीय नारी के लिए आचरणीय है। लोपामुद्रा के सम्बन्ध में 'स्कन्दपुराण' में विस्तृत वर्णन हैं पतिव्रता की चर्चा करते हुए कहा गया है –

**धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः।**
**धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता।**
**पितृवंश्या मातृवंश्याः पतिवंश्यास्त्रयस्त्रयः।**
**पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुञ्जते।।**

. . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . .

. . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . .

**यथा गङ्गावगाहेन शरीरं पावनं भवेत्।**
**तथा पतिव्रतादृष्ट्वा शुभया पावनं भवेत्।।**

**(स्कन्दपु०, काशी० पूर्वार्ध, अ०४–६०–७०)**

अर्थात् संसार में वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है तथा वह सौभाग्यशाली पति धन्य है, जिनके घर में पतिव्रता स्त्री है। केवल पतिव्रता के पुण्य से पिता, माता तथा पति तीनों कुलों के तीन–तीन पीढ़ी के मनुष्य स्वर्ग का सुख भोगते हैं। पतिव्रता का चरण पृथ्वी को जहाँ–जहाँ स्पर्श करता है, वहाँ–वहाँ की पावन भूमि यही मानती है कि मुझ पर जगत् का कुछ भी भार नहीं है। सूर्य, चन्द्रमा और वायु भी डरते डरते ही पतिव्रता का स्पर्श करते हैं, वह भी और किसी भाव से नहीं, केवल अपने आपको पवित्र करने के लिए। जल सदा ही पतिव्रता का स्पर्श चाहता है, उसे पाकर वह ऐसा मानता है कि आज मेरी जड़ता का विनाश

हो गया। आज सचमुच ही मैं दूसरों को पवित्र करने वाला बन गया। स्त्री के द्वारा ही इस लोक और परलोक पर विजय पायी जाती है। देव, पितर और अतिथियों का पूजनादि कर्म करने का अधिकारी वह पुरुष नहीं है, जिसके स्त्री न हो। वास्तव में गृहस्थ वही है जिसके घर में पतिव्रता स्त्री है। जैसे गङ्गा में स्नान करने से शरीर पवित्र होता है उसी प्रकार पतिव्रता की शुभ दृष्टि पड़ने से शरीर पवित्र हो जाता है।

बृहस्पति जी ने कहा – मुने, तुम्हारी सहधर्मिणी लोपामुद्रा बड़ी पतिव्रता है। यह कल्याणी तुम्हारे शरीर की छाया की भाँति सदा तुम्हारा अनुसरण करती है। अरुन्धती, सावित्री, अनसूया, शाण्डिली, सती, लक्ष्मी, शतरूपा, मेना आदि देवियों के द्वारा समस्त पतिव्रताओं में लोपामुद्रा का जितना ऊँचा स्थान बताया जाता है, उतना दूसरी किसी स्त्री का नहीं है। स्त्री अपने पति की आज्ञा का उल्लंघन न करे – यही उनके लिए व्रत है, यही उनका परम धर्म है और यही एक उनके लिए देवपूजा है।

इस प्रकार लोपामुद्रा की सराहना और स्तुति करके बृहस्पति जी ने लोपामुद्रा को प्रणाम किया और कहा आज तुम्हारे दर्शन से हमें गङ्गा स्नान का फल मिल गया। मुने, तुम साक्षात् ब्रह्मतेज हो और देवी लोपामुद्रा साक्षात् पातिव्रत्य तेज है।

धन्य है सती शिरोमणी देवी, जिनकी महिमा का वर्णन देवगुरु बृहस्पति ने किया है। लोपामुद्रा अपने सतीत्व के कारण सदा अमर रहेगी।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १७९ सूक्त के दो मन्त्रों की अधिष्ठात्री ऋषिका लोपामुद्रा है, देवता रति है। प्रथम मन्त्र है –

**पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।**
**मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्य नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः॥**

**(ऋग्वेद, १–१७९–१)**

अनेक वर्षों तक दिन–रात और उषाओं में काम करती हुई अब वृद्ध हो जाने के कारण मैं थक गई हूँ। वृद्धावस्था मेरे अङ्गों के सौन्दर्य को नष्ट कर रहा है और उस समय प्रजनन शक्ति भी नहीं रह जाती। इसलिए तरुण और वीर्यमान् व्यक्ति ही पत्नियों के समीप जाएँ। भाव यह है कि सन्तान प्राप्ति की इच्छा करने वाले स्त्री–पुरुषों को चाहिए कि वे तारुण्यावस्था में ही सन्तान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें।

**ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन् त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।**
**ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः।।**
**(ऋग्वेद, १–१७९–२)**

जो भी पहले सत्य बोलने वाले ऋषि थे, वे देवों के साथ सत्य बोलते थे, वे भी वीर्य सिंचन करते थे, वे भी ब्रह्मचर्य का अन्त नहीं पा सके। भाव यह है कि काम का प्रभाव इतना तीक्ष्ण है कि इसके प्रभाव से कोई भी अछूता नहीं रहा। बड़े–बड़े महर्षि भी ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ रहे। तब साधारण मनुष्य की तो बात क्या? उन समर्थ ऋषियों से उनकी पत्नी मिलीं।

पतिव्रता स्त्रियों में लोपामुद्रा का उच्च स्थान है। स्त्री अपने पति की पदानुगामिनी हो, यही उसके लिए परम धर्म है।

# ब्रह्मवादिनी विश्ववारा

ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के अट्ठाईसवें सूक्त की ऋषिका ब्रह्मवादिनी विश्ववारा है। अत्रि वंश में उत्पन्न है। अपनी तपस्या से इन्होंने ऋषिपद प्राप्त किया था। इन सूक्तों के देवता 'अग्नि' है। वेदों में पृथ्वी की प्रतिनिधि के रूप में है, वह 'अग्नि' है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम मन्त्र 'अग्नि' से ही है– **अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।** अर्थात् ''स्वयं आगे बढ़कर लोगों का हित करने वाले, यज्ञ के प्रकाशक, ऋतु के अनुसार यज्ञ करने वाले, देवों को बुलाने वाले और रत्नों को धारण करने वाले अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ।'' वेदों में वर्णित अग्नि की जैसी स्तुति की गई है, उससे हम प्रारम्भिक ऐतिहासिक युग की कुछ पहचान कर लेते हैं जब जीवन भी अग्नि को प्रकट कर सकने के ज्ञान पर निर्भर था। अग्नि बिजली की भाँति ही बादलों से आई। अन्यत्र दो काष्ठों की रगड़ से अग्नि के प्रकट होने की चर्चा है। स्पष्ट है 'अग्नि' चाहे यज्ञ कुण्डों में सुरक्षित हो अथवा अरणि मन्थन से प्रकट की गई है, प्रारम्भिक सभ्यता का आगे बढ़ा हुआ कदम है। ऋषियों ने मनुष्य के सच्चे हितैषी, मित्र और देवताओं के सन्देशवाहक दूत और मानव द्वारा समर्पित हवि को देवताओं तक पहुँचाने के माध्यम तथा जीवों में एकमात्र अमर देवता के रूप में 'अग्नि' का स्तवन किया। ऋषिका विश्ववारा के ६ मन्त्र 'अग्नि' को समर्पित हैं –

**समिद्धो अग्निर्दिबि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति।**
**एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची।।**

**(ऋग्वेद, ५–२८–१)**

अर्थात् उषाकाल में अग्नि की किरणें विस्तृत होती हैं और तब अग्नि अच्छी तरह प्रज्ज्वलित होती है और अन्तरिक्ष में उसकी ज्वालाएँ फैलती हैं। अग्नि प्रातः एवं सायं अत्यन्त सुशोभित होती है। उस समय से देवों की स्तोत्रों से स्तुति करती हुई हवि और घृत से भरी हुई स्रुवा को लेकर विश्ववारा पूर्व की ओर मुख करके अग्नि की ओर जाती है। इस मन्त्र के द्वारा स्त्रियों को भी यज्ञ करने का अधिकार वेद प्रदान करता है। देवार्चन में निमग्न वृद्ध पुरुष तथा विद्वान् अतिथियों का हविष्यान्न से स्वागत करने वाली स्त्रियाँ उस अग्नि के समान ही सुशोभित हैं।

'अग्नि' में यह गुण है कि वह प्रज्ज्वलित होकर रोग—जन्तुओं का नाश करके मनुष्य को अमरता प्रदान करता है और उसका हर प्रकार से कल्याण करता है। जिस यजमान के पास जाता है, वह समस्त पशु—धन प्राप्त करता है। जिस मनुष्य पर यह 'अग्नि' प्रसन्न होता है, वह सम्पूर्ण धन को धारण करता है और अतिथि—सत्कार योग्य पदार्थ को तेरे सम्मुख स्थापित करता है। जो स्त्री श्रद्धापूर्वक आपको प्रणाम करती है, वह ऐश्वर्य की स्वामिनी होती है। उसका अन्तःकरण पवित्र होता है। उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं।

किसी मन्त्र में 'अग्नि' से प्रार्थना है कि अग्नि, महासौभाग्य की प्राप्ति के लिए आप बलवान् बनो – प्रज्ज्वलित हो। शत्रुओं को नष्ट करो और अपने तेज से हमें तेजस्वी बना। आपके द्वारा प्राप्त धन—परोपकार उत्तम हो। हम स्त्रियों के दाम्पत्यभाव को सुदृढ़ करो। हम स्त्रियों के शत्रु, दुष्कर्म, कुचेष्टा, लोभादि पर आपका आक्रमण हो अर्थात् हमारे शत्रुओं के तेज को क्षीण करो।

हे दीप्तिमान्, मैं तुम्हारे प्रकाश की वन्दना करती हूँ। तुम यज्ञ के लिए प्रज्ज्वलित हो। हे प्रकाश राशि, भक्तवृन्द तुम्हारा आह्वान करते हैं। यज्ञ क्षेत्र में तुम सब देवताओं को प्रसन्न करो। यह अग्नि सभी के द्वारा प्रशंसित है तथा देवों को संगठित करता है।

यह अग्नि अत्यन्त तेजस्वी है और सभी इसके तेज की प्रशंसा करते हैं। यह कामनाओं का पूरक और हिंसारहित यज्ञों में प्रदीप्त होता है। अन्तिम मन्त्र में कहा है कि –

**आ जुहोता दुवस्यताऽग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्।**

**(ऋग्वेद, ५–२८–६)**

यज्ञ में हव्यवाहक अग्नि की रक्षा करो। अग्नि की सेवा करो और देवताओं को हव्य पहुँचाने के लिए अग्नि का वरण करो।

प्रस्तुत मन्त्रों में बताया गया है कि स्त्रियों को सावधानी पूर्वक अतिथि—सत्कार करना चाहिए। यज्ञ के लिए हविष्य तथा सामग्रियों को प्रस्तुत करके अपने अग्निहोत्री पति के समीप पहुँचाना चाहिए। अग्नि की स्तुति करनी चाहिए और पति के प्राजापत्य अग्नि की सावधानीपूर्वक रक्षा भी पत्नि को करनी चाहिए। इन मन्त्रों से जान पड़ता है कि विश्ववारा 'अग्नि' की उपासिका थी।

# नवम् अध्याय
# उपनिषदों में नारी

उपनिषद् हिन्दू संस्कृति की अमूल्य निधि और कहीं भी, किसी भी धर्म या भाषा में न मिलने वाली अतुलनीय अध्यात्म सम्पत्ति है। भारतीय विचारधारा का सर्वोपरि स्वरूप जिसने इसकी समग्र संस्कृति को ओतप्रोत कर रखा है और जिसने इसके सब चिन्तकों को एक विशेष प्रकार का ढाँचा प्रदान किया है, इसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। आध्यात्मिक अनुभव भारत के सम्पन्न साँस्कृतिक इतिहास की आधारभित्ति है।

भारतीय जीवन में आध्यात्मिक प्रयोजन का स्थान सदा ही सर्वोपरि रहता है। भारतीय दर्शन की रुचि मानव–समुदाय में है, किसी काल्पनिक एकान्त में नहीं। इसका उद्भव जीवन में से होता है और विभिन्न शाखाओं और सम्प्रदायों में से होकर यह पुनः जीवन में ही प्रवेश करता है। भारतीय दर्शन की महान् रचनाओं का वह आधिकारिक या प्रामाणिक स्वरूप नहीं है जो परवर्ती समीक्षाओं और टीकाओं की एक प्रमुख विशेषता है। गीता और उपनिषद् जनसाधारण के धार्मिक विश्वास की पहुँच के बाहर नहीं है। ये ग्रन्थ इस देश के महान् साहित्य के अङ्ग हैं और साथ–साथ ही बड़ी–बड़ी दार्शनिक विचारधाराओं के माध्यम भी हैं।

उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग हैं और इसीलिए इन्हें 'वेदान्त' की संज्ञा दी गई है, जिससे यह ध्वनित होता है कि वैदिक शिक्षाओं का सार इनके अन्दर है। उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है। यह चिरप्रदीप्त वह ज्ञानदीपक है जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देता चला आ रहा है और लय पर्यन्त पूर्ववत् प्रकाशित रहेगा। इसके प्रकाश में वह अमरत्व है, जिसने सनातनधर्म के मूल का सिञ्चन किया है। अपौरुषेय वेद का अन्तिम अध्याय रूप यह उपनिषद्, ज्ञान का आदिस्रोत है और विद्या का अक्षय भण्डार है। वेद–विद्या के चरम सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उपनिषद् जीव के अल्पज्ञान से अनन्त ज्ञान की ओर, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्य से अनन्त सत्ता और अनन्त शक्ति की ओर और जन्म–मृत्यु बन्धन से

अनन्त स्वातन्त्र्यमय शाश्वती शान्ति की ओर ले जाती है। 'उप' और 'नि' उपसर्गों वालें 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'उपनिषद्' शब्द बनता है। इसका तात्त्विक अर्थ ब्रह्मविद्या है। प्रायः इसी अर्थ में यह शब्द रूढ़ है। काठकोपनिषद् के उपोद्घात में श्रीशङ्कराचार्य ने लिखा है कि 'जिससे मुमुक्षुओं को संसार–बीजभूत अविद्या नष्ट होती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्मप्राप्ति कराती है और जिससे दुःखों का सर्वथा शिथिलीकरण हो जाता है, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है।' इसका मुख्य अर्थ तो ब्रह्मविद्या ही है, गौण अर्थ ब्रह्मविद्या प्रतिपादक ग्रन्थविशेष है। ब्राह्मणों के जो अंश अरण्य या विपिन में पठित और उपदिष्ट हैं, उनका नाम 'आरण्यक' है और इन ब्राह्मणों या आरण्यकों के जो भाग गहन–गम्भीर हैं और सूक्ष्म मनन–चिन्तन से परिपूर्ण हैं, उनका नाम 'उपनिषद्' है। परन्तु कुछ उपनिषद् योग–स्वरूप के विचार से परिपूर्ण हैं और कुछ में विष्णु, शिव और शक्ति की उपासनाएँ भी भरी पड़ी हैं।

उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता और व्यासकृत वेदान्तसूत्रों का नाम आचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी' रखा है। 'प्रस्थानत्रयी' ही हिन्दू–धर्म और हिन्दू–दर्शन की विशेष आधारशिला है, परन्तु गीता और ब्रह्मसूत्र का मूल स्रोत उपनिषद् हैं। इसीलिए संस्कृत–साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपनिषद् मानी जाती हैं। उपनिषद् नींव के रूप में हैं, जिनके ऊपर बहुत से भारतीय अर्वाचीन दर्शनशास्त्रों व धार्मिक सम्प्रदायों के भवन खड़े हैं। हिन्दू विचारधारा का एक भी ऐसा महत्त्वपूर्ण अंग नहीं है, जिसका मूल उपनिषदों में न मिलता हो। उपनिषदों के काव्य एवं उन्नत आदर्शवाद आज भी मानव के मस्तिष्क को प्रेरणा देने एवं उनके हृदय में शासन करने में उतने ही समर्थ हैं जितने कि प्राचीन समय में थे। वेदों के सूक्तों तथा कर्मकाण्ड सम्बन्धी वेदांगों में आर्यों की दार्शनिक विचारधारा की अपेक्षा धार्मिक विचारों एवं प्रक्रियाओं का ही अधिकतर प्रतिपादन पाया जाता है।

उपनिषद् कुछ गद्य में हैं, कुछ पद्य में और कुछ उपनिषद् गद्य–पद्यात्मक हैं। ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव सूत्र रूप से उपनिषदों में ग्रथित हैं, इसीलिए उपदेशों में कहीं–कहीं सामञ्जस्य का अभाव होना स्वाभाविक है, तो भी उपदेशों की महानता में कोई कमी नहीं आती। ग्रन्थकारों के भिन्न–भिन्न रहते हुए भी और इन काव्यमिश्रित दार्शनिक रचनाओं में कालभेद होने पर भी सबका उद्देश्य एक है, क्योंकि सबके अन्दर हमें एक आध्यात्मिक सत्य की विशद झलक समान रूप से मिलती है। उपनिषद् हमारे सम्मुख अपने समय के विचारशील

धार्मिक मस्तिष्क की अपूर्व निधि को प्रकाश में लाती है। आत्म–निरीक्षण सम्बन्धी दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में उपनिषदों की सफलता अपूर्व है। 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स' में प्रो० एस० मैकेंजी कहते हैं 'उपनिषदों में जो प्रयत्न हमारे सम्मुख रखा गया है वह विश्व के निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त का सबसे पहला प्रयत्न है और निश्चय ही बहुत रोचक और महत्त्वपूर्ण है।'

उपनिषद् ज्ञान की भण्डार हैं और इन्हीं से सारे दर्शन, सब शास्त्र, सब तर्क, अखिल युक्तियाँ, समस्त तन्त्र, सारे पुराण, सम्पूर्ण पदार्थ, विज्ञान और निखिल विद्याएँ निकलकर मानव–जाति को आनन्द और शान्ति की विमल मन्दाकिनी में बहा रही है। विश्वविख्यात जर्मन शोपेनहार ने लिखा है – 'सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जाने वाला हो। वे उच्चतम बुद्धि की उपज है। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनता का धर्म होगा। उपनिषदों का प्रत्येक वचन वह अमर और प्रतापमयी वाणी है, जिसे पढ़कर और जिसके अनुसार आचरण कर कितने ही विद्वान् सिद्ध बन गये। कितने ही पुरुष योगी हो गये, कितने ही जीवन्मुक्त और कितने ही ब्रह्मलीन हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं, जिनमें मुझे मानवीय उच्च भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची हुई मालूम पड़ती हैं।'

उपनिषद् क्रियात्मक विद्या है, काल्पनिक नहीं। मनुष्य अपने जीवन में उपनिषद्–शिक्षा को व्यावहारिक रूप में लाकर स्वयं निरञ्जन को प्राप्त कर सकता है और समाज को भी उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकता है। उपनिषदों के उपदेशानुसार मनुष्य षड्रिपुओं से दूर रहकर, शम–दम और साधन–चतुष्ट्य से सम्पन्न होकर स्वयं आत्मज्योति पा लेता है और दिव्य तेज से समाज, देश, जाति को भी उद्भासित कर देता है। उपनिषद् बताती हैं कि मनुष्य अमृत–पुत्र है, वह संयमी रहकर बड़ी सरलता से अमरता प्राप्त कर सकता है और हर एक प्रजा का ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक उन्नयन कर सकता है। कर्मफल का त्याग करके निष्काम कर्मयोगी और लोकसंग्रही बनने की शिक्षा उपनिषदों का प्रत्येक वचन देता है।

साधारणतः उपनिषदों की संख्या १०८ कही जाती है, जिनमें से लगभग १० उपनिषद् प्रधान हैं और इन्हीं पर शंकर ने भाष्य लिखा है। उपनिषदों के रचयिता ऋषिगण हमें इस प्रधान यथार्थसत्ता की प्राप्ति के लिए मार्ग–प्रदर्शन करते हैं जो नित्यसत्, परमसत्य और विशुद्ध आनन्द है। प्रत्येक मानव–हृदय की प्रार्थना है –

**असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।**

**(बृहदारण्यक उपनिषद्)**

अर्थात् मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।

उपनिषदों के दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या अध्यात्म और नीतिशास्त्र के अनुसार है। उपनिषदों के ऋषि प्राकृतिक नियम तथा शक्तियों की महत्ता के प्रति सचेत थे, उन्हें भौतिक विज्ञानों के महत्त्व का सूक्ष्म बोध था। वह साधारण जीवन की कलाओं को संगठित करना जानते थे। भारतीय मनीषा सदैव 'पूर्ण' का विचार करती है। अतेव उपनिषद्कारों ने मुक्तकण्ठ से कहा है –

**पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।**

वास्तव में पूर्णता का अहसास ही 'पर्यावरण' है। अतः पर्यावरण से अभिप्राय है 'सम्पूर्णता का विचार'। सीमित दृष्टि पूर्णता का विचार नहीं कर सकती। वैदिक ऋषियों की भाँति उपनिषद् के रचयिता ऋषियों ने भी असीमित दृष्टिकोण, त्याग और भोग के समन्वय की विभिन्न मन्त्रों में चर्चा की है, जिससे उनके अवचेतन मन में यह भावना थी कि किसी भी देश की समृद्धि के लिए सन्तुलित पर्यावरण का होना अति आवश्यक है। इसीलिए कहा है –

**ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**
**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।**

अर्थात् हे मानव, इस विशाल परिवर्तशील विश्व में जो कुछ भी है, वह सब पर परमेश्वर का नियन्त्रण है। वह सब ईश, परब्रह्म परमात्मा से ओतप्रोत है। यह जगत् उस परमपिता का अपूर्व वरदान है। इस वरदान का तू उपभोग कर किसी अन्य के भोग को भोगने का लोभ न रख।

त्याग और भोग के समन्वय का यह सुन्दर उपदेश है, आदेश है। वस्तुतः अपने सीमित ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर यह कहने का साहस अवश्य किया जा सकता है कि हमारे ऋषि–मनीषियों ने मानव–जीवन को केन्द्र मानकर जितनी भी सामाजिक व्यवस्थाओं की रचना या कल्पना की गयी है, उस समाज–व्यवस्था में त्याग और भोग का जैसा समन्वय किया गया है, वैसा सम्भवतः किसी भी अन्य जीवन और अन्य सामाजिक व्यवस्था में नहीं है। भारतीय शास्त्रानुसार **एकोऽहं बहुस्याम्** की भावना से एक ब्रह्म में से ही यह

अनेकविध सृष्टि उत्पन्न हुई है। ब्रह्म की सन्तान होने से इस सृष्टि में मानव–जीवन और सामाजिक व्यवस्था का रूप ब्रह्म के ही अनुरूप होना चाहिए। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में एक ही परब्रह्म को इस सृष्टि का कर्ता–धर्ता–हर्ता माना गया है। कर्मफल का नियन्ता होने से सारे मानवों के भाग्यों का खेल उसी के हाथ का खिलौना है। उसके श्वास–नि:श्वास के साथ सृष्टि के विधि–विधान का सारा नियन्त्रण, सञ्चालन एवं संरक्षण जुड़ा हुआ है। इस सृष्टि में इस प्रकार रमा होने पर भी ब्रह्म उससे सर्वथा अलिप्त है। वासना से सर्वथा शून्य है। कामना से वह सर्वथा ऊपर है। लोक व्यवहार से वह सर्वथा रहित है। यही तो त्याग और भोग के समन्वय की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है और इसी समन्वय की आधारशिला पर ही भारतीय जीवन की प्राचीनतम किंवा सर्वप्रथम मर्यादा अथवा व्यवस्था की रचना की गयी थी। **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:** ही मूलमन्त्र था।

वास्तव में ज्ञान की पराकाष्ठा उपनिषदों में मिलती है। गृहस्थ को अपना जीवन कैसा बनाना चाहिए, इसका दिग्दर्शन तैत्तिरीयोपनिषद् के एकादश अनुवाक में मिलता है। आचार्य अपने शिष्य को वेद का भलीभाँति अध्ययन कराकर गृहस्थ–धर्म–पालन की शिक्षा देते हैं।

**वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद:। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी:। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।' स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।**

**('तैत्तिरीयोपनिषद्' शिक्षावल्ली, एकादश अनुवाक)**

अर्थात् पुत्र तुम सदा सत्यभाषण करना, आपत्ति पड़ने पर भी झूठ का आश्रय न लेना। अपने वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्रसम्मत धर्म का अनुष्ठान करना, स्वाध्याय से अर्थात् वेदों के अभ्यास, सन्ध्यावन्दन, गायत्री जप और भगन्नाम–गुणकीर्तन आदि नित्यकर्म में कभी भी प्रमाद न करना। गुरु के लिए दक्षिणा के रूप में उनकी रुचि के अनुरूप धन लाकर प्रेमपूर्वक देना, फिर उनकी आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके स्वधर्म का पालन करते हुए सन्तान परम्परा को सुरक्षित रखना। सदा सत्यसम्भाषण करना, आपत्ति पड़ने पर भी झूठ का आश्रय न लेना। धर्म से कभी भी नहीं डिगना अर्थात् आलस्यवश कभी धर्म की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। लौकिक और शास्त्रीय जितने भी कर्तव्यरूप से शुभ कर्म हैं, उनका कभी त्याग या उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। धन–सम्पत्ति को

बढ़ाने वाले लौकिक उन्नति के साधनों के प्रति भी उदासीन नहीं होना चाहिए। इसके लिए भी वर्णाश्रमानुकूल चेष्टा करनी चाहिए। पढ़ने और पढ़ाने का जो मुख्य नियम है, उसकी कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार अग्निहोत्र और यज्ञादि के अनुष्ठान रूप देवकार्य तथा श्राद्ध—तर्पण आदि पितृकार्य के सम्पादन में आलस्य नहीं करना चाहिए।

**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकँसुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। . . . . . संविदा देयम्।**

अर्थात् पुत्र, तुम माता में देव बुद्धि रखना। पिता में देव बुद्धि रखना, आचार्य में देव बुद्धि रखना। अतिथि में देव बुद्धि रखना। जगत् में जो—जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हीं का तुमको सेवना करना चाहिए। निषिद्ध कर्मों का आचरण कभी न करना। और तो क्या हमारे लोगों के भी जो अच्छे आचरण हैं, उन्हीं का तुमको सेवन करना चाहिए औरों का नहीं। यदि किसी को दान देना है, तो श्रद्धापूर्वक देना चाहिए। मन में दानीपन के अभिमान को नहीं आने देना चाहिए। 'हम किसी का उपकार कर रहे हैं' ऐसी भावना मन में लाकर अभिमान या अविनय नहीं प्रकट करना चाहिए। अन्त में कहा है – **एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।**' अर्थात् यही शास्त्र की आज्ञा है। यही गुरु एवं माता—पिता का अपने शिष्यों और सन्तानों के प्रति उपदेश है तथा यही सम्पूर्ण वेदों का रहस्य है। अनुशासन भी यही है। ईश्वर की आज्ञा तथा परम्परागत उपदेश का नाम अनुशासन है। इसी प्रकार कर्त्तव्य एवं सदाचार का पालन करना चाहिए।

इस प्रकार भारत का साहित्य और शिल्प, विज्ञान और दर्शन, कुल—धर्म, जाति—धर्म और समाज—धर्म, राष्ट्र—नीति, अर्थ—नीति, स्वास्थ्य—नीति और व्यवहार—नीति – इन सभी का निर्माण और प्रसार उपनिषद्—ज्ञान को मानव—जीवन के परम आदर्श रूप में मानकर ही हुआ है। अध्यात्म विद्या के पवित्र ग्रन्थ उपनिषदों के मनन करने से हर एक पद से गहरा, नया और उच्च विचार उत्पन्न होता है। भारतीय संस्कृति अब तक जीवन्त है तो इसका कारण है आध्यात्मिकता और इसका त्याग।

प्रश्न उठता है कि इस सभ्यता और संस्कृति के आध्यात्मिक संसार डालने वाले कौन हैं? हम निस्संकोच कह सकते हैं कि हमारी आर्यमाताएँ, आर्य

नारियाँ हैं। यदि वेदों में हमें आध्यात्मिक जगत् में मन्त्रद्रष्टा ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है, तो उपनिषद् काल में भी गार्गी और मैत्रेयी जैसी महान् विदुषी नारियाँ हैं जिन्होंने शास्त्र–चर्चा से इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में अपनी अलग पहचान बनायी है। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक लेख में भारतीय नारी की विशेषता में कहा है कि 'पाश्चात्य देशों में भी अनेक पतिभक्ता, सुशीला और साध्वी स्त्रियाँ हो चुकी हैं, कलाकौशल और भौतिक विद्या में भी वे अग्रसर हो रही हैं, किन्तु भारतीय नारी में कुछ और ही विशेषता है।' जब याज्ञवल्क्य ऋषि संसार के जीवन से थककर, संसार से विरक्त हो, अरण्य में जाने लगे तो उन्होंने मैत्रेयी से विदा चाही। मैत्रेयी को वैभव, ऐश्वर्य, धन–दौलत देने लगे और मैत्रेयी से कहा कि तुम संसार में रहकर, श्रीमान् जैसा सम्पन्न, शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकोगी। मैत्रेयी ने कहा –

**येनाहं नामृता स्यां तेमाहं किं कुर्याम्। (बृहराण्यक उपनिषद्)**

क्या मैं इस धन–दौलत से अमर हो जाऊँगी? जिससे मुझे अमरता ही प्राप्त न हो, उस वस्तु को लेकर मैं क्या करूँगी? भोगों में शान्ति नहीं है।

स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ जी कहते हैं कि मैत्रेयी के इन शब्दों में कितना जीवन, माधुर्य और सत्य भरा हुआ है। क्या ऐसा उदाहरण अन्यत्र मिल सकता है?

उपनिषदों में 'नारी' शब्द का प्रयोग बहुत खोज से ही मिल सकता है, तथापि नारी–तत्त्व सर्वत्र ओतप्रोत है। वही नारी तत्त्व सर्वशक्तिमान् सर्वाधार श्रीसर्वेश्वर प्रभु की शक्ति है जो माया, प्रकृति, अजा, इच्छा, ह्री, धी, श्री आदि अनेक शब्दों से उपनिषदों में वर्णित हुई है। नारी को कहीं अग्नि स्वरूप भी कहा है और किसी श्रुति में उमा आदि नामों से भी सङ्केत किया है, किन्तु नारी का वास्तविक स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर की भिन्नाभिन्नात्मिका शक्ति ही है। अतएव नर रूप, सर्वाधार सर्वशक्तिमान् श्रीसर्वेश्वर एवं जगत् की उत्पत्ति–स्थिति–लयकारिणी नारीरूपा भगवती श्रीसर्वेश्वरी – इन दोनों की मनमोहिनी नित्यविहार विहारिणी सदा सर्वदा से ही अटल है। भारतीय संस्कृति के उपासक सन्त–महात्माओं के विचार हैं कि नारी नर के लिए अनुपम सहकारिणी है, क्योंकि यदि नर जीवरूप से विचरण करता है तो नारी बुद्धि बनकर सहयोग देती है। यदि नर दिन बनकर श्रम द्वारा तपता है तो नारी रात्रि बनकर उसके श्रम को हरती है। यदि नर मन बनकर संकल्प–विकल्प करता है तो नारी बनकर उसका समाधान करती है। यदि

नर इन्द्र बनकर जलवृष्टि करता है तो नारी पृथ्वी बनकर उस जल से प्राणियों का पोषण करती है। नर यदि दाता है तो नारी पालिका है। नर यदि नारायण बनकर अगाध जलराशि में भयंकर शेष–शय्या पर पौढ़ना चाहते हैं तो नारी महालक्ष्मी बन अपने अद्‌भुत वैभव द्वारा उसी के सुख–शय्या बना चरण चाँपती है। नर यदि क्रोध है तो नारी शान्ति है। नर यदि नद है तो नारी नदी है। नर यदि भर्ता है तो नारी भार्या है। नर यदि गृहपति है तो नारी गृहलक्ष्मी है। नर यदि वेत्ता है तो नारी विद्या है। नर यदि कर्ता है तो नारी क्रिया है।

जैसे नर–नारी की संज्ञा अन्योन्यापेक्ष है, वैसे ही नर–नारी के अङ्ग–उपाङ्ग आकृति–प्रकृति, कार्य–करण सब कुछ परस्परसापेक्ष हैं। नर–नारी द्वारा लोक–संचालन की प्रक्रिया उपनिषदों में बतलायी गयी है। उपनिषदों में इस सारे संसार को यज्ञशाला माना है। नर को होता माना है और नारी को अग्नि माना है। जैसे होता समस्त सामग्रियों का संचय करके अग्नि में आहुतियाँ प्रदान करते हैं और अग्नि उन आहुतियों के स्थूलांशों को भस्म करके शुद्ध दिव्यांशों को होता के उद्देश्यानुसार तत्तदेवों की सन्निधि में पहुँचा देता है, वैसे ही नारी भी नरों के पाप–पुण्यात्मक सभी प्रकार के भले–बुरे कर्मों द्वारा अर्जित किए हुए द्रव्य–रसादिकों को यथोचित स्थानों में सुरक्षित रखकर यथोचित रूप से विभक्त कर देती है। अतएव नर संचायक है और नारी विभाजक है। इन्हीं दोनों के अवलम्ब पर सारा संसार स्थित है।

# मैत्रेयी

वैज्ञानिक क्षेत्र में वैदिक मुनिपत्नियों और ब्रह्मवादिनी देवियों की ज्ञान–परम्परा और दर्जनों ऋषिकल्प मन्त्राविष्कारिणी मुनि–कन्याओं की अलौकिक प्रतिभा आज भी तत्त्वज्ञों और मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में भारतीय नारी की विचारधारा और कल्पना–सृष्टि में जीवित है। मैत्रेयी और गार्गी भी उसी भारतीय ऋषिकाओं की गौरवमयी परम्परा में अपनी ज्ञान–ज्योति के दीपक जलाए हुए आज भी जीवन्त है।

महर्षि याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं – मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, किन्तु कात्यायनी की बुद्धि साधारण स्त्रियों की सी ही थी। मैत्रेयी ज्येष्ठ पत्नी थी और कात्यायनी छोटी। याज्ञवल्क्य के सत्सङ्ग से मैत्रेयी में किस प्रकार आध्यात्मिक रुचि और बल का उदय हुआ था – बृहदारण्यक उपनिषद् की यह आख्यायिका अध्ययन करने योग्य है –

एक दिन याज्ञवल्क्य ने अपनी दोनों पत्नियों को अपने पास बुलाया और मैत्रेयी को सम्बोधित करके कहा – 'मेरा विचार अब संन्यास लेने का है, अतः इस स्थान को छोड़कर मैं अन्यत्र चला जाऊँगा, इसीलिए तुम लोगों की अनुमति लेना आवश्यक है, साथ ही यह भी चाहता हूँ कि घर में जो कुछ धन–दौलत है, उसे तुम दोनों को बराबर–बराबर बाँट दूँ, जिससे मेरे चले जाने के बाद तुम में परस्पर विवाद न हो।'

यह सुनकर कात्यायनी तो चुप रही, किन्तु मैत्रेयी ने कहा, 'भगवन्, यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथ्वी केवल मेरे अधिकार में आ जाए तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ –

**सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति** ....

याज्ञवल्क्य ने कहा – 'नहीं भोग सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जाएगा। धन में अमृतत्व की तो आशा है ही नहीं।'

मैत्रेयी ने कहा, 'जिससे में अमर नहीं हो सकती, उन भोगों को लेकर

क्या करूँगी? यदि धन से वास्तविक सुख मिलता तो आप इसे छोड़कर क्यों जाते? आप ऐसी कोई वस्तु अवश्य जानते हैं, जिसके सामने यह धन, यह गृहस्थी का सारा सुख तुच्छ प्रतीत होता है। अत: मैं उसी को जानना चाहती हूँ। केवल जिस वस्तु को श्रीमान् अमृतत्व का साधन जानते हैं, उसी का मुझे उपदेश करें –

**येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।**
**यदेव भगवान ्वेद तदेव मे ब्रूहि।।**

मैत्रेयी की यह जिज्ञासा पूर्ण बात सुनकर याज्ञवल्क्य को बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्होंने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा – 'धन्य मैत्रेयी! धन्य! तुम पहले भी मुझे बहुत प्रिय थीं और इस समय भी तुम्हारे मुख से प्रिय वचन ही निकला है। अत: आओ, मेरे समीप बैठो, मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ। तुम सुनकर मनन और निदिध्यासन करो। मैं जो कुछ कहूँ, उस पर स्वयं भी विचार करके उसे हृदय में धारण करो –

**प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति।।**

ऐसा कहकर महर्षि याज्ञवल्क्य ने उपदेश आरम्भ किया – 'मैत्रेयी तुम जानती हो स्त्री को पति और पति को स्त्री क्यों प्रिय है? इस रहस्य पर कभी विचार किया है? पति इसलिये प्रिय नहीं है कि वह पति है, बल्कि इसलिये प्रिय है कि वह अपने को सन्तोष देता है, अपने काम आता है। इसी प्रकार पति को स्त्री भी इसलिये प्रिय नहीं होती कि वह स्त्री है, अपितु इसलिए प्रिय होती है कि उससे आत्मा को सुख मिलता है। इसी प्रकार पुत्रों के प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है। इसी न्यास से ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, समस्त प्राणी अथवा संसार के सम्पूर्ण पदार्थ भी आत्मा के लिए प्रिय होने से ही प्रिय जान पड़ते हैं, अत: सबसे बढ़कर प्रियतम वस्तु क्या है, अपनी आत्मा। इसलिए –

**आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।**

मैत्रेयी! तुम्हें आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये उसी के दर्शन, श्रवण, मनन और यथार्थज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। तदनन्तर महर्षि याज्ञवल्क्य ने भिन्न–भिन्न अनेकों दृष्टान्तों और युक्तियों से ब्रह्मज्ञान का यथार्थ उपदेश दिया –

जिस प्रकार बजती हुई दुन्दभि के बाह्य शब्दों को कोई पकड़ नहीं

सकता, किन्तु दुन्दभि के आघात या दुन्दभि को पकड़ लेने से उसका शब्द भी पकड़ लिया जाता है। इसी प्रकार शङ्ख और वीणा का भी दृष्टान्त दिया है कि जैसे बजाये हुए शङ्ख और वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने से समर्थ नहीं होता, किन्तु शङ्ख और शङ्ख के बजाने से, वीणा और या वीणा के स्वर ग्रहण करने पर उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है।

जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसा आधान किये हुए अग्नि से पृथक् धुआँ निकलता है। हे मैत्रियी, इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविकरण और अर्थवाद है, वे सब इस परमात्मा के ही नि:श्वास हैं।

जिस प्रकार समस्त जलों का समुद्र एक आयन (आश्रय–स्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शों का त्वचा एक अयन है, समस्त गन्धों का दोनों नासिकाएँ एक अयन है, समस्त रसों का जिह्वा एक अयन है, समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है, समस्त शब्दों का श्रोत्र एक अयन है, समस्त संकल्पों का एक अयन है, समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है, समस्त कर्मों का हस्त एक अयन है, समस्त आनन्दों का उपस्थ एक अयन है, समस्त विसर्गों का पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त वेदों का वाणी एक अयन है।

जिस प्रकार जल में डाला हुआ नमक डला जल में घुल–मिल जाता है, उसे जल से निकालने में कोई समर्थ नहीं होता तथा जहाँ–जहाँ से भी जल लिया जाये वह नमकीन ही जान पड़ता है। हे मैत्रेयि ! इसी प्रकार यह परमात्मा तत्त्व अनन्त, अपार और विज्ञान घन ही है। यह इन भूतों से प्रकट होकर उन्हीं के साथ अदृश्य हो जाता है, देहेन्द्रिय भाव से मुक्त होने पर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयि ! ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ – ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

मैत्रेयी ने कहा – 'शरीरपात के अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती – ऐसा कहकर ही श्रीमान् ने मुझे मोह में डाल दिया है –

**स होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति।**

याज्ञवल्क्य ने कहा – 'हे मैत्रेयी मैं मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ, यह तो उस परमात्मा का विज्ञान कराने के लिये पर्याप्त है।

जहाँ द्वैत सा होता है, वहीं अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का अभिवादन करता है, अन्य अन्य का मनन करता है तथा अन्य अन्य को जानता है, किन्तु जहाँ इसके लिये

सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने? मैत्रिये, विज्ञाता को किसके द्वारा जाने?

यह है 'बृहदारण्यकोपनिषद्' का याज्ञवल्क्य–मैत्रेयी संवाद। यह पति–पत्नी संवाद एक प्राचीनतम आर्यनारी के हृदय का, उसकी विरक्ति एवं जिज्ञासा का जीता–जागता नमूना है और महर्षि याज्ञवल्क्य के सत्सङ्ग का प्रसाद है। महर्षि ने मैत्रेयी को इस उपदेश का अधिकारिणी समझा, तभी तो यह उपदेश दिया। इस दृष्टान्त से मैत्रेयी के विदूषत्व, शैक्षिक चेतना का प्रमाण मिलता है। त्याग एवं वैराग्य की शिक्षा मिलती है। जिसकी अविरल धारा का प्रवाह आज भी निरन्तर अबाध गति से बह रहा है। यही मैत्रेयी का आध्यात्मिक पर्यावरण है। यह अमर उपदेश सर्वप्रथम मैत्रेयी के त्याग, वैराग्य और से प्रकट हुआ था।

# गार्गी

वैदिक साहित्य जगत् में ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गी का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम वचक्नु था, उनकी पुत्री होने के कारण इनका नाम 'वाचक्नवी' पड़ गया। किन्तु असली नाम क्या था, इसका वर्णन नहीं मिलता। गर्ग गोत्र में उत्पन्न होने से इन्हें 'गार्गी' भी कहा जाता था, यही नाम जन—साधारण में अधिक प्रचलित था। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में गार्गी के शास्त्रार्थ का प्रसंग है, जो इनके वैदुष्य का परिचायक है —

विदेह देश में रहने वाले राजा जनक ने एक बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ के द्वारा यजन किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशों के ब्राह्मण एकत्रित हुए। राजा जनक विद्या व्यसनी और सत्सङ्गी थे। उन्हें शास्त्र के गूढ़ तत्त्वों का विवेचन और परमार्थ चर्चा अधिक प्रिय थी। इसलिए राजा जनक को यह जानने की इच्छा हुई कि इन ब्राह्मणों में सबसे बढ़कर तात्त्विक विवेचन करने वाला कौन है? इस परीक्षा के लिए उन्होंने अपनी गोशाला में एक सहस्त्र गौएँ बँधवा दीं। उनमें से प्रत्येक के सींगों में दस—दस पाद सुवर्ण बँधे हुए थे।

राजा जनक ने कहा — पूज्य ब्राह्मणगण, आपमें जो ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन गौओं को ले जाये'। किन्तु उन ब्राह्मणों में से किसी में यह साहस नहीं हुआ कि उन गौओं को ले जाए। सबको अपने ब्रह्मवेत्तापन में सन्देह हुआ। सब सोचने लगे कि 'यदि हम गौएँ ले जाने को आगे बढ़ते हैं तो ये सभी ब्राह्मण हमें अभिमानी समझेंगे और शास्त्रार्थ करने लगेंगे, उस समय हम इन सबको जीत सकेंगे या नहीं, इसका क्या निश्चय है, यह विचार करते हुए सब चुपचाप ही रहे। सबको मौन देखकर याज्ञवल्क्य ने अपने ही ब्रह्मचारी से जो सामवेद का अध्ययन करने वाला था कहा, 'हे सोम्य सामश्रवा, तू इन्हें ले जा।' ब्रह्मचारी ने वैसा ही किया।

यह देख ब्राह्मणलोग क्षुब्ध हो उठे। विदेहराज का होता अश्वल याज्ञवल्क्य से पूछ बैठा — क्यों? तुम्हीं हम सबमें बढ़कर ब्रह्मवेत्ता हो? याज्ञवल्क्य ने नम्रता से कहा — नहीं, ब्रह्मवेत्ताओं को तो हम नमस्कार करते हैं, हमें केवल गौओं की आवश्यकता है, अत: ले जाते हैं।' फिर क्या था, शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। यज्ञ का प्रत्येक सदस्य याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछने लगा।

याज्ञवल्क्य इससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने धैर्यपूर्वक सबके प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ किया। अश्वल ने चुन चुनकर कितने ही प्रश्न किए, किन्तु उचित उत्तर पा जाने के कारण चुप होकर बैठ गये। तब जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न आर्तभाग ने प्रश्न किया, उनको यथार्थ उत्तर मिल गया, अतः वे भी मौन हो गये। फिर क्रमशः लाह्यायनि, भुज्यु, चाक्रयण, उषस्त और कोषीतकेय कहोल प्रश्न करके चुप बैठ गये। इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् के तृतीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण से लेकर पञ्चम ब्राह्मण तक याज्ञवल्क्य – अश्वल संवाद, याज्ञवल्क्य–आर्तभाग संवाद, याज्ञवल्क्य–लाह्यायनि भुज्य संवाद, याज्ञवल्क्य–चाक्रायण उषस्त संवाद, याज्ञवल्क्य–कहोल संवाद की चर्चा है। षष्ठ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य–गार्गी का संवाद है – याज्ञवल्क्य से वचक्नु की पुत्री गार्गी ने पूछा – याज्ञवल्क्य ! यह जो कुछ है, सब जल में ओत–प्रोत है, किन्तु वह जल किसमें ओतप्रोत है? याज्ञवलक्य – ऐ गार्गि – वायु में।' गार्गी – वायु किसमें ओतप्रोत है? याज्ञवल्क्य – हे गार्गि ! अन्तरिक्षलोकों में। गार्गी – अन्तरिक्षलोक किसमें ओतप्रोत है? याज्ञवल्क्य – हे गार्गि, गन्धर्वलोकों में। गार्गी – गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत है? याज्ञवल्क्य – हे गार्गि, आदित्यलोकों में। गार्गी – आदित्यलोक किसमें ओतप्रोत हैं? याज्ञवल्क्य – हे गार्गि, चन्द्रलोकों में। गार्गी – चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं? याज्ञवल्क्य – हे गार्गि, नक्षत्रलोगों में। गार्गी – नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं? याज्ञवल्क्य – हे गार्गि, देवलोकों में। गार्गी – देवलोक किसमें ओतप्रोत हैं? याज्ञवल्क्य – हे गार्गि, प्रजापतिलोकों में। गार्गी – प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत हैं? याज्ञवल्क्य – हे गार्गि, ब्रह्मलोकों में। गार्गी– ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा – हे गार्गि, यह तो अति प्रश्न है। गार्गी, यह उत्तर की सीमा है, अब इसके आगे प्रश्न नहीं हो सकता। हे गार्गि, अब तू प्रश्न न कर, नहीं तो तेरा मस्तक गिर जाएगा। वाचक्नवी विदुषी थी, उसने याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को समझ लिया और चुप रही।

अष्टम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य–गार्गी संवाद की पुनः चर्चा है, तदनन्तर कई विद्वानों ने प्रश्नोत्तर किए। उसके बाद गार्गी ने कहा कि 'पूजनीय ब्राह्मणगण, अब मैं इनसे दो प्रश्न पूछूँगी। यदि ये मेरे उन प्रश्नों का उत्तर दे देंगे तो फिर आप में से कोई भी इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वाद में जीत नहीं सकेगा। ब्राह्मण – अच्छा गार्गि, पूछ।

वह बोली – 'याज्ञवल्क्य, जिस प्रकार काशी या विदेह का रहने वाला कोई वीर–वंशज पुरुष प्रत्यञ्चाहीन धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओं को अत्यन्त पीड़ा देने वाले दो फलवाले शर हाथ में लेकर खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ, तुम मुझे उनका उत्तर दो – **''स होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृवा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति।''**

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा – 'गार्गि, पूछ'।

वह बोली 'याज्ञवल्क्य, जो द्युलोक के ऊपर है, पृथ्वी से नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवी के मध्यम में है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य – इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओतप्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य ने संक्षेप में उत्तर दिया – 'आकाश में'।

गार्गी बोली – 'याज्ञवल्क्य, आपको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया, अब आप दूसरे प्रश्न के लिए तैयार हो जाइये।'

याज्ञवल्क्य ने कहा – गार्गि, पूछ।

गार्गी ने कहा – यह आकाश किसमें ओतप्रोत है।

याज्ञवल्क्य ने कहा – गार्गि, उस इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। निषेधावधिरूप से उसका वर्णन करते हैं। वह न स्थूल है, न सूक्ष्म, न छोटा न बड़ा, न लाल है, न द्रव्य है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश, न संगवान् है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न भीतर है, न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता।

गार्गि, इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा, द्युलोक और पृथिवी, निमेष, मुहूर्त्त, दिन–रात, अर्धमास (पक्ष), मास, ऋतु और संवत्सर विशेष रूप से धारण किए स्थिर रहते हैं। हे गार्गि, इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्व वाहिनी नदियाँ एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतों से बहती हैं तथा अन्य पश्चिमवाहिनी नदियाँ जिस–जिस दिशा को बहने लगती हैं, उसी का अनुसरण करती रहती हैं। हे गार्गि, इस अक्षर के ही प्रशासन में मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का और पितृगण दर्वीहोम का अनुवर्तन करते हैं। गार्गि, जो कोई इस

लोक में इस अक्षर को न जानकर हवन करता, यज्ञ करता और अनेकों सहस्र वर्ष पर्यन्त तप करता है, उसका वह कर्म अन्तवाला ही होता है। जो कोई भी इस अक्षर को जाने बिना इस लोक से मरकर जाता है, वह कृपण है और जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है। यह अक्षर स्वयं वृष्टि का विषय नहीं, किन्तु द्रष्टा है, श्रवण का विषय नहीं, किन्तु श्रोता है, मनन का विषय नहीं, किन्तु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, कोई श्रोता नहीं है, कोई मन्ता नहीं है, कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि, निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है।

अन्त में गार्गी ने कहा कि इस सभा में याज्ञवल्क्य से बढ़कर कोई ब्रह्मवेत्ता नहीं है। इनको कोई पराजित नहीं कर सकता। ब्राह्मणों आप लोग इसी को बहुत समझें कि याज्ञवल्क्य को नमस्कार करने मात्र से आपका छुटकारा हो रहा है। इन्हें पराजित करने का स्वप्न देखना व्यर्थ है।

**''स होवाच ब्राह्मण भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम।''**

गार्गी के प्रश्नों को पढ़कर उनके गम्भीर अध्ययन और वैदुष्य का पता चलता है। इतने पर भी उनके मन में अपने पक्ष को अनुचित रूप से सिद्ध करने का दुराग्रह नहीं था। गार्गी विद्वत्तापूर्ण उत्तर पाकर सन्तुष्ट हो गयी और याज्ञवल्क्य की विद्वता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। भारतवर्ष की नारियों में गार्गी रत्न थीं। आज भी उनकी जैसी विदुषी एवं तपस्विनी कुमारियों पर देश को, साहित्य को गर्व है।

# दशम अध्याय

# रामायण में नारी

मद्रास प्रान्त के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और वक्ता श्रीयुत शिवस्वामी ऐयर ने एक बार अपने एक प्रसिद्ध व्याख्यान में कहा था – हमारा राज्य छिन जाये, ऐश्वर्य धूल में मिल जाय, वैभव पद–दलित हो, सम्पत्ति हर ली जाय, हम सर्वप्रकार नि:संबल हो जाएँ, सर्वस्व गँवा दें, तो भी हम सम्पन्न होंगे, यदि रामायण और महाभारत जैसे अलौकिक रत्न सुरक्षित रह सकें।' वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो जाति की संस्कृति ही उसका जीवन सर्वस्व होती है। संस्कृति वह आधारशिला है, जिसके सहारे जाति जीवन का विशाल प्रासाद निर्मित होता है। जिस दिन यह आधारशिला स्थानच्युत होगी, उसी दिन पुष्ट से पुष्ट प्रासाद की नींव भी हिल जाएगी। भारत के सहस्त्रों वर्ष के इतिहास को देखा जाए तो यवन, शक, हूण, मुगल आदि बड़ी–बड़ी बलवान् जातियाँ आयीं और शासन किया। मुगलों ने तो अपने धर्म की विजयदुन्दभि बजायी। संस्कृति ही किसी जाति के अस्तित्व का पता देती है, यही वह चिह्न है जो उसके पूर्व गौरव, महान् आदर्श और लोकोत्तर कार्य–कलाप द्वारा उसकी पृथक् पहचान बनाती है। यही कारण है कि रामायण और महाभारत की पवित्र संस्कृति के बल से हिन्दू धर्म आज भी जीवित है।

भारत में समय–समय पर विभिन्न विचार के बड़े–बड़े प्रवाह आये, कुछ काल तक उनके प्रबल वेग के सामने वह आत्म विसर्जन करता दिखलायी पड़ा। परन्तु उसके धैर्य का बाँध स्थानच्युत कभी नहीं हुआ। वह सदा सँभला और अपनी भारतीयता की धारा में उसने सबको विलीन कर लिया। उसकी महान् संस्कृति ही उसकी इस सफलता का कारण है। कविकुल पुङ्गव वाल्मीकि की महिमामयी लेखनी इन आर्य संस्कृतियों का उल्लेख कर धन्य हुई है, उसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी की कलामयी काव्य में उनका अलौकिक चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि जी की लेखनी का यह चमत्कार है कि वह मूर्तिमन्त आर्य संस्कृति का दिग्दर्शन है। यह मूर्तिमत्ता कहीं–कहीं इतनी मनोहर

और सुन्दर है, इतनी प्राञ्जल और सरस है कि उसकी प्रशंसा के लिए शब्दों का अभाव है। रामायण को पढ़ते इतनी तन्मयता हो जाती है कि ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव होने लगता है। महर्षि वाल्मीकि ऐसे कवि थे जो न तो अगम–अगोचर का व्यापार करते हैं, न अधर में प्रासाद–निर्माण ही। वे तो मानव–चित्त में आत्मा का प्रदर्शन करते हैं और नित्य के कार्य–कलाप में ही 'सत्यं–शिवं–सुन्दरं' की कल्पना। अतेव वे जो भी कहते हैं, उसको हृदय स्वीकार कर लेता है।

रामायण में तत्कालीन भारतीय समाज का अत्यन्त विशद एवं सर्वाङ्गपूर्ण चित्र उपलब्ध है। इसमें केवल पुरुषों द्वारा ही नहीं अपितु नारी पात्रों की भी अहं भूमिका है और उन्होंने अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए राजनैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक पर्यावरण का निर्माण किया है। रामायण और महाभारत से पहले वैदिक काल में भी आदर्श के मार्ग पर चलने वाली अनेक स्त्रियाँ हैं। वे यद्यपि बहुत आगे हैं पर वे आकृतिमात्र प्रतीत होती हैं। सम्भव है उनमें कुछ ने अपने समय में सीता–सावित्री आदि से भी सुन्दर और उच्चादर्श उपस्थित किया हो, पर उनके चारों ओर लाखों बरसों के समय का इतना कुहरा छा गया है कि हम उन्हें स्पष्ट नहीं देख सकते। परन्तु रामायण और महाभारत काल हमारे सामने अभी भी इतना प्रकाशमान है कि हम कुछ देख और समझ सकते हैं। इसका श्रेय वाल्मीकि और वेद–व्यास जैसे महाकवियों को है, जिन्होंने अपने ग्रन्थों का विद्युत्प्रकाश फैलाकर उस युग को हमारे समक्ष ऐसा रख दिया, जैसे आज की बात हो। सीता, सावित्री, कौशल्या, गान्धारी, शैव्या, पार्वती आदि स्त्रियाँ इस काल में हुईं। सभी उच्चादर्श तक पहुँची हुई हैं और उनका मार्ग भी करीब एक जैसा ही है। पर महर्षि वाल्मीकि ने सीता की गाथा इतने विस्तार से लिखी है कि वे हमें बहुत प्रिय और निकट प्रतीत होती हैं।

आधुनिक युग में गोस्वामी तुलसीदास जी अपने 'रामचरितमानस' की रचना कर उन्हें हमारे हृदय में बैठा दिया है। अतएव जब हम आदर्श स्त्री की चर्चा करते हैं, हमारा ध्यान सबसे पहले उनकी ओर जाता है। रामायण महाकाव्य की जगज्जननी सीता नायिका है। वाल्मीकि के कथनानुसार रामायण महाकाव्य एक नारी का – उस युग की आदर्शभूत महानारी सीता का ही चरित्र–चित्रण है। अन्य नारियों के चरित्र पर आनुषङ्गिक रूप से प्रकाश डाला है। महारानी कौशल्या, महारानी सुमित्रा, महारानी कैकेयी, अनसूया, शबरी, मन्दोददरी आदि ऐसी नारियाँ हैं जिन्होंने आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक उन्नति के लिए अपने

त्याग एवं तपस्या के द्वारा अपने चरित्र को ऊँचाइयों पर पहुँचाया है, जिन पर आज भी भारत की अस्मिता को गर्व है।

रामराज्य की नारी संस्कृति का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए रामायण प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती है। किसी भी संस्कृति की उच्चता की कसौटी नारी के प्रति तत्कालीन समाज का व्यवहार है। रामायणकालीन संस्कृति आर्यसंस्कृति का आदर्श मानी जाती है। अतएव इस तथ्य के मूल्यांकन के लिए हमें रामराज्य की स्थिति का परीक्षण करना चाहिए।

प्राचीन भारत में संयुक्त परिवार की प्रणाली थी, जिसका मुखिया पिता होता था। पिता की आज्ञा शिरोधार्य की जाती थी। परिवार में ज्येष्ठ पुत्र का अधिकारपूर्ण स्थान था। वही पिता का उत्तराधिकारी था। प्राचीन आर्य–संस्कृति की उत्कृष्टता का रहस्य उसके पारिवारिक जीवन की श्रेष्ठता है। इसका समुज्ज्वल उदाहरण रामायण में चित्रित है। पिता–पुत्र, भाई–भाई में, पति–पत्नी में, देवर–भाभी में, सास–बहु में बड़े स्नेहसिक्त और अनुकरणीय सम्बन्ध होते थे। कुटुम्ब के अनुशासन में तरुणवर्ग स्वार्थत्याग, निश्छल प्रेम और सेवा भावना जैसे आदर्श गुणों को हृदयङ्गम करता था।

पारिवारिक स्थिरता, लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण की दृष्टि से विवाह प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक और वाञ्छनीय माना जा चुका था। कन्या के लिए तो वह अनिवार्य था, पाणिग्रहण उसका द्वितीय जन्म था। कन्या का विवाह उसकी 'पतिसंयोगसुलभ' अवस्था में और पुत्र का विवाह उसके 'समुपस्थित यौवन' हो जाने पर हुआ करता था। विवाह के पूर्व वर–वधू का परिचय नहीं रहता था। सीता, शान्ता और मन्दोदरी ने विवाह से पूर्व अपने पतियों के दर्शन नहीं किए थे, फिर भी वे पति–परायणा निकलीं।

रामायण काल में हमें स्वयंवर प्रथा मिलती है, परन्तु कन्याएँ पति–वरण में स्वतन्त्र नहीं थीं। जब वायु ने कुशनाभ की कन्याओं से विवाह का प्रस्ताव किया तब उन्होंने कहा कि हमारे पति वहीं होंगे, जिन्हें हमारे पिता अर्पित करेंगे। पुत्रों को भी विवाह पिता के अनुसार करना पड़ता था। धनुर्भङ्ग के पश्चात् सीता का स्वयं पाणिग्रहण करने का अधिकार होने पर भी श्रीराम ने पिता दशरथ की आज्ञा न पाने तक सीता को स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। सन्तान के विवाह में पैतृक सत्ता का इतना अधिकार होते हुए भी केवल इसी कारण विवाहों के दुःखमय होने के उदाहरण नहीं मिलते। सीता और मन्दोदरी के पतियों का चुनाव उनके पिताओं

ने किया है। फिर भी उन्हें पतिप्रेम पर्याप्त मात्रा में मिला। सीता श्रीराम की प्रिया इसीलिये थी कि वे उन्हें पिता दशरथ की अनुमति से प्राप्त हुईं थीं –

**प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति।** (१.७७.२६)

कन्याधन के रूप में पुत्री को बहुत सा उपहार देने की प्रथा थी। शास्त्रोक्त विधि से सम्पन्न विवाह अविच्छेद्य था। इस लोक में पिता आदि के द्वारा जो कन्या जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार जल से संकल्प करके दी जाती है, वह मरने के बाद परलोक में भी उसी की स्त्री होती है। स्वामी का त्याग, चाहे वह कैसा भी हो, स्त्री का महान् अधर्म है। पर दुष्टा स्त्रियों के परित्याग के उदाहरण मिलते हैं। राजाओं और धनी वर्गों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी, पर श्रीराम ने एकपत्नीव्रत के अनुकरणीय आदर्श स्थापना की।

प्रेम का आदर्श उत्कृष्ट होते हुए भी व्यावहारिक था। रामायण में पारस्परिक अनुराग को ही महत्त्व दिया गया है। अतिप्रणय और अप्रणय दोनों ही अनुचित है। अपनी पत्नी के प्रति अन्धानुराग का रामायण समर्थन नहीं करती। वाल्मीकि ने अविवाहित और असंयम प्रेम को बारंबार निन्दित और दण्डित किया है। रामायण ने 'स्वदारनिरत' होने का ही आग्रह किया है। अजितेन्द्रिय व्यक्ति का नाश अवश्यम्भावी है। विवाह की परिणति–पत्नीत्व सफलता–प्रणय एवं सन्तान प्राप्ति में ही निहित है।

यदि कन्याओं की स्थिति को देखा जाए तो कन्या के विवाह की चिन्ता उसके भावी जीवन को सुखमय बनाने की उत्कट लालसा के कारण कन्या के माता–पिता चिन्तित रहते थे। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि कन्याओं से घृणा की जाती थी। कन्याओं के लालन–पालन में कहीं कोई कमी नहीं थी, बड़े प्रेमपूर्वक उनका पोषण होता था। परिवार में कहीं कोई अपेक्षा नहीं थी। अविवाहित कन्याओं को माङ्गलिक और उनकी उपस्थिति को शुभ शकुन माना जाता था। रामायण के प्रमुख स्त्री–पात्रों से उनकी शैक्षिक चेतना का भी पता चलता हैं विवाह से पूर्व उन्हें घरों में समुचित शिक्षा दी जाती थी। क्षत्रिय कुमारियाँ राजधर्म, पौराणिक साहित्य, ललित कला तथा विभिन्न भाषाओं से सुपरिचित थीं।

विवाह के पश्चात् कन्या वधू रूप में पतिगृह में प्रवेश करती थी। जहाँ उसे पति का प्रगाढ़ प्रेम और सास–ससुर का हार्दिक स्नेह प्रचुर मात्रा में मिलता था। पातिव्रत्य–धर्म का आदर्श अत्युच्च था। स्त्री के लिए पति ही देवता है। अप्रतिम सौन्दर्य और एकनिष्ठ पातिव्रत्य ही रामायण के अनुसार आदर्श पत्नी

का मापदण्ड है। नारी पुरुष की 'सहधर्मचारिणी' थी, 'समानसुखदु:खिनी' थी। शास्त्रोक्त यज्ञ–यागादि कर्मों में पति और पत्नी दोनों का संयुक्त अधिकार होता था। पत्नी के बिना यज्ञ अधूरा माना जाता था, जिसका उदाहरण 'श्रीराम' के यज्ञ में देखा गया। वैदिक श्रुतियाँ पत्नी को पति की अभिन्न आत्मा बतलाती हैं। पति पर स्त्री के मुख्य मुख्यत: तीन अधिकार थे – भरण–पोषण का अधिकार, स्त्रीधन का अधिकार तथा वैवाहिक एकनिष्ठा का अधिकार। पुरुष के पारिवारिक एवं बाह्य कार्यो में उसकी सुयोग्य पत्नी सब प्रकार से सहयोग देती थी। सीता, कैकेयी और तारा जैसी तेजस्वी नारियों ने अपने समय की राजनीतिक घटनाओं को बहुत प्रभावित किया।

नारी की पत्नीत्व की सफलता उसके मातृत्व में थी। गर्भकाल में आचार–विचार की पवित्रता मनोऽनुकूल सन्तान प्राप्ति के लिए आवश्यक थी। गर्भ की रक्षा के लिए मन्त्रानुष्ठान किए जाते थे। भ्रूणहत्या महापातक थी। यद्यपि वैधव्य स्त्री के लिए घोरतम विपत्ति थी, तथापि विधवाएँ अनादर का पात्र नहीं थी। दशरथ की विधवा नारियाँ सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं।

स्त्रियों को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। उत्सवों में, राज्याभिषेक में, यज्ञों में, सामूहिक भोजों में, श्राद्धकर्म में, अन्त्येष्टि क्रिया में स्त्रियाँ सम्मिलित होती थीं। अपने पति की वे 'क्रीड़ासहाय' थीं। विविध वस्त्राभूषों से सुसज्जित हो वे अपने अपने पतियों के साथ देश–विदेश भ्रमण करती थीं। न्यायालयों में पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी प्रवेश कर शिकायत कर सकती थीं। ऐसा वर्णन आता है कि श्रीराम के अनुसार स्त्रियों के लिए न घर, न वस्त्र, न दीवारें और न राजसत्कार ही वैसी आड़ करने वाला है, जैसा कि उनका अपना सदाचरण। स्त्रियों के प्रति उच्च शिष्टाचार का पालन किया जाता था। उन्हें सभी प्राणियों के हाथों अवध्य माना गया था। वाहनों पर चढ़ते समय स्त्रियों को पहले स्थान दिया जाता था। रथों में महिलाएँ आगे की ओर बैठायी जाती थीं। परायी स्त्रियों की ओर देखना असभ्यता थी। महात्मा लोग स्त्रियों के प्रति कोई दारुण कार्य नहीं करते थे।

जीवन का समुचित आनन्द उठाने के लिए मनोरञ्जन के अनेक सुसाधन प्रस्तुत थे। यही कारण है कि आध्यात्मिक और भौतिक दोनों क्षेत्रों में आर्यो ने समानरूप से उन्नति की थी। कोसल प्रदेश को **'प्रहृष्टनरनारीक: समाजोत्सवशोभित:'** (२.१००.४४) कहा गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नारियां को भी स्वस्थ वातावरण मिला जिसका उनके साँस्कृतिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति में प्रभाव पड़ा।

यदि शिष्टाचार की दृष्टि से देखा जाए तो रामायण–काल सभ्यता, शिष्टता, मधुर–संवाद, विनम्र–व्यवहार और आदर्श शिष्टाचार का युग था। रामायणकालीन शिष्टाचार भारतीय शिष्टाचार का सदा से आदर्शभूत रहा है। पञ्च महायज्ञों में अतिथि–सत्कार का विशिष्ट स्थान था। क्या तपस्वी और क्या राजा, आथित्य में अपनी शक्ति के अनुसार सारे साधन जुटा देते थे। ऋषियों की अनुपस्थिति में आतिथ्यभार उनकी पत्नियों पर आ पड़ता था। जहाँ राजा मुनियों से उनकी तपस्या, अग्निहोत्र, शिष्यगण, आश्रमस्थ पशु–पक्षी तथा वृक्ष–पुष्पों के विषय में कुशल–क्षेम पूछते, वहाँ मुनिगण राजाओं से उनके राष्ट्र, कोश, सुहृत्, बन्धु–बान्धव, मन्त्रिगण शत्रुओं के दमन के बारे में जिज्ञासा करते थे। यहाँ द्रष्टव्य है कि सम्पूर्ण प्राणि चाहे वे नर हों या पशु–पक्षी अथवा जड़गत वृक्ष, सभी राजा के समान थे, उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व राजा का कर्त्तव्य था। उपकारों के लिए कृतज्ञता प्रकट करने की तथा अपराधों के लिए क्षमा–याचना करने की प्रथा प्रचलित थी।

लोकाचार या लौकिक समय का पालन वाञ्छनीय था। लोकापवाद से सभी डरते थे। संशय की दशा में पूर्वजों या श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग का अनुसरण ही श्रेयस्कर माना जाता था। साहसपूर्ण या आश्चर्यकारी कृत्यों के सम्पादन पर साधुवाद दिया जाता था। विशिष्ट व्यक्तियों के पास उपहार लेकर जाने की रीति थी। मित्रता अग्नि को साक्षी देकर की जाती थी। अपने वचनों की प्रामाणिकता घोषित करने के लिए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु की शपथ ली जाती थी। रथ या वाहन पर चढ़ते समय उसकी पूजा प्रदक्षिणा की जाती थी। किसी उक्ति या मन्त्र का महत्त्व बढ़ाने के लिए तीन बार पुनरुक्ति की जाती थी। प्रजा पर पड़ने वाली विपत्ति का कारण राजा का ही कोई दुष्कर्म माना जाता था।

यदि शिक्षा की दृष्टि से देखा जाए तो रामायणकाल में शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा था। अयोध्या में कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख अथवा नास्तिक पुरुष देखने को नहीं मिलता था। शिक्षा को राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था। वाल्मीकि के अनुसार जन्मान्तर्गत संस्कार ही मनुष्य को अच्छा या बुरा बनाते हैं, चाहे फिर उसे शिक्षा कितनी ही क्यों न दी जाए। रावण की माता ने विश्रवा मुनि से बड़े कुसमय में गर्भाधान के लिए प्रार्थना की, जिसके परिणामस्वरूप रावण और कुम्भकर्ण बड़े दुराचारी निकले। उनके ब्राह्मणत्व, वेदाभ्यास और कठोर तप भी उनके वास्तविक जन्मगत कुसंस्कारों को बदलने में असमर्थ रहे। मुनियों के आश्रम

ही तत्कालीन पाठशालएँ थीं। गुरु की सन्निधि में रहकर शिष्य वैदिक ज्ञान, शिष्टाचार, सदाचार आदि को हृदयङ्गम करता था। गुरु की शुश्रूषा उसका परम धर्म था। प्रतिपदा अनाध्याय का दिन था। अयोध्या नगरी शिक्षा का महान् केन्द्र था। वहाँ उपाध्याय सुधन्वा का सैनिक शिक्षालय था, जहाँ राजकुमार शास्त्राभ्यास करते थे। यज्ञ–समारम्भों से शिक्षा प्रसार में बड़ी सहायता मिलती थी। शिक्षण व्यवस्था के मुख्यत: चार भाग थे – शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक और नैतिक। शारीरिक शिक्षा में धनुर्विद्या, मृगया, अश्चर्या, रथचर्या, बाहुयुद्ध, गदायुद्ध तथा मल्लयुद्ध का समावेश था। मानसिक शिक्षा के अन्तर्गत वेद, वेदाङ्ग, काव्य, साहित्य, इतिहास–पुराण, ललित कलाएँ, अर्थशास्त्र, राजनीति जैसे विषय थे। व्यावहारिक शिक्षा में व्यापार, कला–कौशल, आयुर्वेद तथा अनेक प्रकार के उद्योग–धन्धों का समावेश था। नैतिक शिक्षा द्वारा बालक को सदाचारी नागरिक बनाया जाता। अध्ययन–अध्यापन की प्रणालियों में मौखिक प्रवचन, कण्ठाग्र अभ्यास, कथा–वार्ता, पाठ, स्वाध्याय तथा सामूहिक तर्क–वितर्क आदि प्रचलित थे। लिखने की कला भली–भाँति ज्ञात थी।

इस दृष्टि से देखा जाए तो नारी शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। जगज्जननी सीता, कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, बालि पत्नी तारा, मन्दोदरी, भक्तिमती शबरी, त्रिजटा आदि नारियाँ प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। आश्रमों में महिलाओं की उपस्थिति और शिक्षा की भी सूचना मिलती है। शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक और नैतिक शिक्षा की जो चर्चा की है, वे सभी प्रकार की शिक्षाओं का दिग्दर्शन नारी–शिक्षा में मिलता है। राजा जनक की सभा, ब्रह्मवादी ऋषियों की भीड़, ब्रह्मसम्बन्धी चर्चा, याज्ञवल्क्य की परीक्षा और परीक्षक गार्गी। यह हमारी आर्य नारी के ब्रह्मज्ञान की विजयवैजयन्ती नहीं तो और क्या है? वाल्मीकि रामायण के अनुसार सीता जी वैदिक प्रार्थना करती थीं। माता कौशल्या के विषय में भी ऐसा आया है कि वे मन्त्रपाठपूर्वक अग्निहोत्र करती थीं। यमस्मृति में कहा है – पूर्वकाल में कुमारियों का उपनयन, वेदारम्भ तथा गायत्री–उपदेश होता था। परन्तु उनके गुरु या अध्यापक केवल पिता, चाचा अथवा बड़े भाई ही होते थे। दूसरे किसी को यह अधिकार नहीं था कि उन्हें पढ़ावें–

**पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।**<br>
**अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा।**<br>
**पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः।।**

हमारी प्राचीन हिन्दू संस्कृति में गृहस्थ–जीवन को एक यज्ञ का स्वरूप दिया गया था और यज्ञ में स्त्री अधाङ्गिनी के रूप में पुरुष को सहयोग प्रदान करती थी, जिसका अत्यन्त सौम्य रूप हमें ऋषिराज वसिष्ठ अपनी भार्या अरुन्धती के साथ सायंकाल की होम–क्रिया सम्पन्न कर रहे हैं, देखने को मिलता है। नारी शिक्षा का कैसा देदीप्यमान उदाहरण है। अशिक्षित नारी क्या इस प्रकार सहयोग प्रदान करने में समर्थ हो सकती थी? यह यज्ञ का स्थूल स्वरूप था। परन्तु इसी यज्ञ की भावना जब अन्तर्मुखी हो जाती है तब नारी का समस्त जीवन ही यज्ञमय होकर एक पवित्र साधना का रूप धारण कर लेता है। भगवान् राम ने यदि व्रत धारण किया था, पितृवचन पालन का, तो सती सीता ने उस यज्ञ को पूर्ण करने के लिए उनका अनुगमन किया और अन्त में सीता–वनवास भी क्या सीता की त्याग–भावना के अभाव में रामराज्य का ऐसा चित्र समुपस्थित करने में समर्थ होते? वह उनके जीवन यज्ञ की अर्धाङ्गिनी थी। त्याग में ही उसका गौरव था और अपने प्राप्य को उसने कठिन तपस्या करके ही पाया था।

यदि भारतीय नारी का मूल्यांकन करें तो अध्यात्म के क्षेत्र में भी वह अपना प्रतिष्ठित स्थान बनाए हुए है। यदि हम अपने इतिहास का पुनरावलोकन करें तो यह तथ्य निश्चित है कि सभ्यता और संस्कृति के आध्यात्मिक संस्कार डालने वाली हमारी आर्य माताएँ हैं। माता कौशल्या को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की जननी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। माता कैकेयी ने श्रीराम को वन गमन की आज्ञा दी। परन्तु माता कौशल्या का कोमल हृदय यद्यपि राम–वियोग की आशङ्का से शतधा विदीर्ण हो रहा था तथापि उनका मातृत्व उन सभी कोमल भावनाओं से ऊपर राम को आदेश दे रहा था। वन जाते समय भाववियोगजनित दुःख से व्याकुल होकर धर्म का विचार कर पुत्र को वन जाने की आज्ञा देकर आशीर्वाद दिया था –

**न शक्यते वारियतुं गच्छेदानीं रघूत्तम।**
**शीघ्र च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे।।**
**यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।**
**स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।।**

अर्थात् हे पुत्र! मैं तुझे किसी प्रकार रोक नहीं सकती, अब तू वन जा, पर जल्दी लौटकर आना और सत्पुरुषों के मार्ग पर चलना। प्रेम और नियम के साथ तू जिस धर्म के पालन में प्रवृत्त हुआ है, वह धर्म तेरी रक्षा करेगा।

माता कैकेयी तो रथ चलाने में भी सिद्धहस्त थी। देवासुर संग्राम में रानी कैकेयी ने महाराज दशरथ के साथ रथ पर बैठकर इन्द्रदेव की सहायता के लिए गयी और जब राजा दशरथ के रथ का एक पहिया टूट गया तो उस समय रानी ने धैर्य और साहस का परिचय देकर राजा को विजय दिलाई। जैसा कि वर्णन है कि सुमित्रा सम्पूर्ण राजकाज का प्रबन्धन देखती थी। माता कैकेयी और सुमित्रा ने क्रमशः भरत और लक्ष्मण–शत्रुघ्न जैसे पुत्रों को जन्म दिया, जिन्होंने धीरता, वीरता, भातृप्रेम और भगवद्भक्ति का जीता जागता आदर्श स्थापित कर संसार का महान् उपकार किया है। लक्ष्मण का त्याग सराहनीय है, परन्तु इसका श्रेय लक्ष्मण को नहीं, उसकी माता सुमित्रा को है, उनकी नवोढ़ा पत्नी उर्मिला को है, जिन्होंने अनुराग की वेला में विराग को, संयोग के स्वर्णक्षण में दीर्घ वियोग को अपना सौभाग्य समझकर प्रसन्नता से वरण कर लिया था।

इस प्रकार रामायणकालीन नारियाँ समस्त नारी जाति का गौरव हैं। अपनी शैक्षिक चेतना से एक सुन्दर पर्यावरण का निर्माण किया है।

भारतीय नैतिकता का रामायण उद्गम स्थल है। रामायण के आदर्शों का अनुकरण भारतीय संस्कृति के समर्थकों और उन्नायकों का सदा से लक्ष्य रहा है। रामायण के चरित्र–चित्रण में धर्म की साकार मूर्तियाँ, धर्म के ज्वलन्त आदर्श विद्यमान हैं। जहाँ एक ओर विभीषण में शरणागत धर्म का, हनुमान् में सेवकधर्म का, सुग्रीव में सख्यधर्म का, दशरथ में पितृव्य धर्म का, श्रीराम में पुत्र धर्म का, उल्लेख है वहीं कौशल्या में स्त्रीधर्म का, सीता में पातिव्रत्य धर्म का, उर्मिला में त्याग धर्म का, मन्दोदरी में एक नारी धर्म का उल्लेख भी है।

# जगज्जननी सीता

जगज्जननी सीता भारत की सती–साध्वी देवियों में शिरोमणि हैं। उनको आर्य–संस्कृति की दिव्य मूर्ति कह सकते हैं। सती शिरोमणि सीता मिथिला नरेश सीरध्वज जनक जैसे परम धर्मात्मा एवं वैराग्यवान् पिता की पुत्री थी। अपने त्याग और ब्रह्मज्ञान के प्रभाव से राजा जनक ने राजर्षि की उपाधि प्राप्त कर ली थी। ऐसी मान्यता है कि यज्ञ के लिए एक बार राजा जनक हल जोत रहे थे। उस समय सीता (हल के हाँसने से बनी गहरी रेखा) से परम रूप लावण्य सम्पन्ना तेजस्विनी कन्या का प्रादुर्भाव हुआ। वे सीता कहलायीं। ऋग्वेद के कई स्थलों पर सीता की स्तुति देवी कहकर की गयी है – सौभाग्यवती सीता! हम तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम हमें धन और सुन्दर फल दो। पूषा सीता को नियमित करे–

**अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।**
**यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि।।**

**(ऋग्वेद ४–५७/६)**

सीता और राम–ये दो ही भारतीय जनता के प्राण हैं। श्रीराम साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं और सीता उनकी स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति। उनका जीवन एक दिव्य प्रकाश है, उस प्रकाश में चलने से कभी अन्धेरे में नहीं भटकना पड़ेगा।

'रामो विग्रहवान् धर्मः' – श्रीराम धर्म के साक्षात् विग्रह हैं। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने अपने आदिकाव्य के लिए एक ऐसे नायक का अनुसन्धान कर रहे थे, जिसमें सभी सद्‌गुणों की प्रतिष्ठा हो, जिसका जीवन ही सदाचार और धर्म की कसौटी हो तथा जो सम्पूर्ण लोकों का एकमात्र प्रियतम हो। आश्रम पर कृपापूर्वक पधारे हुए देवर्षि नारद से पूछा – मुने, आपकी दृष्टि में कोई ऐसे महापुरुष हैं, जिनमें वे सभी सद्‌गुण हों? नारद जी ने इसके उत्तर में भगवान् श्रीराम का परिचय दिया और उनके अलौकिक गुणों का बखान किया। वाल्मीकि और नारद का यह संवाद रामायण का बीज है। आदिकवि का सम्पूर्ण रामायण ग्रन्थ श्रीराम के उन लोकोत्तर गुणों तथा धर्ममय आचारों की व्याख्या है। वाल्मीकि का प्रश्न इस प्रकार है –

को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ।।
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकः प्रियदर्शनः।।
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।।
(बालकाण्ड, प्रथमसर्गः)

प्रश्न सुनकर नारदजी ने उत्तर दिया –

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी।।
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिर्बहणः।
विपुलांसो महाबाहुः कुम्बुग्रीवो महाहनुः ।।

अर्थात् इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगों में रामनाम से विख्यात है, वे ही मन को वश में रखने वाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं। अनेक श्लोकों में राम के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन है।

धर्म के ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजा के हित साधन में लगे रहने वाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मन को एकाग्र रखने वाले हैं। प्रजापति के पालक, श्रीसम्पन्न, वैरिविध्वंसक और जीवों तथा धर्म के रक्षक हैं। स्वधर्म और स्वजनों के पालक, वेद–वेदाङ्ग के तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेद में प्रवीण हैं। गम्भीरता में समुद्र और धैर्य में हिमालय के समान हैं। क्षमा में पृथ्वी के सदृश हैं, त्याग में कुबेर और सत्य में द्वितीय धर्मराज के समान हैं।

श्रीराम ने इन गुणों का आजीवन पालन किया और मर्यादो पुरुषोत्तम राम कहलाये। यदि सूक्ष्म विवेचन किया जाए तो श्रीराम की आज तक जो कीर्ति पताका फहरा रही है उसका श्रेय श्रीजगज्जननी सीता को है। यदि सीता जैसी पत्नी न होती, जो त्याग और तपस्या की मूर्ति है, तो श्रीराम भी अमर न होते। पग–पग पर माँ जानकी ने जो अपनी मर्यादा और धैर्य का परिचय दिया है, भारतीय संस्कृति–साहित्य के अधिकाँश पृष्ठ उनके उज्ज्वल चरित्रों से गौरवान्वित हुए हैं। पृथ्वी की पुत्री हैं तो उसमें धरती माँ के समान ही धैर्य है। महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं कि जनक के कुल में उत्पन्न भी, जो अवतीर्ण हुई, देवमाया की भाँति सुन्दरी, समस्त शुभ लक्षणों से विभूषित, स्त्रियों में उत्तम, राम की प्राणों के समान

प्रियतमा पत्नी तथा सदा ही पति का हित चाहने वाली थी, रामचन्द्र जी के पीछे चली, जैसे चन्द्रमा के पीछे रोहिणी चलती है –

**रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता।।**
**जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता।**
**सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधू:।।**
**सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा।**
**पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च।।**
**(वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, प्रथमसर्ग, २६–२८)**

इसके अतिरिक्त वे देवाङ्गनाओं के समान थी और मूर्त्तिमत्ता लक्ष्मी सी प्रतीत होती थी –

**तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा।**
**देवताभि: समारूपे सीता श्रीरिव रूपिणी।**

आर्यसभ्यता संसार की सब सभ्यताओं से प्राचीन है और लगभग पूर्णता को पहुँची हुई है, इसीलिए वह अधिकाँश उदात्त गुणों का आधार है। भगवती जानकी सतीत्व के विषय में इसका प्रमाण है। इतिहास, पुराण, काव्य से लेकर स्त्रियों के ग्राम्य गीतों में सीता की समान रूप से प्रतिष्ठा हुई है। स्त्री जाति के हृदय का चरमोत्कर्ष उनमें देखा जाता है। वे समय पर बोलती हैं, किन्तु उनके शब्द गम्भीर होते हैं, उन शब्दों में हृदय की विशालता है। जैसी मर्यादाशीलता और सदाशयता उनमें दृष्टिगत होती है, अन्यत्र नहीं।

विवाहोपरान्त जब श्रीजानकी जी अयोध्या के राजमहल में आयीं उस समय का वर्णन करते हुए वाल्मीकि जी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्र जी सदा सीता के हृदयमन्दिर में विराजमान रहते थे तथा मनस्वी श्रीराम का मन भी सीता में ही लगा रहता था। श्रीराम ने सीता के साथ अनेक ऋतुओं का विहार किया –

**रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतन्।**
**मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पित:।।**

सीता श्रीराम को बहुत ही प्रिय थीं, क्योंकि वे अपने पिता राजा जनक के द्वारा श्रीराम के हाथ में पत्नी रूप से समर्पित की गयी थी। सीता के पातिव्रत्य आदि गुण से तथा उनके सौन्दर्य गुण से भी श्रीराम का उनके प्रति अधिकाधिक प्रेम बढ़ता रहता था; इसी प्रकार सीता के हृदय में भी उनके पति श्रीराम अपने गुण और सौन्दर्य के कारण द्विगुण प्रीतिपात्र बनकर रहते थे।

पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर भगवान् श्रीरामचन्द्र वन यात्रा के लिए तैयार हैं, माता कौशल्यादेवी की सेवा में उपस्थित होकर उनसे अनुनय विनय कर रहे हैं। इसी समय विदेहनन्दिनी वहाँ आयीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में बड़ा मर्यादित वर्णन किया है। वे लिखते हैं –

**समाचार तेहि समय सुनि सीय उठि अकुलाइ।**
**जाइ सासु पद कमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ।।**

प्रस्तुत दोहे में कुल–ललना की कितनी मर्यादाशीलता है, यह अविदित नहीं। भगवती जानकी सीधे जाकर भगवान् श्रीरामचन्द्र के सामने नहीं खड़ी हो गयीं। इससे माँ कौशल्या का तिरस्कार होता। आर्यजाति की यह संस्कृति है, मर्यादा है कि बड़ों की उपस्थिति में बहुएँ लज्जा त्यागकर पति से सम्भाषण नहीं करतीं। सीता आयीं और सास की चरण–वन्दना करके, सिर नीचा करके बैठ गयीं। 'बैठि सिरु नाइ' लिखकर जो मार्मिकता दिखलाई है, यह जानकी जी के हृदय का प्रतिबिम्ब है। इस कार्य के द्वारा उनकी अशक्ता या आकुलता का प्रदर्शन नहीं, अपितु यह मर्यादाशीलता की वह मौक्तिकमाला है, जिसको धारणकर प्रत्येक कुल बाला की अपूर्व शोभा हो सकती है। आर्य संस्कृतियाँ अत्यन्त उदात्त हैं, उनमें स्वार्थपरता का उतना स्थान नहीं, जितना सदाशयता का। वह अपने सुख विलास में ही जीवन की सार्थकता नहीं समझतीं, वह तभी कृतकृत्य होती है, जब गुरुजन, आत्मीयजन अथवा अन्य जनों की सेवा करके आत्मोत्सर्ग कर पाती हैं। यही जानकी जी के चरित्र की विशेषता है। विवाहकाल के समय सप्तपदी में की गयी प्रतिज्ञा –

**कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा तं मञ्जुभाषिणी।**
**दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साब्रवीद्वचः।।**

अर्थात् कुटुम्ब की रक्षा करूँगी। सदा मधुरभाषिणी रहूँगी, दुःख में धीर और सुख में आनन्दित रहूँगी।

पातिव्रत्य धर्म का पालन कर जगज्जननी ने जीवन को सार्थक किया। सीता को श्रीराम के वनवास का समाचार मिला तो सीता ने भी श्रीराम के साथ वन गमन की प्रार्थना की। इसके लिए सीता ने अनेक धर्मानुकूल तर्क दिए। सीता का कथन है कि – आर्यपुत्र, पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू – ये सब पुण्यादि कर्मों का फल भोगते हुए अपने–अपने भाग्य के अनुसार जीवन–निर्वाह करते हैं। केवल पत्नी ही अपने पति के भाग्य का अनुसरण करती है, अतः

आपके साथ ही मुझे भी वन में रहने की आज्ञा मिल गयी है। रघुनन्दन, यदि आप आज दुर्गम वन की ओर प्रस्थान कर रहे हैं, तो मैं रास्ते में कुश और काँटों को कुचलती हुई आपके आगे–आगे चलूँगी। ऊँचे–ऊँचे महलों में रहना, विमानों पर चढ़कर घूमना, सारे ऐश्वर्य–भोग, इन सबकी अपेक्षा स्त्री के लिए सभी अवस्थाओं में पति के चरणों की छाया में रहना विशेष महत्त्व रखता है। मैं तो जैसे अपने पिता के घर में रहती थी, उसी प्रकार उस वन में भी सुखपूर्वक निवास करूँगी। आपके बिना यदि मुझे स्वर्गलोक का निवास भी मिल रहा है तो वह मेरे लिए रुचिकर नहीं हो सकता, मेरे हृदय का सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र आपको ही अर्पित है, यदि आपसे वियोग हुआ तो निश्चय ही मृत्यु हो जाएगी। सीता के इस प्रकार प्रार्थना करने पर श्रीराम ने वनवास के कष्टों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। सीता ने श्रीराम के समक्ष वनगमन का औचित्य बताया और साथ जाने का आग्रह किया। सीता ने तो यहाँ तक कहा कि पिता के घर पर रहते समय मैं ब्राह्मणों के मुख से पहले यह बात सुन चुकी हूँ कि मुझे अवश्य ही वन में रहना पड़ेगा, यह बात मेरे जीवन में सत्य होकर रहेगी। हस्तरेखा देखकर भविष्य की बातें जान लेने वाले ब्राह्मणों के मुख से ऐसी बातें सुनकर मैं सदा ही वनवास के लिए उत्साहित रहती हूँ। श्रीराम के अनेक बार समझाने पर भी जब जानकी नहीं मानीं तब सीता ने श्रीराम को इतने कठोर और कटु वचन भी कहे कि मेरे पिता मिथिला नरेश ने आपको जामाता के रूप में पाकर कभी यह भी समझा था कि आप केवल शरीर से ही पुरुष हैं, कार्यकलाप से तो स्त्री ही हैं –

**किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।**
**राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रह।।**

हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि जानकी इस प्रकार भी कह सकती हैं। सीता ने तो यहाँ तक भी कह दिया कि निष्पाप रघुनन्दन आप मुझे जिसके अनुकूल चलने की शिक्षा दे रहे हैं और जिसके लिए आपका राज्याभिषेक रोक दिया गया हे, उस भरत के सदा ही वशवर्ती और आज्ञापालक बनकर आप ही रहिए मैं नहीं रहूँगी।

स्पष्ट है कि सीता ने सभी प्रकार से श्रीराम से अनुनय विनय की विनम्र निवेदन भी किया और जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ हृदय–विदारक कठोर वचन कहने में भी संकोच नहीं किया। वाल्मीकि की सीता इस धरातल की स्त्री भी है, तुलसीदास जी की सीता का कटुवचन कहना, उद्धत बन जाना, उनके स्वभाव

के विपरीत है। अन्ततोगत्वा श्री जानकी का आग्रह, विलाप, तर्कयुक्त उक्तियाँ, घबराहट देखकर श्रीराम ने साथ चलने की स्वीकृति दी। श्रीजानकी का चरित्र उदात्त गुणों से परिपूर्ण है। उनकी महानुभावता संसार की सती–साध्वी स्त्रियों का आदर्श है। विभिन्न हाथों में पड़कर विचार–वैचित्र्य के कारण कहीं–कहीं उनका चरित्र विकृत हो गया है, किन्तु उनकी महत्ता कहीं कम नहीं हुई।

रावण की अशोक वाटिका में नवीन सुवर्ण के समान दीप्तिमती सीता को देखकर हनुमान उनके 'भर्तृदृढ़व्रत' से बड़े प्रभावित हुए और मन ही मन कहने लगे कि महात्मा जनक की यह कन्या केवल पति–प्रेम के कारण ही विपत्तियों का कुछ भी विचार न करके निर्जन वन में चली आयी थीं। वे फल–मूल से ही सन्तुष्ट रहकर भी 'भर्तृशुश्रूषणपरा' रहती थीं और अब श्रीरामचन्द्र के समागम की आशा से ही अपना शरीर धारण किए हुए है।

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के सुन्दरकाण्ड में लिखा है कि जगज्जननी ने जब हनुमान् जी को आशीर्वाद दिया –

**अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहूँ बहुत रघुनायक छोहू।**

यहाँ हनुमान जी को कहा कि तुम अजर, अमर और गुणों के खजाने होओ। परन्तु यह सब स्वस्ति वचन जानकी जी को बहुत हलके लगे तो उन्होंने अन्त में 'रघुनायक छोहू' कहकर कृतकृत्य कर दिया। यहाँ भी सीता ने श्रीराम की स्मृति को पल भर भी विस्मृत नहीं होने दिया।

श्री जानकी जी जब रावण से बात करती हैं तो उस समय –

**तृन धरि ओट कहति वैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही।**

अपने परम स्नेही कोसलाधीश श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण करके तिनके की ओट करके कहने लगी।

जब श्री जानकी जी की सुधि लेकर हनुमान जी वापिस श्रीराम के पास आए तो उस समय श्रीराम हनुमान से पूछते हैं –

**कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की।**

उस समय हनुमान जी ने कहा –

**नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।**
**लोचन निज पद जंत्रित जाहि प्रान केहिं बाट।।**

अर्थात् आपका नाम रात–दिन पहरा देने वाला है, आपका ध्यान ही किवाड़ है। नेत्रों को अपने चरणों में लगाये रहती हैं, यही ताला लगा है। फिर प्राण जायँ तो किस मार्ग से?

कितना मार्मिक वर्णन है। वैदेही की दशा का अनुमान लगाना असम्भव है। इतनी विपत्ति में होते हुए भी अहर्निश श्रीराम का ध्यान करती है।

वनगमन के समय श्रीराम अत्रि मुनि के आश्रम में गए, वहाँ अत्रि–पत्नी अनसूया द्वारा सीता का सत्कार हुआ और अनसूया ने सीता को उपदेश दिया कि सर्वप्रथम सीता को कहा कि सौभाग्य की बात है कि तुम धर्म पर दृष्टि रखती हो –

**ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम्।**
**सान्त्वयन्त्यब्रवीद् वृद्धा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे।।**

मानिने सीते! बन्धु–बान्धवों को छोड़कर और उनसे प्राप्त होने वाली मान–प्रतिष्ठा का परित्याग करके तुम वन में भेजे हुए श्रीराम का अनुसरण कर रही हो, यह बड़े सौभाग्य की बात है। अपने स्वामी नगर में रहें या वन में, भले हों या बुरे, जिन स्त्रियों को वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकों की प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभाव का, मनमाना बर्ताव करने वाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो, वह उत्तम स्वभाव वाली नारियों के लिये श्रेष्ठ देवता के समान है। पति से बढ़कर कोई हितकारी बन्धु नहीं है। अतः तुम इसी प्रकार अपने इन पतिदेव श्रीरामचन्द्र जी की सेवा में लगी रहो – सती धर्म का पालन करो, पति को प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करती हुई अपने स्वामी की सहधर्मिणी बनो, इससे तुम्हें सुयश और धर्म दोनों की प्राप्ति होगी –

**तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती**
**पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी।**
**भव स्वभर्तुः सहधर्मचारिणी**
**यशश्च धर्मं च ततः समाप्यसि।।**

सीता ने भी अनसूया की बातों का समर्थन किया और कहा कि यदि मेरे पतिदेव अनार्य और चरित्रहीन होते तो भी मैं बिना किसी दुविधा के उनकी सेवा में लगी रहती। स्त्री के लिए पति सेवा के अतिरिक्त दूसरा कोई तप नहीं है। पातिव्रत्य–धर्म का पालन करने वाली साध्वी स्त्रियाँ अपने पुण्यकर्म के बल से देवलोक में आदर पाती हैं –

**एवं विधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः।**
**देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा।।**

सीता के वचनों को सुनकर अनसूया को अत्यन्त हर्ष हुआ और उसने तो यहाँ तक कहा कि मैंने अनेक प्रकार के नियमों का पालन करके बहुत बड़ा तपस्या

संचित की है। उस तपोबल का ही आश्रय लेकर मैं तुमसे इच्छानुसार वर माँगने के लिए कहती हूँ। अनसूया ने जगज्जननी को दिव्य हार, वस्त्र, आभूषण, अङ्गराग और बहुमूल्य अनुलेपन दिया और कहा कि विदेहनन्दिनी सीते, मेरी दी हुई ये वस्तुएँ तुम्हारे अङ्गों की शोभा बढ़ायेंगी। ये सब तुम्हारे ही योग्य हैं और सदा उपयांग में लायी जाने पर निर्दोष एवं निर्विकार रहेंगी।

शास्त्र, पुराणों का भी वचन है कि स्त्री को न तो कोई यज्ञ करने की आवश्यकता है न व्रत उपवास की, पति की सेवा करने से वह स्वर्ग में आदृत होती है। पतिलोक की कामना करने वाली साध्वी स्त्री, चाहे जीवित पति हो चाहे मृत, उसका अप्रिय कभी न करे। 'पिता, भ्राता, पुत्र थोड़ा देने वाले हैं, सब कुछ देने वाला पति ही है। इसलिये वह सदा सत्कार योग्य है। स्त्रियों का गुरु एक पति ही है।'

माता जानकी देवी के निवेदन में आर्य सिद्धान्तों की ध्वनि के सिवाय और क्या है? हाँ, उनके हृदय के समान उनकी उदात्त उक्तियाँ अवश्य हैं। उनके लिए तो **'जिय बिनु देह नदी बिन बारि। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।'** सत्य है, पुरुष स्त्री–देह का प्राण हे, और कामिनी–कल्लोलिनी का सलिल। किन्तु इस बात को सीता देवी सदृश पतिप्राण देवी ही समझ और कह सकते हैं।

सीता को 'पतिसम्मानीता' कहा गया है। अगस्त्य ने राम से कहा था कि जिस प्रकार सीता वन में प्रसन्न रह सके, वही कार्य आपको करना चाहिए। तदनन्तर महर्षि की सलाह से सीता सहित राम और लक्ष्मण पंचवटी में गए और गोदावरी के तट पर सुन्दर आश्रम बनाकर रहने लगे। सीता जी वन में बड़े आनन्द से रहने लगी। वे अपनी दिव्य कान्ति से वन को प्रकाशित करने लगी। यहाँ सीता ने वृक्षों, फूलों, वन–विहंगमों की रक्षा करते हुए प्राकृतिक पर्यावरण को नष्ट नहीं होने दिया। वन के सौन्दर्य के साथ उनका प्राण एकरस हो गया। श्रीराम की सेवा करके सीता अपने जन्म और जीवन को सफल बनाती थीं।

सीता ने वनवास में भी जो यह शान्तिपूर्ण सरस जीवन का सुख प्राप्त किया था, वह भी दुर्दैव से देखा नहीं गया। वह विपरीत वातावरण की सृष्टि कर रहा था। लंकापति रावण धोखे से सीता को हरकर लंका में ले गया। अन्त में श्रीराम ने हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवन्त आदि की सहायता से रावण का वध किया और सीता को छुड़ाया। चौदह वर्ष की अवधि समाप्त कर अयोध्या आए। वाल्मीकि रामायण में तो गर्भावस्था में पुनः सीता परित्याग का वर्णन है।

वैदिककाल में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कर्म में वह स्त्री अपने पति के साथ नियुक्त होती थी। पति के साथ पत्नी के बैठे बिना कोई धार्मिक कृत्य पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता था। बिना पत्नी के किया हुआ अग्निहोत्र निष्फल होता था। राम के इतिहास में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ वे विशेष अवसरों पर सीता से अलग रहे हों। वेद की 'यज्ञ विद्या' सभ्य जगत् में सर्वत्र सुप्रसिद्ध और सम्माननीय है। इस 'यज्ञ विद्या' ने विश्वमण्डल में आर्यों का आज तक उच्च मस्तक रखा है, जो विश्वमण्डल में इतने गौरव के स्थान है, वह 'यज्ञ' बिना नारी के नहीं होते। भगवान् राम ने लोकानुवर्तन के लिए जिस समय श्रीसीता का परित्याग किया, उस समय वनवास की सखियाँ 'पत्नी परित्याग के बाद श्रीरामचन्द्र का क्या हाल हुआ' यह जानने के लिए किसी तापसी से पूछती है– **'अथ स रामभद्रः किमाचारः?'** 'अब वह रामचन्द्र जी क्या करते हैं? तापसी का कथन है – **'तेन राज्ञा राजक्रतुरश्वमेधः प्रकान्तः'** (वह अब अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं।)। यह सुनते ही भगवान् राम के दूसरे विवाह की परिकल्पना कर ली गयी, क्योंकि पत्नी के बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता। इसीलिए बड़े दुःख और घृणा के साथ उनके मुख से निकला – **'हन्त ! परिणीतमपि?'** (हाय क्या विवाह भी कर लिया?) तापसी उत्तर देती है – **'शान्तम्, नहि नहि'** (राम–राम, ऐसा नहीं है।) तो प्रश्न होता है **'का तर्हि यज्ञे सहधर्मचारिणी?'** इस प्रकार यज्ञ में नारी की सहधर्मचारिता हमें वैदिककाल से चली आ रही परम्परा को स्मरण कराती है। श्रीराम–सीता के पारस्परिक धर्म और प्रेम का दिग्दर्शन है। वास्तव में श्रीराम ने एक पत्नीव्रत्य धर्म का पालन किया और सीता की सुवर्ण प्रतिमा बनाकर यज्ञ को पूर्ण किया। वैदिक श्रुतियाँ पत्नी को पति की अभिन्न बतलाती हैं।

दिङ्नाग बौद्धविद्वान् थे। उन्होंने 'कुन्दमाला' नाटक लिखा है। प्रकरण उसका 'वैदेही वनवास है। विपिन में पहुँचाकर लौटते समय जनकनन्दिनी से सन्देश की प्रार्थना करते हैं। उस समय नाटककार उनके मुख से ये वाक्य कहलाते हैं –

**तथा निष्ठुरो नाम सन्दिश्यत इत्यप्रतिहतवचनतैषा लक्ष्मणस्य, न सीताया धन्यत्वम्।**

**अहो अविश्वसनीयता प्रकृतनिष्ठुरभावानां पुरुषहृदयनाम्।**

(ऐसे निष्ठुर के लिये मैं जो सन्देश देना चाहती हूँ, उसमें लक्ष्मण का वचन का

आदर है, सीता का सौभाग्य नहीं। स्वभाव से ही निष्ठुरभावपूर्ण पुरुष–हृदय की अविश्वसनीयता विचित्र है।)

भवभूति का 'उत्तररामचरित' देखें तो उसमें वे श्रीसीता की सखी वासन्ती के मुख से भगवान् श्रीरामचन्द्र के विषय में ये वाक्य कहलाते हैं –

**अयि देव, किं परं दारुणः खल्वसि।**

देव, आप सचमुच बड़े निष्ठुर हैं।

यह सुन सीता अपनी पतिप्राणता का परिचय देती हैं –

**सखि वासन्ति, किं त्वमेवंवादिनी भवसि, पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रो विशेषतो मम प्रियसख्यः।**

(सखी वासन्ती, तुम ऐसा क्यों कहती हो? आर्यपुत्र सबके पूजनीय हैं, विशेषतः मेरी प्रिय सखी के।)

दिङ्नाग की जनकनन्दिनी देवी नहीं, मानवी है। उनमें धैर्यच्युति है। वे धैर्यच्युत होकर पतिदेव को निष्ठुर कहती है, साथ ही पुरुषजाति मात्र से स्वभाव से ही निष्ठुर हृदय कह डालती है। इस कथन में स्वाभाविकता है, किन्तु चित्त की वह विशालता नहीं, जो मनुष्य को देवता बना देती है। विपत्ति ही मनुष्य की कसौटी है, इस पर दिङ्नाग की सीता खरी नहीं उतरी। भवभूति की सीता वास्तव में देवी है, वे सच्ची पतिव्रता है, वे आत्मचिन्ताशून्य है। वे 'विपदि धैर्य' का आदर्श है। उन्होंने स्वाभाविकता पर विजय प्राप्त कर ली है, उनमें प्रतिहिंसा–वृत्ति नहीं है। वे स्वयं तो भगवान् श्रीराम को देखकर कुछ कहती नहीं, सखी के कटु वचन को भी नहीं सह सकती। उनका यह वाक्य बड़ा ही मार्मिक है – 'आर्यपुत्र सबके पूजनीय हैं, विशेषतः मेरी प्रिय सखी के। यह सीतादेवी का वास्तविक रूप है, यह रूप बुधजन ही नहीं, विबुधन वन्दनीय है। उनका यही रूप आर्य–संस्कृति का सर्वस्व है। गोस्वामी जी उनके इसी रूप के उपासक है। 'मानस' में तो पग–पग पर सीता देवी की मर्यादा के दर्शन होते हैं। यहाँ हम गोस्वामी जी की रचना में एक बात ओर देख सकते हैं कि 'मानस' की रचना उत्तरकाण्ड तक है, परन्तु उत्तरकाण्ड में सीता–वनवास की चर्चा नहीं है। यहाँ यही लगता है कि वाल्मीकि जी ने तो अपने समय का यथार्थ लिखा परन्तु मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम का सीता को त्यागने की घटना को तुलसीदास जी के मन–मस्तिष्क ने कभी नहीं स्वीकारा। एतद्कारण उन्होंने इस प्रसंग को अपनी लेखनी से अछूता छोड़ा।

वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो श्रीराम की मर्यादा पर भी श्रीजानकी ने आने वाली पीढ़ी के लिए एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है कि क्या अग्निपरीक्षा के पश्चात् भी श्रीराम का सीता का परित्याग उचित है? यदि पुनःपुनः विचार–मन्थन किया जाए तो मन यह स्वीकार ही नहीं करता कि सर्वप्रथम तो श्रीजानकी की अग्नि परीक्षा का औचित्य और फिर 'वैदेही वनवास'। अन्ततोगत्वा पृथ्वी माँ की पुत्री पृथ्वी के समान धैर्यशीला, पृथ्वी की गोद में समा गयी। धन्य है ऐसी नारी।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि 'जानकी नन्दिनी का चरित्र जिस रूप में भारतीय कवियों ने अङ्कित किया है, वह कल्पित है, उसमें वास्तविकता का लेश नहीं। उन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ता है, परन्तु उस अवस्था में भी उनको कुछ कहते नहीं देखा जाता। ज्ञात होता है कि उनके मुख में जीभ नहीं, या किसी ने उनके मुख पर मुहर लगा दी है। वे बड़े से बड़ा दुःख सह लेती हैं परन्तु उफ तक नहीं करती। वज्र टूट पड़ता है, किन्तु हिली तक नहीं। ऐसी प्रस्तर प्रतिमा हो सकती है, कोई जीव धारिणी नहीं।' वास्तव में पाश्चात्य और भारतीय संस्कृति भिन्न है। अतः पाश्चात्य विद्वानों का जिस वातावरण में उनके हृदय का विकास हुआ है, जो दृश्य उनके नेत्रों के सामने उपस्थित होते रहते हैं, पति–पत्नी के जिन पारस्परिक व्यवहारों का उनको अनुभव है, वैसी ही उनकी विचार–परम्परा और मनन शैली है। उपर्युक्त कथन में पाश्चात्य विद्वान् ने सीता के लिए जो उद्‌गार व्यक्त किए हैं, यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो उसमें सीता की सहनशीलता की प्रशंसा की है।

परम अनुभवी जगद्विख्यात स्वामी श्रीविवेकानन्दजी के जगज्जननी जानकी के प्रति अत्यन्त सुन्दर एवं भावपूर्ण विचार हैं –

'वैदिक काल के पश्चात् जगत् को प्रभावित करने वाले अगणित श्रेष्ठ ऋषि, श्रेष्ठ अवतार हुए हैं, जिनकी संख्या पुराणों में अगणित बतलायी गयी है। इन सब अवतारों में से जिनकी भारत में विशेष पूजा होती है वे हैं – भगवान् श्री राम और श्रीकृष्ण। वीरयुग की प्राचीन प्रतिभा भगवान् राम को हमारे सबसे श्रेष्ठ ऋषि श्रीवाल्मीकि जी ने सत्य और धर्माचरण की एक मूर्ति, एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श पति, एक आदर्श पिता और इन सबसे भी परे एक आदर्श राजा के रूप में उपस्थित किया है। कोई दूसरी भाषा उतनी शुद्ध, पवित्र, सुन्दर और सरल नहीं हो सकती जितनी वह भाषा, जिसमें कि श्रेष्ठ कवि ने भगवान् श्रीराम

का जीवन चित्रित किया है। श्रीसीता जी की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है! पूर्वकाल का संसार का सम्पूर्ण साहित्य देखा जाए और मैं विश्वास दिलाता हूँ कि भविष्य में अभी जो साहित्य निर्माण होगा, उसमें भी दूसरी सीता नहीं मिलेगी। श्रीसीता जी अनुपम हैं, उनका चरित्र जो एक बार निर्माण हो चुका, सदैव के लिए हो गया। सम्भव है बहुत से राम हुए हों, परन्तु सीता एक से अधिक नहीं। उनकी समता उन्हीं से दी जा सकती है। वे ही भारत की सच्ची नारी हैं, क्योंकि जितने भी स्त्रियों के पूर्णत्व को प्राप्त भारतीय आदर्श हुए हैं, वे सब एकमात्र माता सीता के जीवन से विकसित हुए हैं। आज भी हजारों वर्षों के उपरान्त उनका अस्तित्व और गौरव विद्यमान है और सम्पूर्ण आर्यावर्त की भूमि पर प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक भक्ति के साथ उनकी पूजा करता है। हमारी ये यशस्विनी सीता, पवित्रता से भी पवित्र, धैर्य और त्याग की सीमा सदैव हमारे आर्यावर्त में पूजनीया रहेंगी। जिन्होंने बिना सङ्कोच किए कितना त्यागपूर्ण जीवन बिताया और सहनशीलता दिखायी, सदैव शुद्ध और सदैव पवित्र पत्नी रहीं। मनुष्यमात्र की एक आदर्श, देवताओं की भी आदर्श, ऐसी महान् श्रीसीता ही हमारे राष्ट्र की केवल एक ही देवी हो सकती है। हममें से प्रत्येक इनसे भलीभाँति अभिज्ञ है। हमारी सभी पौराणिक गाथाएँ, चाहे लोप हो जाएँ, वेद भी चाहे छिप जाएँ और हमारी संस्कृतभाषा भी चाहे सदा के लिए लोप हो जाए, परन्तु जब तक इस देश में पाँच भी हिन्दू रहेंगे, चाहे वे कैसी भी ग्रामीण भाषा बोलते हों, हमारी माता सीता जी की कथा सदैव अमर रहेगी – इन शब्दों को ध्यान में रक्खें। सीता जी हमारी जाति के मर्मस्थान तक पहुँच चुकी हैं। वे प्रत्येक हिन्दू पुरुष और स्त्री के रक्त बिन्दु में विद्यमान हैं, हम सब उनके बालक हैं। हमारे नारी–समाज की नवयुग के अनुरूप बनाने का कोई भी प्रयास यदि वह माता सीता जी के आदर्श से नारी समाज को पृथक् ले जाता है तो वह एकदम असफल होगा, जैसा कि हम प्रतिदिन देख रहे हैं। भारत के नारी–समाज को माता सीता के पदचिह्नों का अनुसरण कर आगे बढ़ना और अपनी उन्नति करनी चाहिए। समाजोन्नति का केवल यही एक मार्ग है।'

इंग्लैंड, अमेरिका और जापान प्रभृति देशों में भ्रमण कर और रामायण और महाभारत के गम्भीर अध्ययन के अनन्तर श्री स्वामी जी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि 'हमारी नारी का शुभपथ एकमात्र माता जानकी का पथ है।' उस आदर्श थोड़ा भी विचलित होना नारी समाज का पतन की ओर अग्रसर होना है

और नारी का पतन आरम्भ हुआ कि देश, धर्म, राष्ट्र और समाज पतन की ओर अभिमुख हो जाएँगे।

सीता–राम आज भी भारतीयों के हृदय में इस प्रकार बस गए हैं कि मानों वे उनके जीवन–प्राण हैं। अपनी पुत्री के विवाह के समय प्रत्येक माता–पिता की आँखों में राम–सीता की ही जोड़ी बसती है। राम–सीता वाल्मीकि के समय में भी प्रासंगिक थे और आज भी उतने ही। सीता ने अपने मर्यादित जीवन की ऐसी छाप छोड़ी जो कि प्रत्येक भारतीय नारियों को प्रेरित करती है। उस जगज्जननी माँ के अनुरूप उनके पदचिह्नों पर चलने की।

# माता कौशल्या

**जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।**

अर्थात् माता का स्थान स्वर्ग से भी ऊँचा है।

वैदिक काल के पश्चात् जगत् को प्रभावित करने वाले अगणित श्रेष्ठ ऋषि, श्रेष्ठ अवतार हुए हैं, जिनकी संख्या श्रीभागवत में अगणित बतलायी गयी है। इन अवतारों में जिनकी भारत में विशेष पूजा होती है, वे हैं भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण। वीर–युग की प्राचीन प्रतिभा भगवान् राम को हमारे सबसे श्रेष्ठ श्रीवाल्मीकि जी ने एक मूर्ति, एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श पति, एक आदर्श पिता और इन सबसे भी ऊपर एक आदर्श राजा के रूप में उपस्थित किया है। कोई दूसरी भाषा उतनी शुद्ध, पवित्र, सुन्दर और सरल नहीं हो सकती जितनी वह भाषा जिसमें कि श्रेष्ठ कवि ने भगवान् श्री राम का जीवन चित्रित किया है। माता कौशल्या को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की जननी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

विभिन्न पुराणों में कौशल्या के जीवन सम्बन्धी वृत्तान्त मिलता है वह इस प्रकार है –

लंकाधिपति रावण महान् वेदवेत्ता विद्वान् था। दैवज्ञ रावण ने अपने भाग्य का विचार किया और उसे पता लगा कि अयोध्या के महाराज अज के युवराज दशरथ के औरस से कौशल राजकुमारी कौशल्या को जो पुत्र होगा, वही उसका वध करेगा। विषयी पुरुष के लिए शरीर ही सब कुछ है। मृत्यु से अधिक भयदायक उसे कुछ नहीं जान पड़ता। रावण आकाशमार्ग से कौशल पहुँचा।

दक्षिण कोशलराज ने अपनी पुत्री का विवाह अयोध्या के युवराज से निश्चित किया था। आमन्त्रण भेजा जा चुका था। मण्डप बनाये जा रहे थे। अकस्मात् एक दिन राजसदन से राजकुमारी अदृश्य हो गयी। बड़ा हाहाकार हुआ। अयोध्या समाचार भेज दिया गया। उधर अयोध्या से महाराज अज प्रस्थान कर चुके थे। मन्त्री की सलाह से सरयू द्वारा यात्रा का निश्चय हुआ। सहसा मार्ग में आँधी आयी। भयंकर झंझावत से बहुत सी नौका डूब गयीं। वायु के शान्त होने पर महाराज ने देखा कि मन्त्रिपुत्र सुमन्त्र के साथ युवराज जिस नौका में में

थे, उसका पता नहीं चला। कुछ लोगों को खोज करने के लिए छोड़कर महाराज घर लौट आए।

उधर रावण ने कौशल्या का हरण किया और उन्हें एक काष्ठपेटिका में बन्द करके दक्षिण सागर में अपने एक परिचित महामत्स्य को दे आया कि वह उसे सुरक्षित रक्खे। महामत्स्य पेटिका को मुख में रखे रहता था। अकस्मात् दूसरे महामत्स्य ने उस पर आक्रमण किया। युद्ध में लड़ने से पूर्व मत्स्य ने पेटिका गङ्गासागर के किनारे भूमि पर छोड़ दी। भीतर से कौशल्या जी ने पेटिका खोली, क्योंकि पर्याप्त समय तथा पेटिका को वे स्थिर अनुभव कर रही थीं। पेटिका को खोलकर उन्होंने अपने को नये स्थल पर पाया। स्थान का परिचय जानने के लिए निकलकर इधर–उधर देखने लगी।

रावण ने ही झंझावत उत्पन्न करके महाराज अज की नौकाओं को डूबो दिया था। दशरथ जी जब सरयू के तल में डूबकर ऊपर आए तो प्रवाह वेग से वे दूर निकल गये थे। वहाँ वे एकाकी थे। अकस्मात् नौकाओं का टूटा एक काष्ठखण्ड पर दृष्टि पड़ी। मन्त्रिपुत्र सुमन्त्र उस पर बैठे थे। दशरथ जी भी तैरकर उसी पर बैठ गए। वर्षा का प्रारम्भ हो रहा था। सरयू बढ़ी थी। मध्यधारा में काष्ठ पर बैठे दोनों बहे जा रहे थे। सरयू से बहते हुए वे गङ्गा में पहुँचे और गङ्गा से समुद्र तट के समीप जाकर तब कहीं वह काष्ठ किनारे लगा। दोनों उतरे।

यहीं कौशल्या जी से साक्षात् हुआ। परस्पर अज्ञात स्थान में जिज्ञासा स्वाभाविक थी। परिचय हुआ तब दशरथ जी ने वही विधिवत् अग्नि प्रज्ज्वलित करके उनका पाणिग्रहण किया। महाराज अज द्वारा नियुक्त अन्वेषक किनारे–किनारे पता लगाते आ पहुँचे। उनके साथ दशरथ जी अयोध्या गये।

कौशल्या जी आरम्भ से ही धार्मिक वृत्ति की थी। भगवान् की पूजा करती। व्रत रखती। नित्य ब्राह्मणों को दान देती। अयोध्या में जो भी संत आते उनके द्वारा आतिथ्य पाते थे। कहीं–कहीं ऐसा वर्णन मिलता है कि महाराज दशरथ ने अनेक विवाह किए थे। परन्तु सबसे छोटी रानी कैकेयी ने उन्हें अत्यधिक आकर्षित किया था। कौशल्या पूरी तरह तपस्विनी की भाँति जीवन व्यतीत करती थी। मानस में तुलसीदास जी ने कहा है –

**कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।**
**पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत।।**

अर्थात् कौशल्यादि प्रिय नारियाँ सभी पवित्र आचरण वाली थीं। वे विनीत और पति के अनुकूल थीं और श्रीहरि के चरणकमलों में उनका दृढ़ प्रेम था।

एक बार महाराज दशरथ के मन में कि मेरे पुत्र नहीं है। राजा तुरन्त ही गुरु के घर गए और चरणों में प्रणाम करके विनय की। महर्षि वशिष्ठ जी के आदेश से शृङ्गी ऋषि आमन्त्रित हुए। पुत्रेष्टि यज्ञ में अग्निदेव ने प्रकट होकर महाराज को चरु प्रदान किया। चरु का अर्धभाग कौसल्या जी को प्राप्त हुआ। आधे के दो भाग किए। उनमें से एक भाग कैकेयी को दिया। शेष जो बच रहा उसके दो भाग करके राजा ने कौशल्या और कैकेयी के हाथ पर रखकर और इस प्रकार उनका मन प्रसन्न करके सुमित्रा को दिया।

कौशल्या का पातिव्रत्य, व्रत, साधुसेवा, भगवदाराधना सब एक साथ सफल हो गयीं। सच्चिदानन्दघन ने माता कौशल्या की गोद को विश्ववन्द्य बना दिया। माता ने उस भुवनसुन्दर शिशु को देखा, उनके सब क्लेश परमानन्द में परिणत हो गए –

**भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।**
**हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी।**
**लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।**
**भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिन्धु खरारी।।**

कैकेयी और सुमित्रा ने भी सुन्दर पुत्रों को जन्म दिया।

भगवान् राम की बालक्रीड़ाओं का वर्णन वाल्मीकि रामायण में तो नहीं मिलता परन्तु तुलसीदास जी की 'रामचरितमानस' में मिलता है। प्रेममग्न कौशल्या जी रात और दिन का बीतना नहीं जानती थी। पुत्र के स्नेहवश माता उनके बालचरितों का गान किया करती थीं। एक बार माता ने श्रीरामचन्द्र जी को स्नान कराके पालने में लिटाया और अपने कुल के इष्टदेव भगवान् की पूजा के लिए स्नान किया। पूजा करके नैवेद्य चढ़ाया और स्वयं वहाँ गयी, जहाँ रसोई बनायी गयी थी। फिर माता पूजा के स्थान पर लौट आयीं और वहाँ आने पर पुत्र को भगवान् के लिए चढ़ाए हुए नैवेद्य का भोजन करते देखा। माता भयभीत होकर पालने के पास गयी तो वहाँ बालक को सोया हुआ देखा। फिर पूजास्थान में देखा तो वही पुत्र वहाँ भोजन कर रहा है। उनके हृदय में कम्प होने लगा और मन को धीरज नहीं होता था। वह सोचने लगी कि मैंने दो बालक देखे। यह मेरी बुद्धि का भ्रम है या कोई विशेष कारण है –

प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान।।

(मानस बाल० २००)

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए।।
निज कुल इष्ट देव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना।
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा।।
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देख सुत जाई।।
मैं जनकी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनिसूता।।
बहुरि आइ देखा सुत सोईं। हृदय कंप मन धीर न होई।।
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन विसेषा।।
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसकाना।।

पुन: एक बार माता कौशल्या राम को गोद लेकर स्नेह से उनका मुख कमल देख रही थी। जम्हाई आयी और वह छोटा सा मुख खुल गया। नदी, समुद्र, पर्वत, सूर्य, चन्द्र, पशु—पक्षी, नर—वानर, दैव—दैत्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस नन्हें मुख में कहाँ से आ गया। माता ने नेत्र बन्द कर लिये। वे उन सच्चिदानन्द सर्वकारणकारण की शरण गयी। राघव मुस्करा पड़े। कौशल्या जी बार—बार हाथ जोड़कर विनय करती है कि प्रभो मुझे आपकी माया अब कभी न ब्यापे –

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि—कोटि ब्रह्माण्ड।।

(मानस, बाल० २०१)

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन।।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ।।
देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढी।।
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही।।

X X X X X

बार—बार कौसल्या विनय कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि।।

(मानस, बाल० २०२)

इस प्रकार विविध प्रकार की लीलाएँ करके माता कौशल्या को सुख दिया।

महाराज दशरथ ने राम को युवराज बनाने की इच्छा की और शुभ मुहूर्त्त निकलवाया। 'मेरा राम आज युवराज होगा' माता ने रात्रि भर गुणगान करते हुए व्यतीत किया। प्रात: ब्रह्ममुहूर्त्त में ही उठकर उन्होंने पहले नगर के विप्रों के यहाँ गायें, वस्त्र, तिल आदि भेजे। षोडशोपचार से पूजन करके नीराजन के अनन्तर उन्होंने पुष्पाञ्जलि देकर प्रणिपात किया। इसी समय श्रीरघुनाथ ने आकर माता के चरणों में मस्तक झुकाया।

'बेटा बलिहारी, कुछ कलेऊ तो कर लो। अभिषेक में अभी बहुत विलम्ब है।'

परन्तु राम का यह कहना कि महाराज युवराज पद भरत को दे रहे हैं और मुझे तपस्वी बनाकर कानन का राज्य दे रहे हैं।

'राम तुम मुझसे परिहास तो नहीं करते? महाराज तुम्हें प्राणों से भी प्रिय मानते हैं। किस अपराध पर उन्होंने तुम्हें निर्वासित किया है? मेरे निर्दोष पुत्र को किसने लाञ्छित किया है?' यह बात सुनकर कौशल्या पृथ्वी पर गिर पड़ी। श्रीराम ने हाथ का सहारा देकर उठाया। वाल्मीकि जी लिखते हैं कि कौशल्या जी ने जीवन में सुख ही देखा था और उसी के योग्य थीं। परन्तु उस समय दुःख से व्याकुल हो रही थीं। माता कौशल्या की हृदयवेदना का वाल्मीकि ने बड़ा हृदय विदारक वर्णन किया है। माता कौशल्या का यह कहना कि बेटा रघुनन्दन, यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे इस एक ही बात का शोक रहता। आज जो मुझ पर इतना भारी दुःख आ पड़ा है, इसे वन्ध्या होने पर मुझे नहीं देखना पड़ता—

**यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव।**
**न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः।।**

माता कौशल्या को ज्येष्ठ पत्नी का भी सुख प्राप्त नहीं हुआ। इसकी व्यथा का भी वर्णन करती हैं कि बेटा राम ! पति के प्रभुत्वकाल में एक ज्येष्ठ पत्नी को जो कल्याण या सुख प्राप्त होना चाहिए, वह मुझे पहले कभी देखने को नहीं मिला। सोचती थी, पुत्र राज्य में मैं सब सुख देख लूँगी और इसी आशा से मैं अब तक जीती रही —

**न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे।**
**अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया।।**

तात तुम्हारे निकट रहने पर भी मैं इस प्रकार सौतों से तिरस्कृत रही हूँ, फिर तुम्हारे परदेश चले जाने पर मेरी क्या दशा होगी? इस दशा में तो मेरा

मरण ही निश्चित है। पति की ओर से मुझे सदा अत्यन्त तिरस्कार मिला है, कभी प्यार और सम्मान नहीं प्राप्त हुआ है। मैं कैकेयी की दासियों के बराबर अथवा उनसे भी गयी बीती समझी जाती हूँ जो कोई भी मेरी सेवा में रहता या मेरा अनुसरण करता है, वह भी कैकेयी के बेटे को देखकर चुप हो जाता है। मुझसे बात नहीं करता। बेटा इस दुर्गति में पड़कर मैं सदा क्रोधी स्वभाव के कारण कटुवचन बोलने वाले उस कैकेयी के मुख को कैसे देख सकूँगी।

इस प्रकार कौशल्या ने अपने दुःख को व्यक्त किया है कि बड़ी महारानी होने पर भी वे सम्मान न पा सकी और श्रीराम के वनगमन को किस प्रकार सहन करेंगी। माता का हृदय चीत्कार कर उठा कि एक माँ किस प्रकार अपने पुत्र के इस असहनीय दुःख को सहेगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

वह कहती हैं कि निश्चय ही मेरा हृदय बड़ा कठोर है जो तुम्हारे बिछोह की बात सुनकर भी वर्षाकाल के नूतन जल प्रवाह से टकराये हुए महानदी के कगार की भाँति फट नहीं जाता –

**स्थिरं नु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते।**
**प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा।।**

निश्चय ही मेरे लिए कहीं मौत नहीं है, यमराज के घर में मेरे लिए जगह नहीं है, तभी तो जैसे किसी रोती हुई मृगी को सिंह जबरदस्ती उठा ले जाता है, उसी प्रकार यमराज मुझे आज ही उठा ले जाना नहीं चाहता है –

**ममैव नूनं मरणं न विद्यते**
**न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम।**
**यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति**
**प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव।।**

सबसे अधिक दुःख की बात तो यह है कि पुत्र के सुख के लिए मेरे द्वारा किए गए व्रत, दान और संयम सब व्यर्थ हो गए। मैंने सन्तान हित–कामना से जो तप किया है, वह भी ऊसर में बोये हुए बीज की भाँति निष्फल हो गया –

**इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे**
**व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि।**
**तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया**
**सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे।।**

चन्द्रमा के समान मनोहर मुख–कान्ति वाले श्रीराम, यदि मेरी मृत्यु नहीं होती है

तो तुम्हारे बिना यहाँ व्यर्थ कुत्सित जीवन क्यों बिताऊँ? बेटा! जैसे गौ दुर्बल होने पर भी अपने बछड़े के लोभ से उसके पीछे–पीछे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ ही वन को चली चलूँगी –

**अथापि किं जीविमद्य मे वृथा**
**त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ।**
**अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः**
**सुदुर्बला वत्समिवाभिकाङ्क्षया।।**

माता कौशल्या ने पुनः पुनः श्रीराम के साथ वनगमन के लिए हठ किया। वह किसी प्रकार भी स्वयं को श्रीराम के बिना जीवित रहने की कल्पना भी नहीं कर सकती। परन्तु इसमें भी दैव को मानती हुई कहती हैं –

**नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन्।**
**लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि।।**

माता कौशल्या के वचन सुनकर श्रीराम ने अत्यन्त दुःख में डूबी अपनी माँ को नाना भाँति समझाया।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने माता कौशल्या की दशा का वर्णन अन्य प्रकार से किया है। वहाँ कौशल्या जी अपनी बड़ी महारानी होने को जो हृदय में उपेक्षित भाव की ग्लानि थी उसका लेशमात्र भी वर्णन नहीं किया। यहाँ धर्म और स्नेह दोनों ने कौशल्या जी की बुद्धि को घेर लिया। वे सोचने लगीं कि यदि अनुरोध करके पुत्र को रख लेती हूँ तो धर्म जाता है और भाइयों में विरोध होता है और यदि वन जाने को कहती हूँ तो बड़ी हानि होती है। इस प्रकार धर्मसंकट में पड़कर सभी विशेष रूप से सोच के वश हो गयी। फिर बुद्धिमती कौशल्या जी स्त्री धर्म (पातिव्रत्यधर्म) को समझकर और राम तथा भरत दोनों पुत्रों को समान जानकर माता ने बड़ा धीरज रखकर बोलीं – हे तात! तुमने अच्छा किया। पिता की आज्ञा पालन करना ही सब धर्मों का शिरोमणि धर्म है। राज्य देने को कहकर वन दे दिया, उसका मुझे लेशमात्र भी दुःख नहीं है। दुःख तो इस बात से है कि तुम्हारे बिना भरत को, महाराज को और प्रजा को बड़ा भारी क्लेश होगा। हे तात! यदि केवल पिताजी की ही आज्ञा हो, तो माता को बड़ी जानकर वन को मत जाओ किन्तु यदि पिता–माता दोनों को वन जाने को कहा हो, तो वन तुम्हारे लिए सैकड़ों अयोध्या के समान है –

**जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।**
**जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।।**

भाइयों में परस्पर द्वेष नहीं होना चाहिए। कैकेयी ने चाहे जो किया हो, परन्तु भरत भी तो मेरा पुत्र है। माता के भाव कभी संकीर्ण नहीं हुए। हृदय को वज्र बनाकर प्राणाधिक पुत्र को उन्होंने आज्ञा दी। **'मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा'** के आदेश को उन्होंने पुत्र के लिए रक्षित किया।

क्लेश जनित शोक को मन से निकालकर श्रीराम की मनस्विनी माता कौशल्या ने पवित्र जल से आचमन किया और यात्राकालिक मङ्गलकृत्यों का अनुष्ठान करने लगीं। माता का हृदय है, ममत्व जाग उठा, आशीर्वाद देती हुई बोलीं – 'रघुकुलभूषण अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती' इस समय जाओ, सत्पुरुषों के मार्ग पर स्थिर रहो और शीघ्र ही वन से लौट आओ। तुम नियमपूर्वक प्रसन्नतापूर्वक जिस धर्म का पालन करते हो, वही सब ओर से तुम्हारी रक्षा करे–

**न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।**
**शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे।।**
**यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।**
**स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।।**

लगभग ४०–४५ श्लोकों में माता की मङ्गलकामना का वर्णन है, जिसका सारांश यही है कि माता ने चहुँ प्रकार से अपने पुत्र की रक्षा की कामना की है। देवस्थानों और मन्दिरों में जाकर तुम जिनको प्रणाम करते हो, वे सब देवता तुम्हारी रक्षा करें। बुद्धिमान् विश्वामित्र जी ने जो–जो अस्त्र दिए हैं, वे सब सदा सब ओर से रक्षा करें। तुम पिता की शुश्रूषा, माता की सेवा तथा सत्य के पालन से सुरक्षित होकर चिरंजीवी बने रहो। समिधा, कुशा, पवित्र वेदियाँ, नदियाँ, मन्दिर, पर्वत, वृक्ष, जलाशय, सर्प, सिंह, मरुद्गण, धाता और विधाता, इन्द्रादि समस्त लोकपाल, छहों ऋतुएँ, सभी मास, संवत्सर, रात्रि, दिन, भगवान् स्कन्ददेव, सोम, बृहस्पति, सप्तर्षिगण और नारद, समुद्र, राजा वरुण, द्युलोक, अन्तरिक्ष, चराचर प्राणी, समस्त नक्षत्र, ग्रह, आदि सभी रक्षा करें। सभी मार्ग मङ्गलकारी हों। तुम्हारे पराक्रम सफल हों तथा तुम्हें सब सम्पत्तियाँ प्राप्त हों। तुम सकुशल यात्रा करो। शुक्र, सोम, सूर्य, कुबेर तथा यम – ये मुझसे पूजित हों, दण्डकारण्य में निवास करते समय सदा तुम्हारी रक्षा करें।

इस प्रकार सभी देवी–देवताओं से रक्षा की कामना करती हुई माता

कौशल्या ने अग्नि को लाकर एक ब्राह्मण के द्वारा उसमें विधिपूर्वक होम कराया। तदनन्तर स्वस्तिवाचन के उद्देश्य से ब्राह्मणों को मधु, दही, अक्षत और घृत अर्पित करके कौशल्या जी ने उन सबसे स्वस्त्ययन सम्बन्धी मन्त्रों का पाठ करवाया।

इस प्रकार आशीर्वाद देकर भामिनी कौशल्या ने पुत्र के मस्तक पर अक्षत रखकर चन्दन और रोली लगायी तथा मनोरथों को सिद्ध करने वाली विशल्यकरणी नामक शुभ औषधि लेकर रक्षा के उद्देश्य से मन्त्र पढ़ते हुए उसको श्रीराम के हाथों में बाँध दिया, फिर उसमें उत्कर्ष लाने के लिए मन्त्र का जप भी किया।

वाल्मीकि यहाँ लिखते हैं कि कौशल्या ने वाणीमात्र से ही मन्त्रोच्चारण कर सकीं। हृदय से नहीं क्योंकि हृदय श्रीराम के वियोग की भावना से व्यथित था –

**उवाचापि प्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी।**
**वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया।।**

इसके बाद श्रीराम के मस्तक को कुछ झुकाकर यशस्विनी माता ने सूँघा और हृदय से लगाकर कहा – वत्स राम, तुम सफल मनोरथ होकर सुखपूर्वक वन को जाओ। जब पूर्णकाम होकर, रोग रहित सकुशल अयोध्या में लौटोगे, उस समय तुम्हें राजमार्ग पर स्थित देखकर सुखी होऊँगी। उस समय मेरे दुःखपूर्ण संकल्प मिट जाएँगे। मुख पर हर्षजनित उल्लास छा जाएगा और मैं मन से आये हुए तुम्हें पूर्णिमा की रात में उदित हुए पूर्ण चन्द्रमा की भाँति देखूँगी। इस प्रकार माता ने नेत्रों में अत्यन्त आँसू भरकर विधिपूर्वक वह स्वस्तिवाचक कर्म पूर्ण किया। फिर श्रीराम की परिक्रमा की और बार–बार उनकी ओर देखकर उन्हें हृदय से लगाया –

**अतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना**
**समाप्य च स्वत्ययनं यथाविधि।**
**प्रदक्षिणं चापि चकार राघवं**
**पुनः पुनश्चापि निरीक्ष्य सस्वजे।।**

विपत्ति का यहीं अन्त नहीं था। 'चित्रलिखित कपि देखि डराती' जानकी सी कुसुमसुकुमार पुत्रवधु भी उनके सम्मुख आकर वन जाने को प्रस्तुत हो गयीं। माता के दुःख का कोई पार नहीं था।

श्रीराम वन को चले गए। महाराज दशरथ कैकेयी को छोड़कर कौशल्या

जी के भवन में आए। शोकसन्तप्ता कौशल्या जी के मुख से तनिक अप्रिय वचन निकल गये। महाराज ने क्षमा माँगी। 'मैं पापिष्ठा हूँ, मेरे देव मुझे क्षमा करें।' पति के दीन वचन सुनकर उनके चरणों पर गिर पड़ीं।' स्वामी दीनतापूर्वक जिस स्त्री की प्रार्थना करता है, वह अच्छे घर की कन्या नहीं। उसके धर्म का नाश होता है। पति ही स्त्री के इस लोक और परलोक का स्वामी है। मेरे अनुचित वचनों को आप क्षमा करें। मैं आपकी दासी हूँ। दु:ख ने मेरी बुद्धि को भ्रान्त कर दिया है।' अनेक प्रकार से महाराज को सान्त्वना देती रही।

जगज्जननी सीता भी श्रीराम के साथ वन गयीं। उस समय माता कौशल्या ने सीता को हृदय से लगाया और उपदेश दिया – 'बेटी, जो स्त्रियाँ अपने प्रियतम पति के द्वारा सदा सम्मानित होकर भी संकट में पड़ने पर उसका आदर नहीं करती हैं, वे इस सम्पूर्ण जगत् में 'अस्ती' 'दुष्टा' के नाम से पुकारी जाती हैं –

**असत्य: सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृता: प्रियै:।**
**भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रिय:।।**

दुष्टा स्त्रियों का यह स्वभाव होता है कि पहले तो वे पति के द्वारा यथेष्ट सुख भोगती हैं, परन्तु जब वह थोड़ी सी भी विपत्ति में पड़ता है, तब उस पर दोषारोपण करती और उसका साथ छोड़ देती है।

इसके विपरीत जो सत्य, सदाचार, शास्त्रों की आज्ञा और कुलोचित मर्यादाओं में स्थित रहती हैं, उन साध्वी स्त्रियों के लिए एकमात्र पति ही परम पवित्र एक सर्वश्रेष्ठ देवता है –

**साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते।**
**स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते।।**

इसलिए तुम मेरे पुत्र श्री राम का, जिन्हें वनवास की आज्ञा मिली है, कभी अनादर न करना। ये निर्धन हों या धनी, तुम्हारे लिए देवता तुल्य हैं –

**स त्वया नावमन्तव्य: पुत्र: प्रव्राजितो वनम्।**
**तव देवसमस्त्वेष निर्धन: सधनोऽपि वा।।**

श्री राम के विषम वियोग में महाराज ने शरीर त्याग दिया। माता कौशल्या सती हो जाना चाहती थी। भरत के अकृत्रिम स्नेह को उन्होंने देखा। भरत के लिए एकमात्र वही आश्रय रह गयी थी। कैकेयी के भवन की ओर भूलकर भी भरत नहीं देखते थे। ऐसे पुत्र के अनुरोध को वे टाल न सकीं। 'गूढ़

सनेह भरत मन माहीं।' श्री भरत लाल के मन में श्रीराम के प्रति जो अपार प्रेम था, उसे माता ने भली प्रकार समझ लिया था। लक्ष्मण को लेकर श्रीराम वन में चले गये हैं। अब मैं तुम्हारा ही मुख देखकर जीवित हूँ। बेटा, तुम्हें यह क्या हो गया? भरत पर उनका श्रीराम की भाँति ही वात्सल्य था। कैकेयी के प्रति कभी दुर्भाव प्रकट नहीं किया। भरत जब भी कैकेयी की भर्त्सना करते तो माता दैव को कारण बताकर उनको निवारित करती। चित्रकूट में माता सुनयना जी ने माता कैकेयी को उनके सामने भला बुरा कहना प्रारम्भ किया तो माता कौशल्या ने बड़ी गम्भीरता से कहा, 'आप तो परम ज्ञानी महाराज विदेह की पत्नी है। आप जानती हैं कि कोई किसी को सुख–दुःख नहीं देता। दैव की प्रेरणा से ही सब कार्य होते हैं। प्राणी तो विवश होकर निमित्त बनता है। उसे दोष देना उचित नहीं।'

जैसे दुःख बिना चाहे प्रारब्धवश आता है, वैसे ही सुख भी बिना चेष्टा किये प्राप्त होता है। चौदह वर्ष एक–एक पल को युग की भाँति काटते हुए किसी प्रकार बीत गये। 'सीता अनुज सहित प्रभु आवज' का समाचार मिला और वे आ भी गये।

माता की समझ में यही नहीं आता था। वे श्रीराम के कमल–कोमल अङ्गों पर हाथ फिरातीं और देखतीं कि कहीं आघात के चिह्न तो नहीं हैं। उनके लिए तो श्रीराम सदा कोमल शिशु रहेंगे।

इस प्रकार माता कौशल्या का चरित्र भारत की अग्रगणी नारियों में एक दृष्टान्त है। पूर्ण जीवन चरित देखने पर हम कह सकते हैं कि प्रारम्भ से ही धार्मिक वृत्ति की थीं और साथ–साथ मन्त्रों की भी ज्ञाता थी, भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों से ओत–प्रोत थीं और जिसे जीवन में धारण भी किया।

# कैकेयी

महारानी कैकेयी रामायण की प्रमुख पात्रा है। रामायण की सारी कथा का केन्द्र बिन्दु ही कैकेयी के चरित्र पर आधारित है। एक ऐसी नारी जिसने लोकोपकार हेतु अपने जीवन को कलङ्कित किया जिसे युगों–युगों तक इतिहास घृणा की दृष्टि से देखेगा।

कैकेय देश आज भी विश्व में अपने नैसर्गिक सौन्दर्य के लिए प्रख्यात है। महाराजा दशरथ ने कैकेय नरेश की राजकुमारी कैकेयी से विवाह किया। जैसा कि वर्णन मिलता है कि महाराज दशरथ ने साढ़े तीन सौ से अधिक विवाह किए। यह इनका अन्तिम विवाह था। छोटी महारानी अत्यन्त पतिपरायणा थी। उनके रूप और गुण ने महाराज के स्नेह को ही आबद्ध कर लिया। महाराज उन्हीं के भवन में रहने लगे।

महारानी कैकेयी के विषय में पुराणों में कथा आती है कि देवराज इन्द्र असुरों को युद्ध में पराजित नहीं कर पाते थे। अन्त में देवगण इन्द्र ने महाराज दशरथ से सहायता माँगी। महाराज जब अमरावती जाने लगे तो वीराङ्गना महारानी कैकेयी ने भी साथ जाने की इच्छा की। पिता के यहाँ उन्होंने शस्त्रचालन सीखा था। वे रथ को भी हाँक लेती थीं। महाराज ने उन्हें साथ ले लिया।

घोर युद्ध करते–करते महाराज श्रान्त हो गए। उन्हें निद्रा आ गयी। अवसर पाकर असुरों ने उनके सारथि को मार डाला। कैकेयी ने आगे बढ़कर रश्मि मुख में ले ली। घोड़ों को भागने से रोककर उन्होंने धनुष चढ़ाया ओर बाण वृष्टि करके पति की रक्षा करने लगी। महाराज सावधान हुए। सारथि दूसरा आया। युद्ध पुनः चला। सहसा कैकेयी ने देखा कि शत्रु के बाण से रथ का धुरा कट गया है। निकट ही था कि धुरा गिर पड़ता। रथचक्र इधर–उधर हो जाता और महाराज भूमि में गिर जाते। कैकेयी ने रथ से कूदकर धुरे के स्थान पर अपनी पूरी भुजा लगा दी। महाराज युद्ध में तन्मय थे। शीघ्र ही दैत्य पराजित होकर भाग गये।

महाराज ने कैकेयी से कहा कि प्रिये, तुमने आज दो बार मेरे प्राणों की रक्षा की है। अतः तुमको जो अभीष्ट हो वे दो वरदान माँग लो। देववैद्यों ने महारानी की आहत भुजा को शीघ्र ही स्वस्थ कर दिया।

महारानी कैकेयी ने कहा कि 'आप मेरे आराध्य हैं। मैं आपकी कुछ सेवा कर सकी, यही मेरे लिए वरदान है। आप मेरे पर प्रसन्न हैं। इसे मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ। कैकेयी के हृदय में पति सेवा के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा नहीं थी। महाराज ने जब बहुत आग्रह किया तो उस समय कैकेयी ने कहा कि 'मुझे जब आवश्यकता होगी, तब माँग लूँगी।'

वाल्मीकि रामायण में है कि रानी कैकेयी के पास एक दासी थी, जो उसके मायके से आयी हुई थी। वह सदा कैकेयी के साथ रहती थी। उसका जन्म कहाँ हुआ था, उसके देश और माता–पिता कौन थे? इसका किसी को पता नहीं था। महाराज ने श्रीराम को अयोध्या का राज्य देने का संकल्प किया और कहा कि कल ही पुष्य नक्षत्र होगा, अत: कल अपने पुत्र कमलनयन श्रीराम का युवराज के पद पर अभिषेक कर देना चाहिए। नगर में अत्यन्त आह्लाद है। पुरवासियों ने श्रीराम के राज्याभिषेक के समय वीथियाँ, राजपथ तोरणों से सजाये गये हैं। शहनाई, शङ्ख बज रहे हैं। कौशल्या जी को तो श्रीराम के सखाओं ने जाकर समाचार दे दिया था, परन्तु कैकेयी को महाराज स्वयं ही रात्रि में प्रिय समाचार सुनाना चाहते थे।

दासी मन्थरा ने महल की छत से सब ओर का दृश्य देखा कि बहुमूल्य पताकाएँ फहरा रही हैं, राजमार्गों पर चन्दन के जल का छिड़काव हो रहा है, ब्राह्मण हर्षनाद कर रहे हैं। चारों ओर वेदमन्त्रों की ध्वनि गूँज रही है। अयोध्या की ऐसी शोभा देखकर मन्थरा को बड़ा आश्चर्य हुआ। कुब्जा के पूछने पर श्रीराम की धाय ने राम के युवराज पद पर अभिषिक्त होने का समाचार सुनाया। यह समाचार सुनकर मन्थरा मन ही मन कुढ़ गयी और गगनचुम्बी प्रासाद से नीचे आ गयी। मन्थरा को इसमें कैकेयी का अनिष्ट दिखायी देता था। वह क्रोध से जल रही थी। वे कैकेयी के पास गयीं और बोली 'आप बड़ी भोली हैं, तुम राजाओं के कुल में उत्पन्न हुई हो और एक महाराज की महारानी हो। फिर भी राजधर्म की उग्रता को कैसे नहीं समझ रही। कल राम को महाराज युवराज पद देने जा रहे हैं।' इष्ट में भी अनिष्ट का दर्शन कराने वाली रोषभरी कुब्जा के इस प्रकार कठोर वचन कहने पर मन में बड़ा दु:ख हुआ। दासी की भावभङ्गिमा पर ध्यान न देकर कैकेयी सहसा शय्या से उठ गयी और यह मङ्गलमय समाचार सुनकर उसका हृदय हर्ष से भर गया। वह शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल की भाँति उद्दीप्त हो उठी –

**मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात् सा शुभानना।**
**उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी।**

कैकेयी मन ही मन अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। विस्मयविमुग्ध हो मुस्कराते हुए उसने कुब्जा को पुरस्कार के रूप में एक बहुत ही सुन्दर दिव्य आभूषण प्रदान किया –

**अतीव सा तु संतुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता।**
**दिव्यामाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्।।**

कुब्जा को यह आभूषण देकर हर्ष से भरी हुई रमणी शिरोमणि कैकेयी ने पुनः मन्थरा से कहा – मन्थरे, यह तूने मुझे बड़ा ही प्रिय समाचार सुनाया। तूने मेरे लिये जो यह प्रिय संवाद सुनाया। इसके लिए में तुम्हारा कौन सा उपकार करूँ। यह है माता कैकेयी के उद्गार। कैकेयी के लिये तो श्रीराम और भरत में कोई भेद नहीं। अतः राम का राज्याभिषेक का समाचार सुनकर कैकेयी की प्रसन्नता का पारावार नहीं –

**रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।**
**तस्मात् तुष्टास्मि यद् राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति।।**

इस प्रिय समाचार को सुनकर कैकेयी मन्थरा को कुछ देना चाहती है। अतः वह कहती है कि तू मुझसे प्रिय वस्तु पाने के योग्य हो। मेरे श्रीराम के अभिषेक सम्बन्धी इस समाचार से बढ़कर दूसरा कोई प्रिय एवं अमृत के समान मधुर वचन नहीं कहा जा सकता। ऐसी परम प्रिय बात तुमने कही है, प्रिय संवाद सुनाने के बाद तू कोई श्रेष्ठ वर माँग ले, मैं उसे अवश्य दूँगी –

**न मे परं किंचिदितो वरं पुनः**
**प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।**
**तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं**
**वरं परं ते प्रददामि तं वृणु।।**

इस प्रकार का जिस माता का प्यार हो, हम कैसे अपेक्षा कर सकते हैं कि उसी माता ने कुछ समय पश्चात् सब कुछ उलट दिया। सब की कोपभाजन बनी। मन्थरा बातचीत करने में बड़ी कुशल थी। उसकी कुटिल बुद्धि तब तक शान्त नहीं हुई, जब तक उसने कैकेयी को राम के विरुद्ध नहीं कर दिया। कैकेयी की निन्दा करते हुए उसने उसके द्वारा दिए आभूषण उठाकर फेंक दिए। कोप तथा दुःख से भरकर कुब्जा ने अनेकों प्रकार के कुटिल वचन कहे। खूब विष–वमन

किया। परन्तु माता कैकेयी ने भी सच्चे हृदय से श्रीराम की प्रशंसा की और महाराज दशरथ के निर्णय को उचित बताया। देवी कैकेयी ने श्रीराम के गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा – कुब्जे, श्रीराम धर्म के ज्ञाता, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र होने के साथ ही महाराज के ज्येष्ठ पुत्र हैं, अतः युवराज होने के योग्य वे ही हैं –

**धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः।**
**रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति।।**

वे दीर्घजीवी होकर अपने भाइयों और भृत्यों का पिता की भाँति पालन करेंगे। कुब्जे, उनके अभिषेक की बात सुनकर तू इतनी जल क्यों रही है? श्रीराम की राज्यप्राप्ति के सौ वर्ष बाद नरश्रेष्ठ भरत को भी निश्चय ही अपने पिता–पितामहों का राज्य मिलेगा। मन्थरे, ऐसे अभ्युदय की प्राप्ति के समय, जबकि भविष्य में कल्याण ही कल्याण दिखायी दे रहा हे, तू इस प्रकार जलती हुई सी संतप्त क्यों हो रही हो?

**भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति।**
**संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम्।।**
**भरतश्च रामस्य ध्रुवं वर्षशतात् परम्।**
**पितृपैतामहं राज्यमवाप्स्यति नरर्षभः।।**
**सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे।**
**भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे।।**

माता कैकेयी का यह कहना कि भरत से बढ़कर श्रीराम मेरे लिए आदर के पात्र हैं क्योंकि श्रीराम कौसल्या से भी बढ़कर मेरी सेवा करते हैं –

**यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।**
**कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु।।**

माता कैकेयी के ये वचन वास्तव में उनके आन्तरिक हृदय से निकले हैं। आज तक उन्होंने राम और भरत में कभी अन्तर ही नहीं समझा, अपितु भरत से अधिक श्रीराम पर स्नेह किया। इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं। अतएव कैकेयी का बार–बार इस कथन की पुष्टि करना कि यदि श्रीराम को राज्य मिल रहा है तो उसे भरत को ही मिला हुआ समझा क्योंकि श्रीरामचन्द्र अपने भाइयों को भी अपने ही समान समझते हैं –

**राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत् तदा।**
**मन्यते हि यथाऽऽत्मानं यथा भ्रातॄंस्तु राघवः।।**

मन्थरा को कैकेयी के इस प्रकार के वचनों को सुनकर बड़ा कष्ट हुआ। उसने भावनात्मक दृष्टि से कैकेयी के हृदय के हर कोनों में अपने बाण चुभाये। मन्थरा ने कहा कि जब श्रीराम को राज्य मिलेगा तब उनके बाद उनके पुत्र को राज्य मिलेगा। भरत तो राजपरम्परा से अलग हो जाएँगे। तुम्हारा पुत्र राज्याधिकार से तो बहुत दूर हटा ही दिया जाएगा। वह अनाथ की भाँति समस्त सुखों से भी वञ्चित हो जाएगा। यदि श्रीराम को निष्कण्टक राज्य मिल गया तो वे भरत को अवश्य ही इस देश से बाहर निकाल देंगे अथवा उन्हें परलोक भी पहुँचा सकते हैं। सुमित्राकुमार लक्ष्मण श्रीराम की रक्षा करते हैं और श्रीराम उनकी। उन दोनों का उत्तम भ्रातृप्रेम तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। अतः श्रीराम लक्ष्मण का तो किञ्चित् भी अनिष्ट नहीं करेंगे। परन्तु भरत का अनिष्ट किये बिना वे नहीं रह सकते। इसमें संशय नहीं है। तुमने पहले पति का अत्यन्त प्रेम प्राप्त होने के कारण घमण्ड में आकर जिनका अनादर किया था, वे ही तुम्हारी सौत श्रीराम माता कौसल्या पुत्र की राज्यप्राप्ति से परम सौभाग्यशालिनी हो उठी है अब वे तुमसे बैर का बदला क्यों नहीं लेंगे।

**दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया।**
**राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत्।।**

याद रखो, जब श्रीराम इस पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त कर लेंगे, तब निश्चय ही तुम्हारे पुत्र भरत नष्टप्राय हो जाएँगे। अतः ऐसा कोई उपाय सोचो, जिससे तुम्हारे पुत्र को राज्य मिले और शत्रुभूत श्रीराम को वनवास हो जाए –

**यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यते**
**ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति।**
**अतो हि संचिन्तय राज्यमात्मजे**
**परस्य चैवास्य विवासकारणम्।।**

मन्थरा के ऐसा कहने पर कैकेयी की बुद्धि भ्रमित हो गयी। ''मैं विष खाकर मर जाऊँगी, परन्तु सपत्नी की दासी बनकर नहीं रहूँगी।'' दुष्टों के अमङ्गलमय वचन पवित्र हृदयों को कलुषित कर देते हैं। फिर यहाँ तो राम की इच्छा से रामकाज कराने के लिए भगवती सरस्वती ने कैकेयी की मति फेर दी और कुब्जा की जिह्वा पर जा बैठी। उसका अपने पुत्र भरत के लिए ममत्व जाग

उठा और निश्चय कर लिया कि मैं श्रीराम को शीघ्र ही यहाँ से वन में भेजूँगी और तुरन्त ही युवराज के पद पर भरत का अभिषेक कराऊँगी। इसके लिए उपाय सोचने लगी कि किस उपाय से अपना अभीष्ट साधन करुँ? कैकेयी के ऐसा कहने पर पाप का मार्ग दिखाने वाली मन्थरा श्रीराम के स्वार्थ पर कुठाराघात करती हुई कैकेयी से बोली कि तुम मेरी बात सुनो, जिससे केवल तुम्हारे पुत्र भरत ही राज्य प्राप्त करेंगे। मन्थरा ने कैकेयी को देवासुर संग्राम का स्मरण कराया कि किस प्रकार महाराज ने तुम्हें दो वरदान देने का कहा। उस समय तुमने अपने पति से कहा कि समय आने पर माँग लूँगी। देवि, मैं इस कथा को नहीं जानती थी। पूर्वकाल में तुम्हीं ने मुझसे यह वृत्तान्त कहा था –

**तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने।**
**स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरम्।।**
**गृह्णीयां तु तदा भर्तस्तथेत्युक्तं महात्मना।**
**अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा।।**

अब समय आ गया है। तुम उन दोनों वरों को अपने स्वामी से माँगो। एक वर के द्वारा भरत का राज्याभिषेक और दूसरे के द्वारा श्रीराम का चौदह वर्ष का वनवास माँग लो –

**तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम्।**
**प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश।।**

कुब्जा ने कैकेयी को आगे का सारा मार्ग दिखाया कि महाराज बहुत दुःखी होंगे। अनेक प्रकार से अनुनय–विनय करेंगे। यदि आप तनिक भी झुकीं तो काम बिगड़ जाएगा। उस दुष्टा ने भलीभाँति अपना विष उस सरला राजमहिषी के हृदय में भर दिया।

वाल्मीकि रामायण में काफी विस्तृत वर्णन किया है कि किस प्रकार कुब्जा ने आगे की सारी योजना भी बतायी। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि कैकेयी तुम अपने पति की बड़ी ही प्यारी रही हो। तुम्हारे लिए महाराज आग में भी प्रवेश कर सकते हैं। वे न तो तुम्हें कुपित कर सकते हैं और न कुपित अवस्था में तुम्हें देख सकते हैं। राजा दशरथ तुम्हारा प्रिय करने के लिए अपने प्राणों का भी त्याग कर सकते हैं। राजा दशरथ जब स्वयं तुम्हें धरती से उठाकर वर देने को उद्यत हो जायँ, तब उन महाराज को सत्य की शपथ दिलाकर खूब पक्का करके उनसे वर माँगना। जिस समय श्रीराम वन से लौटेंगे उस समय तक

तुम्हारे पुत्र भरत भीतर बाहर से दृढ़मूल हो जाएँगे। उनके पास सैनिक बल का भी संग्रह हो जाएगा। जितेन्द्रिय तो वे हैं ही, अपने सुहृदों के साथ रहकर दृढ़मूल हो जायँगे। ऐसी बात कहकर मन्थरा ने कैकेयी की बुद्धि में अनर्थ को ही अर्थरूप में जँचा दिया। यद्यपि वह बहुत समझदार थी, तो भी कुबरी के कहने से नादान बालिका कीं तरह कुमार्ग पर चली गयी, अनुचित काम करने को तैयार हो गयी। अब वह कुब्जा की प्रशंसा करने लगी। जिस कैकेयी ने पहले राम का राज्याभिषेक का समाचार सुनकर कुब्जा को आभूषण दिए थे। वही कैकेयी आज भरत को राज्य दिलवाने और श्रीराम को वनवास देने की मन्थरा की सलाह पर उसे पारितोषिक दे रही है। कितना विरोधाभास हो गया कैकेयी के चरित्र में। पल भर में सब कुछ बदल गया। कैकेयी कह रही है कि हित की बात बताने में कुशल कुब्जे, तू एक श्रेष्ठ स्त्री है, मैं तेरी बुद्धि की अवहेलना नहीं करूँगी। बुद्धि के द्वारा किसी कार्य का निश्चय करने में तू इस पृथ्वी पर सभी कुब्जाओं में उत्तम है। केवल तू ही मेरी हितैषिणी है और सदा सावधान रहकर मेरा कार्य सिद्ध करने में लगी रहती है। असुरराज शम्बर को जिन सहस्रों माया का ज्ञान है, वे सब तेरे हृदय में स्थित है। इन मायाओं का समुदाय ही तेरा यह बड़ा सा कुब्बड़ है, जो रथ के नकुए के समान बड़ा है। इसी में तेरी मति, स्मृति और बुद्धि, क्षत्रविद्या (राजनीति) तथा नाना प्रकार की मायाएँ निवास करती हैं। कुब्जे, तेरे मुख पर सुन्दर और विचित्र सोने का टीका लगवा दूँगी और बहुत से सुन्दर आभूषण एवं दो उत्तम वस्त्र धारण करके देवाङ्गना के समान विचरण करेगी। सुन्दरी कुब्जे, यदि भरत का राज्याभिषेक हुआ और श्रीराम वन को चले गये तो मैं सफल मनोरथ एवं सन्तुष्ट होकर अच्छी जाति के खूब तपाये हुये सोने की बनी हुई सुन्दर स्वर्णमाला तेरे इस कुब्बड़ को पहनाऊँगी और चन्दन का लेप लगाऊँगी —

**मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपमयं शुभम्।।**
**कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च**
**परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि।।**
**अत्र तेऽहं प्रमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम्।**
**अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते।**
**जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन सुन्दरि।।**
**लब्धार्था च प्रतीता च लेपयिष्यमि ते स्थगु।।**

कैकेयी कुब्जा की बातों के वशीभूत हो गयी थी, अतः वह धरती पर लेटकर मन्थरा से इस प्रकार बोली – मुझे न तो सुवर्ण से, न रत्नों से और न भाँति–भाँति के भोजनों से कोई प्रयोजन है। यदि राम का राज्याभिषेक हुआ तो मेरे जीवन का अन्त होगा। अब या तो श्रीराम के वन में चले जाने पर भरत को इस भूतल का राज्य प्राप्त होगा अथवा तू यहाँ महाराज को मेरी मृत्यु का समाचार सुनायेगी। अत्यन्त कठोर वचन कहकर कैकेयी ने सारे आभूषण उतार दिए और बिना बिस्तर के ही वह खाली जमीन पर लेट गयी। उस समय वह स्वर्ग से भूतल पर गिरी हुई किसी किन्नरी के समान जान पड़ती थी। मलिन वस्त्र पहनकर और सारे केशों को दृढ़तापूर्वक एक ही वेणी में बाँधकार कोपभवन में पड़ गयी।

सन्ध्या हुई। महाराज दशरथ ने सोचा कि आज राम के राज्याभिषेक की बात प्रसिद्ध हो गयी है। यह समाचार अभी किसी भी रानी को मालूम नहीं होगा, ऐसा विचारकर महाराज ने अपनी प्यारी रानी को प्रिय संवाद सुनाने के लिए बड़े उल्लास से कैकेयी के भवन में पधारे। रानी को कोपभवन में देखकर बड़ा खेद हुआ। वहाँ जाकर उन्होंने **'भामिनी भयउ तोर मन भावा'** कहकर उन्होंने श्रीराम के राज्याभिषेक का समाचार दिया।

वाल्मीकि जी लिखते हैं कि राजा बूढ़े थे और उनकी पत्नी तरुणी थी, अतः वे उसे अपने प्राणों से भी बढ़कर मानते थे। राजा के मन में कोई पाप नहीं था, परन्तु कैकेयी अपने मन में पापपूर्ण सङ्कल्प लिये हुए थी। कपटपूर्ण मुस्कान से कैकेयी ने दोनों वरदान न देने के लिए महाराज को उलाहना दिया। महाराज ने श्रीराम की शपथ करके अभीष्ट वर माँगने को कहा। दशरथ ने कहा कि भामिनी, तुम अपना रोग बताओ। मेरे यहाँ बहुत से चिकित्सा कुशल वैद्य हैं। वे तुम्हें सुखी कर देंगे। अथवा कहो आज किसका प्रिय करना है अथवा किसने तुम्हारा अप्रिय किया है, तुम्हारे किस उपकारी को आज प्रिय मनोरथ प्राप्त हो अथवा किस अपकारी को अत्यन्त अप्रिय–कठोर दण्ड दिया जाएगा। जहाँ तक सूर्य चक्र घूमता है, वहाँ तक सारी पृथ्वी मेरे अधिकार में है। द्रविड़, सिन्धु, सौबीर, सौराष्ट्र, दक्षिण भारत के सारे प्रदेश तथा अङ्ग, बङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी और कोसल – इन सभी समृद्धिशाली देशों पर मेरा आधिपत्य है। अतः उन पर पैदा होने वाले भाँति–भाँति के द्रव्य, धन्य–धान्य, जो भी मन से लेना चाहती हो, वह मुझसे माँग लो –

**यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा।।**
**द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः।**
**वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः।।**
**तत्र जातं बहु द्रव्यं धनधान्यमजाविकम्।**
**ततो वृणीष्व कैकेयि यद् यत् त्वं मनसेच्छसि।।**

राजा के इस प्रकार कहने पर कैकेयी को कुछ सान्त्वना मिली। अब उसे अपने स्वामी से वह अप्रिय बात कहने की इच्छा हुई। उसने अपने पति को आधिक पीड़ा देने की बात कही –

**तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम्।**
**परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे।।**

महाराज के श्रीराम की शपथ करके अभीष्ट वर माँगने को कहा। 'राम के स्थान पर भरत युवराज हों।' महाराज को इस वरदान से आश्चर्य तो हुआ, किन्तु विशेष कष्ट न हुआ –

**तौ तावदहमद्यैपव वक्ष्यामि शृणु मे वचः।**
**अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः।।**
**अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम्।।**

दूसरा वरदान तो वज्रपात ही था –

**तापस वेस बिसेष उदासी। चौदह बरिस राम बनवासी।।**

महाराज को विश्वास ही नहीं हुआ कि जिन राम की कैकेयी सदा प्रशंसा करती रहती थीं, उनके सम्बन्ध में अप्रिय माँग क़र रही है –

**नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः।।**
**चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः।**
**भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम्।**

दूसरे वरदान को सुनकर महाराज का पूछना, रोना, विनय करना व्यर्थ था। कैकेयी तीक्ष्णतम कटूक्तियाँ सुनाती गयीं। तुलसीदास लिखते हैं –

**भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं।**
**दुइ कि होहिं एक संग भुआलू। हँसब ठठाइ फुलाउब गालू।।**
**सत्य सराहि कहेउ बर देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना।।**

प्रतिशोध एवं स्वार्थ की भावना मनुष्य को कितना निष्ठुर, कितना विवेकहीन बना दे देती है, यह हम कैकेयी के चरित्र में प्रत्यक्ष देखते हैं। वही पति जिनकी सेवा

करना वह अपना सौभाग्य समझती थी, आज रोते, चिल्लाते, क्रन्दन करते और करते बार–बार मूर्च्छित होते हैं और वह पाषाणी बनी चुपचाप तटस्थ बैठी है। महाराज ने भी कैकेयी से अनेक कटु वचन कहे – ''दयाहीन दुराचारिणी कैकेयि! तू इस कुल का विनाश करने वाली डाइन है। पापिनि! बता मैंने अथवा श्रीराम ने तेरा क्या बिगाड़ा है? श्रीराम तेरे साथ सदा सगी माता का सा बर्ताव करते आये हैं, फिर तू किसलिए उनका इस तरह अनिष्ट करने पर उतारू हो गयी है। ऐसा लगता है कि मैंने अपने विनाश के लिये ही तुझे अपने घर में लाकर रखा था। मैं नहीं जानता कि तू राजकन्या के रूप में तीखे विषवाली नागिन है। मैं कौशल्या और सुमित्रा को छोड़ सकता हूँ, राजलक्ष्मी का भी परित्याग कर सकता हूँ, परन्तु अपने प्राणरूप पितृभक्त श्रीराम को नहीं छोड़ सकता। देवी, न्यायशील, इक्ष्वाकुवंश में यह बड़ा भारी अन्याय आकर उपस्थित हुआ है जहाँ तेरी बुद्धि इस प्रकार विकृत हो गई है। श्रीराम के बिना मेरे शरीर में प्राण नहीं रह सकते। मैं तेरे प्रथम वर के अनुसार भरत का राज्याभिषेक स्वीकार करता हूँ। सत्य, दान, तप,त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या, गुरुशुश्रुषा – सभी सद्गुण श्रीराम में स्थिर रूप से रहते हैं। सारी प्रजा उन्हें चाहती है। फिर तू महर्षियों के समान तेजस्वी उन सीधे–सादे देवतुल्य श्रीराम का क्यों अनिष्ट करना चाहती है? परन्तु कैकेयी का दशरथ की बातों का कुछ असर नहीं हुआ। उलटे वह व्यङ्ग्यबाणों से महाराज को विद्ध करती है और यहाँ तक कहती है कि अब धर्म हो या अधर्म, झूठ हो या सच, जिस बात के लिये आपने मुझसे प्रतिज्ञा कर ली है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि श्रीराम का राज्याभिषेक होगा तो मैं आपके सामने आपके देखते–देखते आज ही बहुत सा विष पीकर मर जाऊँगी–

**अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु त्वाग्रतः।**
**पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते।।**

यदि मैं एक दिन भी राममाता कौशल्या को राजमाता होने के नाते दूसरे लोगों से अपने को हाथ जोड़वाती देख लूँगी तो उस समय मैं अपने लिये मर जाना ही अच्छा समझूँगी –

**एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम्।**
**अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम।।**

नरेश्वर, मैं आपके सामने अपनी और भरत की शपथ खाकर कहती हूँ कि श्रीराम को इस देश से निकाल देने के सिवा दूसरे किसी वर से मुझे सन्तोष

नहीं होगा। देवी कैकेयी के उस घोर, निश्चय और किए हुए शपथ की ओर ध्यान जाते ही वे 'हा राम' कहकर लम्बी साँस खींचते हुए मूर्छित हो गिर पड़े।

प्रात: महाराज को उठने में विलम्ब होता देख महामन्त्री सुमन्त्र अन्त:पुर में उपस्थित हुए। कैकेयी ने उन्हें श्रीराम को शीघ्र बुला लाने का आदेश दिया। महाराज ने श्रीराम से स्वयं कुछ नहीं कहा। वे उन्हें अङ्क में लेकर अश्रुधार बहाते रहे। कैकेयी ने सब कुछ कहा। उसने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए श्रीराम की पितृभक्ति की प्रशंसा की –

**राउ जान बन कहहिं कि काउ।**

कैकेयी ने कहा कि महाराज अपने मुख से तो तुम्हें वन जाने की बात कह नहीं सकते। तुम यदि पिता को असत्य बोलने से बचाना चाहो तो वैसा करो। तुम पिता की आज्ञा के अधीन रहो। जैसी इन्होंने प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार तुम्हें चौदह वर्षों के लिए वन में प्रवेश करना चाहिए। रघुनन्दन तुम्हारे लिए जो यह अभिषेक का सामान जुटाया है, उस सबके द्वारा यहाँ भरत का अभिषेक किया जाये और तुम इस अभिषेक को त्यागकर चौदह वर्षों तक दण्डाकरण्य में रहते हुए जटा और चीर धारण करो। कितना निष्ठुर हो जाता है हृदय में स्वार्थ के प्रवेश करते ही। माता से विदा लेकर श्रीराम भाई लक्ष्मण तथा जानकी जी के साथ पुन: पिता के पास लौटे तो कैकेयी ने तीनों के लिए वल्कलादि लाकर तुरन्त सम्मुख रख दिया। उसे शीघ्रता पड़ी थी। स्वार्थी हृदय बड़ा शङ्कालु होता है। उसे भय था किसी बहाने राम रुक न जाएँ। गुरुजनों की भर्त्सना, सखियों की शिक्षा तथा मुनि पत्नियों के आदेश उसे विष–जैसे प्रतीत हो रहे थे।

महामन्त्री सुमन्त्र ने भी महारानी कैकेयी को कटु वचन कहे, परन्तु कैकेयी टस से मस नहीं हुई। राजा दशरथ ने श्रीराम के साथ खजाना तथा सेना भेजने का आदेश दिया, परन्तु कैकेयी ने इसका भी विरोध किया। उसने कहा कि जिसका सारभाग पहले से ही पी लिया गया हो उसे आस्वाद हित सुरा को जैसे उसका सेवन करने वाले लोग नहीं ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार धनहीन और सूने राज्य को, जो कदापि सेवन करने योग्य नहीं रह जायेगा, भरत कदापि नहीं ग्रहण करेंगे –

**राज्यं गतधनं साधो पीतमण्डां सुरामिव।**
**निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते।।**

महाराज आपके ही वंश में पहले राजा सगर हो गए हैं, जिन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज को निकालकर उसके लिए राज्य का दरवाजा सदा के लिए

बन्द कर दिया था। इस तरह इनको भी यहाँ से निकल जाना चाहिये। कैकेयी अपने कथन के अनौचित्य को अथवा राजद्वारा दिये गये धिक्कार के औचित्य को नहीं समझ सकी।

श्रीराम के वियोग में महाराज ने शरीर छोड़ दिया। अयोध्या में हाहाकार मच गया। कैकेयी की आँखों में आँसू नहीं थे। वृद्ध पति शोकावेग में चले गये तो कोई बात नहीं हुई। उन्होंने सौभाग्य सूचक वस्त्राभरण उतार दिए, किन्तु उनका उत्साह शिथिल नहीं हुआ। बड़े उत्साह से भरत की प्रतीक्षा कर रही थी। महाराज के न रहने से उनका पुत्र युवराज के स्थान पर महाराज होगा। वह राजमाता होगी। भरत के आने का समाचार सुनकर बड़ी उमंग से आरती सजाकर स्वागत को बढ़ी थी।

पिता के परलोकवास और दोनों भाइयों के वनवास का समाचार सुनकर भरत दुःख से सन्तप्त हो उठे और कैकेयी को धिक्कारने लगे – जिस श्रीराम से प्राणिमात्र प्रेम करते हैं, वही तुझे शत्रु प्रतीत हुए। तू मानवी तो है नहीं। कौन है तू? जिस भरत पर सभी आशाएँ थीं, उन्होंने दूध की मक्खी की भाँति निकाल फेंका–

**जो हसि सो हसि मुह मसि लाईं। लोचन ओट बैठु किन जाई।।**

कैकेयी ने यह कल्पना भी नहीं की थी कि उसका अपना पुत्र इस प्रकार अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करेगा। भरत ने उन्हें 'माँ' तक कहना भी छोड़ दिया। उनके भवन की ओर भूलकर भी नहीं देखते। 'राज्य के लोभ में पड़कर क्रूरतापूर्ण कर्म करने वाली दुराचारिणी, पतिघातिनि, तू माता के रूप में मेरी शत्रु है। तुझे मुझसे बात नहीं करनी चाहिए।' जिन कौशल्या से प्रतिशोध लेना था, भरत की दृष्टि में उनका आदर माँ से अधिक हो गया। जिस पुत्र के लिए सब किया, वह अहर्निश रोता है, धूलि में लौटता है। वह स्वयं कैकेयी का पुत्र होने के लिए अपने को बार–बार कोसता है।

भाग्य का खेल देखिए कि एक दिन जिसका सबसे अधिक गौरव था, सब सेवक जिसके इशारे पर थे, जिसकी कृपा प्राप्ति के लिए सभी लालायित रहते थे, आज परिस्थिति यह है कि उसे उसके मुख पर ही सभी राक्षसी, पतिघातिनी, आदि कहते हैं। सेवक तक उसकी बात नहीं सुनते। लोग उसका मुख तक नहीं देखना चाहते। किसी से बोलने में उसे बड़ा भय प्रतीत होता है। पग–पग पर उसका अपमान होता है। क्या करे? किससे कहे? अपने ही किये पर मन मारकर उसे पश्चाताप करना था। सब कुछ सहने के अतिरिक्त कोई भी दूसरा मार्ग नहीं था।

भरत ने पिता की अन्त्येष्टि के पश्चात् वन जाकर श्रीराम को लौटाने का निश्चय किया। सभी भरत के साथ जाने को उद्यत थे। कैकेयी के मन में भी एक आशा थी कि 'मैंने चाहे जो किया है, परन्तु राम बड़े सुशील हैं। वे मुझे बहुत मानते हैं। अवश्य क्षमा कर देंगे।' वन में लोगों के साथ चलने की प्रबल इच्छा थी। कहे किससे? जिससे कहेगी, वही तिरस्कार से हँसी उड़ावेगा। अन्त में महारानियों में से जो एक दिन सर्वश्रेष्ठ थी, वही अकेली, डरते–डरते दासी की भाँति सुमित्रा के पास गयीं और उनके पैरों पर गिरकर फूट–फूटकर रोने लगीं। सुमित्रा जी ने बहिन कहकर उन्हें उठाया और आश्वासन दिया। कैकेयी ने ही श्रीराम को वन भेजा है। उसके आदेश के बिना वे लौटेंगे कैसे? जब भरत ने कैकेयी को साथ ले चलना स्पष्ट अस्वीकार दिया तो सुमित्रा जी ने नीतिपूर्वक उनकी स्वीकृति प्राप्त की। चित्रकूट पहुँचने से पहले भरत जी भारद्वाज जी के आश्रम में गये। भरद्वाज जी के पूछने पर भरत जी आपनी माताओं का परिचय कराते हैं। सर्वप्रथम माता कौशल्या का परिचय देते हैं कि भगवन् आप जिन्हें शोक और उपवास के कारण अत्यन्त दुर्बल एवं दुःखी देख रहे हैं, जो देवी सी दृष्टिगोचर हो रही हैं, ये मेरे पिता की सबसे बड़ी महारानी कौशल्या हैं। जैसे अदिति ने धाता नामक आदित्य को उत्पन्न किया था, उसी प्रकार इन कौशल्या देवी ने सिंह के समान पराक्रम सूचक गति से चलने वाले पुरुषसिंह श्रीराम को जन्म दिया है।

इनकी बायीं बाँह से सटकर जो उदास मन से खड़ी हैं तथा दुःख से आतुर हो रही हैं और आभूषण शून्य होने से वन के भीतर झड़े हुए पुष्पवाली कनेर की डाली के समान दिखायी देती है, ये महाराज की मझली रानी देवी सुमित्रा है। सत्य पराक्रमी वीर तथा देवताओं के तुल्य कान्तिमान् वे दोनों भाई– राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन्हीं सुमित्रा देवी के पुत्र हैं।

अब कैकेयी का परिचय देते हैं कि जिसके कारण पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण के प्राण सङ्कट की अवस्था में जा पहुँचे हैं तथा राजा दशरथ पुत्र वियोग का कष्ट पाकर स्वर्गवासी हुए हैं, जो स्वभाव से ही क्रोध करने वाली, अशिक्षित बुद्धिवाली, गर्वीली, अपने–आपको सबसे अधिक सुन्दरी और भाग्यवती समझने वाली तथा राज्य का लोभ करने वाली है, जो शक्ल सूरत से आर्या होने पर भी वास्तव में अनार्या हैं, इस कैकेयी को मेरी माता समझिये। यह बड़ी ही क्रूर और पापपूर्ण विचार रखने वाली है। मैं अपने ऊपर जो महान् संकट आया हुआ

देख रहा हूँ, इसका मूल कारण यही है।

इस प्रकार बड़ी रोषपूर्ण वाणी से भरत ने अपनी माता के लिए कटु वचन कहे। यहाँ भविष्यद्रष्टा ऋषि भरद्वाज जी ने कहा कि तुम कैकेयी के प्रति दोष दृष्टि न करो। श्रीराम का वनवास भविष्य में बड़ा ही सुखद होगा –

**न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया।**
**रामप्रवाजनं ह्येतत् सुखोदर्कं भविष्यति।।**

यहाँ पर कैकेयी पर लगे गये कलङ्क में प्रथम बार महर्षि भरद्वाज ने लोकमङ्गल का भविष्य देखा। इतने बड़े ऋषि की वाणी कभी असत्य नहीं हो सकती।

चित्रकूट पहुँचकर भी कैकेयी का सहसा श्रीराम के सन्मुख जाने का साहस नहीं हुआ। वह एक वृक्ष की ओट में छुप गयी। पूछने पर भी जब भरत जी ने कैकेयी के सम्बन्ध में मौन धारण कर लिया तो श्रीरघुनाथ जी ने स्वयं अन्वेषण करके उनके चरणों में 'माँ' कहकर सिर रक्खा।

'मैं राक्षसी हूँ। मैंने अपने कुसुम–सुकुमार बच्चे को वन में भेज दिया।' कहकर फूट–फूट कर रोने लगी।

जानकी जी के प्रणाम करने पर तो वह विह्वल हो गयीं। उन्होंने अपने अश्रुओं से वैदेही के मस्तक को भिगो दिया। वह बोली 'बेटी! तुझे पहनने को वल्कल देते समय मेरा हृदय फट नहीं गया। बहुत हो चुका, तू अब लौट। वन में मैं वास करूँगी और अपने पापों का प्रायश्चित करूँगी।'

आज अपने ही द्वारा किए गए कर्मों की अग्नि में कैकेयी का हृदय जल रहा है। उसके मन की व्यथा की कल्पना करना भी सहज नहीं है। जिस पुत्र के लिए कैकेयी ने सब किया, वह पुत्र भी आज उसका नहीं। 'आप क्षमाशील हैं, करुणाधाम हैं। मेरे अपराधों को क्षमा कर दें। मेरा हृदय अपने पाप से दग्ध हो रहा है।'

महर्षि वशिष्ठजी ने भरत को बताया था कि श्रीराम साक्षात् परात्पर ब्रह्म हैं और देवकार्यों के लिए उन्होंने मनुष्य शरीर धारण किया है, तो कैकेयी ने भी एक ओर बैठकर यह उपदेश सुना था। जब भरत जी ने श्रीराम से वापिस लौटने की बहुत अनुनय–विनय की और स्वयं वन में रहने के लिए आग्रह करने लगे। तब श्रीराम ने कहा कि 'मुझे वनवास के लिए किसी को प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि सामर्थ्य रहते हुए प्रतिनिधि से काम लेना लोक में निन्दित है। कैकेयी ने उचित माँग ही प्रस्तुत की थी और मेरे पिताजी ने उसे देकर पुण्य कर्म ही किया था –

**उपाधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सित:।**
**युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम्।।**

श्रीराम भरत को लौट जाने के लिए कहते हैं और कहते हैं कि माता कैकेयी ने कामना से अथवा लोभवश तुम्हारे लिए जो कुछ किया है, उसको मन में न लाना और उसके प्रति सदा वैसे ही बर्ताव करना जैसा अपनी पूजनीया माता के प्रति करना उचित है –

**कामाद् वा तात् लोभाद् वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।**
**न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्।।**

तत्पश्चात् श्रीराम ने शत्रुघ्न को वक्षस्थल से लगाकर उन्हें भी कहा कि 'रघुनन्दन! मैं तुम्हें अपनी और सीता की शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम माता कैकेयी की रक्षा करना, उनके प्रति क्रोध न करना – इतना कहते–कहते उनकी आँखों में आँसू उमड़ आये। उन्होंने व्यथित हृदय से भाई शत्रुघ्न को विदा किया–

**मातरं रक्ष कैकेयी मा रोषं कुरु तां प्रति।।**
**मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।**
**इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह।।**

तुलसीदास जी लिखते हैं कि कैकेयी ने तो यहाँ तक कहा कि मेरे अनुनय–विनय करने पर भी आज धरती फट नहीं रही है जिसमें मैं समा जाऊँ।

जब श्री भरत जी भगवान् की चरण–पादुका लेकर अयोध्या के लिए विदा होने लगे तो एकान्त पाकर माता कैकेयी ने अश्रु भरे नेत्रों से श्रीराम से प्रार्थना की। उस समय श्रीराम ने कहा कि 'आपने कोई अपराध नहीं किया है। देवताओं ने सरस्वती भेजकर मन्थरा की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न कर दिया था और मेरी भी ऐसी ही इच्छा थी।' श्रीराम ने माता को आदर देते हुए समझाया 'देवकार्य के लिए मेरा वन आना आवश्यक था। मेरी ही इच्छा से आप इसमें निमित्त बनी हैं। आपने कोई भी अपराध नहीं किया है। सम्पूर्ण संसार की निन्दा, सदा के लिए अपयश लेकर आपने मेरे कार्य को पूर्ण होने में योग दिया है। मैं आपसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आप आनन्द से अयोध्या लौटें। श्रीभगवान् का भजने करने में चित्त लगावें। आपकी आसक्ति का नाश हो गया है। अपमान तथा घृणा ने आपके प्रबल अहङ्कार को नष्ट कर दिया है। आप निश्चय ही भगवद्धाम प्राप्त करेंगी।'

चौदह वर्ष वनवास की अवधि समाप्त होने पर जब प्रभु अयोध्या लौटे

तो उस समय सर्वप्रथम माता कैकेयी से मिले। श्रीराम जी से मिलते समय कैकेयी हृदय में बहुत सकुचायी –

**रामहि मिलत कैकेई हृदयँ बहुत सकुचानि।**

धन्य है कैकेयी जैसी नारी, जिन्होंने लोक कल्याणार्थ अपने को कलङ्कित किया। कैकेयी का पातिव्रत्य धर्म, मातृत्व धर्म भी भारतीय संस्कृति परम्परा का अनूठा उदाहरण है।

# सुमित्रा

**उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।**
**सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते।।**

देवी सुमित्रा महाराज दशरथ की महारानी कौशल्या से छोटी और महारानी कैकेयी से बड़ी रानी थी। माँ सुमित्रा को दो पुत्रों लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त होने पर अग्नि द्वारा प्राप्त चरु का आधा भाग कौशल्या को दे दिया। शेष का आधा कैकेयी को प्राप्त हुआ। चतुर्थांश जो शेष था, उसके दो भाग करके महाराज ने एक कौशल्या तथा दूसरा कैकेयी के हाथों पर रख दिया। दोनों महारानियों ने अपने–अपने वे भाग सुमित्रा जी को प्रदान किये। समय पर माता सुमित्रा ने दो हेमगौर तेजस्वी पुत्र प्राप्त किये। उनमें से कौशल्या जी के दिये गये भाग के प्रभाव से लक्ष्मण जी श्रीराम के तथा कैकेयी जी के दिये गये भाग के प्रभाव से शत्रुघ्न भरत लाल के अनुगामी हुये। यों चारों कुमारों को रात्रि में माता सुमित्रा की गोद में ही निद्रा आती थी। सबकी सुख–सुविधा, लालन–पालन, क्रीडा का प्रबन्ध माता सुमित्रा ही करती थीं।

वाल्मीकि रामायण में तो नहीं मिलता परन्तु गोस्वामी तुलसीदास जी ने गीतावली में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। अनेक बार माता कौशल्या श्रीराम को अपने पास सुला लेतीं। रात्रि में जागने पर वे रोने लगते। माता रात्रि में ही सुमित्रा जी के भवन में पहुँचकर कहतीं 'सुमित्रा, अपने राम को लो। इन्हें तुम्हारी गोद के बिना निद्रा ही नहीं आती। देखो रो–रोकर आँखें लाल कर ली हैं।' श्रीराम सुमित्रा जी की गोद में जाकर चुप हो जाते।

राजसदन के समस्त प्रबन्ध का निरीक्षण, दास–दासियों की नियुक्ति, पूजा तथा दान के लिए सामग्रियों को प्रस्तुत करना, अतिथियों को आमन्त्रण देना, दैनिक एवं नैमित्तिक उत्सवों, पूजादिकों की व्यवस्था करना, सब कार्यों का दायित्व सुमित्रा जी ने अपने ऊपर ले लिया था। श्रीराम जी प्रातः उठकर पिता तथा माताओं को प्रणाम करते।

पिता से वनवास की आज्ञा पाकर श्रीराम ने माता कौशल्या से तो आज्ञा ली, परन्तु सुमित्रा जी के समीप वे स्वयं नहीं गये। वहाँ उन्होंने लक्ष्मण जी को

भेजा। प्रश्न उठता है क्यों? माता कौशल्या अपने पुत्र को रोककर कैकेयी से विरोध नहीं कर सकती थी। शास्त्रानुसार माता की अपेक्षा विमाता कैकेयी अधिक सम्मान्य थीं। सुमित्रा के सम्बन्ध में यह बात नहीं थी। यदि न्याय का पक्ष लेकर ये तेजस्विनी अड़ जाएँ तो क्या होगा? वे श्रीराम को वन न जाने की आज्ञा निसंकोच दे सकती थी। उनके रुष्ट होने पर कोई भी उनके प्रतिकार करने में समर्थ नहीं था। लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों माता के आज्ञाकारी थे। इस प्रकार की असमंजसमयी स्थिति से बचने के लिए श्रीराम सुमित्रा जी से आज्ञा लेने नहीं गये। श्री रामचरितमानस में आया है कि सुमित्रा जी ने श्रीराम जी और श्रीसीता जी के रूप, सुन्दर शील और स्वभाव को समझकर और उन पर राजा का प्रेम देखकर अपना सिर धुना और कहा कि पापिनी कैकेयी ने बुरी तरह घात लगाया–

**समुझि सुमित्राँ राम सिय रूप सुसीलु सुभाउ।**
**नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ।**

कुअवसर जानकर धैर्य धारण किया। श्री लक्ष्मण जैसे तेजस्वी भक्त को बनाने में सुमित्रा की माँ की प्रेरणा नहीं, इसे कौन चतुर मान सकता है? माता का हृदय अपनी सम्पूर्ण शक्तियों तथा अभिलाषाओं सहित पुत्र की शुभकामना पर आश्रित रहता है, वह अपने पुत्र के जीवन को उज्ज्वल और सुखमय बनाने की कल्पना के सहारे ही जीवनयापन करती है। आज जा रहे हैं भगवान् राम वन को, लक्ष्मण भी साथ जाने की प्राण–पण से चेष्टा करते हैं, राघवेन्द्र बहुत से तर्क करते हैं, पर उन सबका एक उत्तर उन्हें मिला –

**धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।।**
**मैं सिसु प्रभु स्नेह प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला।।**

अन्त में प्रभु हारकर कहते हें –

**मागहु बिना मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई।।**

शङ्कित हृदय से लक्ष्मण माता के निकट पहुँचते हैं। माता ने देखा लक्ष्मण का म्लान मुख। आश्चर्य, लक्षण और दु:खित। फिर आज जब राघवेन्द्र का राज्याभिषेक होने वाला है। किसी अज्ञात अशंका से उनका हृदय काँप उठा। फिर धैर्य धारण करके पूछती हैं, उनसे उदासी का कारण। उत्तर में –

**लखन कही सब कथा विसेषी।**

एक बार सुमित्रा माता हतबुद्धि सी हो जाती हैं, फिर प्रश्नसूचक दृष्टि से लक्ष्मण की ओर देखने लग जाती हैं। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि ऐसी स्थिति

में राम को छोड़ लक्ष्मण जी को यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? लक्ष्मण जी ने बताया 'आज्ञा लेने आया हूँ।' लक्ष्मण जी द्वारा आज्ञा माँगने पर माता सुमित्रा ने जो उपदेश दिया वह उनके विशाल हृदय का विशद परिचय और कहीं भी प्राप्त होना दुर्लभ है। माता ने कहा कि तुम अपने सहृद् श्रीराम के परम अनुरागी हो, इसलिए मैं तुम्हें वनवास जाने के लिये विदा करती हूँ। अपने बड़े भाई के वन में इधर–उधर जाते समय तुम उनकी सेवा में प्रमाद न करना। ये संकट में हो या समृद्धि में, ये ही तुम्हारी परम गति है। निष्पाप लक्ष्मण! संसार में सत्पुरुषों का यही अर्थ है कि सर्वदा अपने बड़े भाई की आज्ञा के अधीन रहें–

**सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।**
**रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति।।**
**व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेव तवानघ।**
**एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशमो भवेत्।।**

दान देना, यज्ञ में दीक्षा गहण करना और युद्ध में शरीर त्यागना – यही इस कुल का उचित एवं सनातन आधार है। अपने पुत्र लक्ष्मण को ऐसा कहकर सुमित्रा ने वनवास के लिए निश्चित विचार रखने वाले सर्वप्रिय श्रीराम से कहा – बेटा! जाओ, जाओ (तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो), इसके बाद लक्ष्मण से बोली – बेटा! श्री राम को ही अपने पिता महाराज दशरथ समझो, जनकनन्दिनी सीता को ही अपनी माता सुमित्रा मानो और वन को अयोध्या जानो। अब सुखपूर्वक यहाँ से प्रस्थान करो –

**रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।**
**अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्।।**

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी सुमित्रा द्वारा जो उपदेश लक्ष्मण को देने का वर्णन किया है, वह मातृत्व का अनूठा उदाहरण है और सुमित्रा के त्याग का परिचायक है। तुलसीदास जी कहते हैं –

**तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही।**
**अवध तहँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहाँ भानु प्रकासू।।**
**जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं।।**
**गुरु पितु मातु बँधु–सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं।।**
**राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के।।**
**पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं राम के नातें।।**

**अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु ताता जग जीवन लाहू।।**
**भूरि भाग भजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।**
**जौं तुम्हरे मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाऊँ।।**
**पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई।।**
**सकल सुकृत कर बड़ फलु पाहू। राम सीय पद सहज सनेहू।।**
**रागु रोष इरिषा मदु मोहू। जाने सपनेहुँ इन्ह के बस होहू।।**
**सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई।।**
**तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामु सिय जासू।।**
**जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहद उपदेसू।।**

माता के इस प्रकार पुत्र को केवल आज्ञा ही नहीं दी 'पुत्रवती जुबती' आदि से उन्होंने नारी जीवन की सफलता बतलायी। माता सुमित्रा का ही वह आदर्श हृदय था। माता की सच्ची हित—भावना और भारतीय साँस्कृतिक परम्परा के अनुकूल है। उनके इस प्रसंग में क्या नहीं है – मातृ हृदय, भक्ति और प्रेम का उच्चतम सिद्धान्त, ज्ञान और निष्काम कर्म – सबका निचोड़ उन्होंने थोड़े से वाक्यों में रख दिया है और तब बाद में लक्ष्मण जी की महत्ता में हमें आश्चर्य नहीं रह जाता। ऐसी माता का पुत्र ऐसा होना ही चाहिए। यही कारण है कि जिस समय कवि चित्रकूट में माता सुमित्रा और प्रभु का मिलन कराते हैं, वहाँ वे सुमित्रा माता की महत्ता का सङ्केत करने के लिए राघवेन्द्र को अति रङ्क तथा सुमित्रा को सम्पत्ति की उपमा देते हैं –

**गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अति रंका।।**

यह उपमा अन्य स्थलों से बिल्कुल विपरीत है – क्योंकि दूसरे स्थानों में भगवान् को धन और भक्तों को दीन बताया है, यथा –

**धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी।।**
**कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना।।**

यह है नारी के मातृ तथा भक्त हृदय की सम्मिलित झाँकी। एक ओर अपने पुत्र के सर्वाङ्गपूर्ण भविष्य का निर्माण किया, तो दूसरी ओर भक्तों को भक्ति का श्रेष्ठतम मार्ग प्रदर्षित कर दिया।

श्रीराम के वनगमन के उपरान्त माता कौशल्या जब बहुत ही अधिक विलाप कर रही थी, उस समय सुमित्रा ने कौशल्या को आश्वासन दिया। वाल्मीकि सुमित्रा के लिए लिखते हैं कि धर्मपरायणा सुमित्रा ने यह धर्मयुक्त बात बोली –

बहिन, जो राज्य छोड़कर अपने महात्मा पिता को भली–भाँति सत्यवादी बनाने के लिये वन में चले गये हैं, वे तुम्हारे महाबली श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम उस उत्तम धर्म में स्थित है, जिसका सत्पुरुषों ने सर्वदा और सम्यक् प्रकार से पालन किया है तथा जो परलोक में भी सुखमय फल प्रदान करने वाला है। ऐसे धर्मात्मा के लिए कदापि शोक नहीं करना चाहिये –

**यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः।**
**साधु कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम्।।**
**शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत् प्रेत्य फलोदय।**
**रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन।।**

निष्पाप लक्ष्मण समस्त प्राणियों के प्रति दयालु हैं। वे सदा श्रीराम के प्रति उत्तम वर्णन करते हैं, अतः उन महात्मना लक्ष्मण के लिये यह लाभ की ही बात है। विदेहनन्दिनी सीता भी जो सुख भोगने के ही योग्य है, वनवास के दुःखों को भली–भाँति सोच–समझकर ही तुम्हारे धर्मात्मा पुत्र का अनुसरण करती है। श्रीराम की पवित्रता और उत्तम महात्म्य को जानकर निश्चय ही सूर्य अपनी किरणों द्वारा उनके शरीर को सन्तप्त नहीं कर सकते। सभी समयों में वनों से निकली हुई उचित सरदी और गरमी से युक्त सुखद एवं मङ्गलमय वायु श्रीरघुनाथ जी की सेवा करेगी। वे पुरुषसिंह श्रीराम बड़े शूरवीर हैं। वे अपने ही बाहुबल का आश्रय लेकर जैसे महल में रहते थे, उसी तरह वन में भी निडर होकर रहेंगे। श्रीराम की जैसी शारीरिक शोभा है, जैसा पराक्रम है और जैसी कल्याणकारी शक्ति है, उससे जान पड़ता है कि वे वनवास से लौटकर शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त करेंगे। देवी, श्रीराम सूर्य के भी सूर्य और अग्नि के भी अग्नि है। वे प्रभु के भी प्रभु, लक्ष्मी की भी उत्तम लक्ष्मी और क्षमा की भी क्षमा है। इतना ही नहीं– वे देवाताओं के भी देवता तथा भूतों के भी उत्तम भूत हैं। वे वन में रहें या नगर में उनके हित के लिये कौन से चराचर प्राणी दोषावह हो सकते हैं। पुरुषशिरोमणि श्रीराम शीघ्र ही पृथ्वी, सीता और लक्ष्मी– इन तीनों के साथ राज्य भर अभिषिक्त होंगे –

**पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः।**
**क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते।।**

जिनको नगर से निकलते देख अयोध्या का सारा जनसमुदाय शोक के वेग से आहत हो, नेत्रों से दुःख के आँसू बहा रहा है, कुश और चीर धारण करके वन को जाते हुए जिन अपराजित नित्य विजयी वीर के पीछे–पीछे सीता के रूप

में साक्षात् लक्ष्मी हो गयी है, उनके लिए क्या दुर्लभ है? देवी, मैं तुमसे सत्य कहती हूँ। तुम वनवास की अवधि पूर्ण होने पर यहाँ लौटे हुए श्रीराम को फिर देखोगी, इसलिए तुम शोक और मोह छोड़ दो।

राजभवन में प्रविष्ट होकर पुनः राजपद पर अभिषिक्त हुए अपने पुत्र को बड़ी भारी राजलक्ष्मी से सम्पन्न देखकर तुम शीघ्र ही अपने नेत्रों से आनन्द के आँसू बहाओगी। पापरहित देवी, तुम्हें तो इन लोगों को धैर्य बँधाना चाहिये, फिर स्वयं ही इस समय अपने हृदय में इतना दुःख क्यों करती हो। देवी, तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुम्हें रघुकुलनन्दन राम जैसा बेटा मिला है। श्रीराम से बढ़कर सन्मार्ग में स्थिर रहने वाला मनुष्य संसार में दूसरा कोई नहीं है। तुम्हारे वरदायक पुत्र पुनः शीघ्र ही अयोध्या में आकर अपने मोटे–मोटे कोमल हाथों द्वारा तुम्हारे दोनों पैरों को दबायेंगे।जैसे मेघमाला पर्वत को नहलाती है, उसी प्रकार तुम अभिवादन करके नमस्कार करते हुए सुहृदों सहित अपने शूरवीर पुत्र का आनन्द के आँसुओं से अभिषेक करोगी –

**अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम्।**
**मुदास्त्रैः प्रोक्षसे पुत्रं मेघराजिरिवाचलम्।।**

इस प्रकार तरह–तरह की बातों से माता सुमित्रा ने माता कौशल्या को आश्वासन दिया। अन्त में वाल्मीकि लिखते हैं कि लक्ष्मण की माता का वह वचन सुनकर महाराज दशरथ की पत्नी तथा श्रीराम की माता कौशल्या का सारा शोक उनके शरीर में ही तत्काल विलीन हो गया। ठीक उसी तरह जैसे शरद् ऋतु का थोड़े जल वाला बादल शीघ्र ही छिन्न–भिन्न हो जाता है –

**निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं, रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः।**
**सद्यः शरीरे विननाश शोकः, शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः।।**

यद्यपि सुमित्रा का वर्णन बहुत कम मिलता है परन्तु जितना भी मिलता है वह सारगर्भित है। गागर में सागर है। इस संक्षिप्त विवरण से ही सुमित्रा के सम्पूर्ण जीवन के विविध–पक्षों का परिचय मिलता है।

चित्रकूट में माता सुमित्रा की नीतिज्ञता का बड़ा मनोहर परिचय मिलता है। श्री जनक जी की महारानी सुनयना का कैकेयी पर अपार रोष है। कौशल्या जी के बार–बार समझाने पर उनका चित्त शान्त नहीं होता। सहसा सुमित्रा जी ने **'देवि जाम जुग जामिनि बीती'** कहकर इस प्रसंग को ही समाप्त कर दिया।

दूसरी बार हमें उनके गौरवमय हृदय का परिचय मिलता है, जिस गौरव

से उन्होंने लक्ष्मण को वन जाने की आज्ञा दी थी। लङ्का में घोर युद्ध हो रहा है। लक्ष्मण रणभूमि में आहत होकर मूर्च्छित हो गए है। श्री लक्ष्मण जी की मूर्छितावस्था में हनुमान जी उनके लिए औषधि लेकर चलते हें और अयोध्या में भरत लाल के बाण से आहत होकर गिर पड़ते हैं। गीतावली में इसका बड़ा ही भावपूर्ण मनोग्राही चित्रण है। उस समय माता सुमित्रा की मनोदशा विचित्र हो गयी। मेरा पुत्र श्रीराम के लिए युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ता हुआ गिरा है। मैं धन्य हो गयी। प्रसन्नता से खिल उठी। 'अहो शत्रुओं के मध्य में श्रीराम एकाकी हो गये' यह सोचते हुए उनका मुख सूख गया। उनके नेत्रों में आँसू आते हैं – पर इसलिए नहीं कि पुत्र मारा गया – उन्हें तो दीख रहा था कि लक्ष्मण अमर हो गया। पर उन्हें तो एक और ही चिन्ता है। उन्हें इस बात का सन्तोष था कि पुत्र ने उनके आज्ञापालनार्थ अपने प्राण दे दिये, पर –

**रघुनंदनु बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं।**

परन्तु एक निश्चय में आकर उन्होंने अपना सन्तोष व्यक्त किया। 'क्या चिन्ता, अभी शत्रुघ्न तो है ही।' शत्रुघ्न को भी लक्ष्मण जी के मार्ग का अनुसरण करने का आदेश देती है – **'तात जाहु कपि संग'** धन्य है जननी और ऐसी जननी का पुत्र प्रमादी या भीरू नहीं हुआ करता। **'रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।'** आज्ञा का पालन हुआ। महर्षि वसिष्ठ ने रोका नहीं होता तो माता अपने छोटे पुत्र को भी श्रीराम की सेवा में लङ्का में भेजने से रुकती नहीं। उन्होंने लक्ष्मण को आज्ञा देते समय कहा था –

**राम सीय सेवा सुचि ह्वै हौ,**<br>**तब जानिहौ सही सुत गरे।**

माता के इस प्रेमपूर्ण त्याग को देखकर श्रीहनुमान जी और भरत जी जैसे प्रेमी ग्लानि में डूब जाते हैं –

**अंब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।**

श्रीराम की इस सेवा की अग्नि में तपकर जब उनका लाल तथा काञ्चन की भाँति अधिक उज्ज्वल होकर लौटा, तभी उन्होंने उसे हृदय से लगाया। यह है मातृत्व का अनोखा उदाहरण। ऐसी ही माताओं के द्वारा पुत्र तथा विश्व का हित सुरक्षित है। सुमित्रा के इस झाँकी का ध्यान करते ही मन उस महान् नारी के प्रति श्रद्धा से अभिभूत हो जाता है, जिसने लक्ष्मण और शत्रुघ्न जैसे पुत्रों को संस्कार दिये।

# उर्मिला, माण्डवी, श्रुतकीर्ति

रामायण के स्त्री पात्रों में प्रातःस्मरणीया उर्मिला, माण्डवी और श्रुतकीर्ति भी भारतीय आदर्श नारियों में अग्रगणी स्थान रखती हैं। उर्मिला राजा जनक की पुत्री थी। माण्डवी और श्रुतकीर्ति – ये दोनों राजा जनक के भाई कुशध्वज की कन्याएँ थीं। जगज्जननी सीता के विवाह के समय ही माण्डवी आदि तीनों कन्याओं का भी विवाह हुआ था। माण्डवी भरत की, उर्मिला लक्ष्मण की और श्रुतकीर्ति शत्रुघ्न की धर्मपत्नी हुई। जिस प्रकार भरत आदि तीनों भाइयों का श्रीरामचन्द्र जी के प्रति अलौकिक प्रेम था, उसी प्रकार माण्डवी आदि तीनों बहनें भी श्री जानकी जी के प्रति अटूट प्रेम रखती थीं। चारों बहनों ने राजा दशरथ के घर में आकर अपूर्व सुख–शान्ति एवं सौहार्द की सृष्टि कर दी थी। तीनों बहिनें भी पतिव्रता थीं। सबके मन में सास–ससुर तथा गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, भक्ति एवं आदर का भाव था। सीता सहित चारों बहिनों ने कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी की एक समान भाव से सेवा की। इन राजकुमारियों ने अपने स्वार्थत्याग, सहनशीलता, धर्मपरायणता, विनय, संयम, सेवा, सौहार्द, सदाचार आदि सद्‌गुणों से सबके हृदय को जीत लिया था। पति के प्रति प्रेम और भक्ति, जेठ के प्रति श्रद्धा तथा देवर के प्रति उदारता तथा वात्सल्य आदि इनके स्वाभाविक गुण थे। यही कारण था कि दशरथ के विशाल परिवार में पुत्रों और पुत्र–वधुओं को लेकर कभी कोई विवाद नहीं हुआ। किसी के मन में कोई स्वार्थ नहीं, सभी निःस्वार्थ भाव से दूसरों को सुख पहुँचाना ही अपना धर्म समझती थी।

मन्थरा की प्रेरणा से कैकेयी ने जब राम के लिए वनवास का वरदान माँगा, उस समय माण्डवी की स्थिति का अनुमान लगाना कठिन था। सबसे अधिक चोट उसी के हृदय को पहुँची, वह लज्जा से गड़ गयी। उसने अनुभव किया कि माता कैकेयी के अविवेक के कारण मैं और मेरे पतिदेव सबसे अधिक कलङ्कित हुए। वह जानती थी कि माता कौशल्या और माता सुमित्रा तो सन्देह नहीं करेंगी तथापि अन्य लोगों के मन में तो यह विचार आ सकता है कि माण्डवी के मन में तो लालच तो नहीं आ गया। उसी ने अपना कोई स्वार्थ साधने के लिए तो माता कैकेयी के हृदय पर कोई विपरीत प्रभाव डाला हो। नेत्रों से बहती हुई

अश्रुधारा बता रही थी कि उसके हृदय में कितनी पीड़ा है। उर्मिला और श्रुतकीर्ति को भी इस अप्रत्याशित घटना से बड़ी पीड़ा पहुँची थी। इन बहिनों में शालीनता इतनी थी कि स्वयं आगे होकर किसी बात का विरोध न कर सकीं। देवतुल्य जेठ का वनवास, अपनी लक्ष्मी सी बहिन का तपस्विनी बनकर वन में जाना आदि ऐसी घटनाएँ अचानक हुई कि जिनको याद करके उनका कोमल हृदय चैन नहीं पाता था, किन्तु उसकी आन्तरिक वेदना को अन्तर्यामी के सिवाय कोई नहीं देख सका।

राम, सीता और लक्ष्मण वन को चले गए। महाराज दशरथ इस शोक को सहन नहीं कर सके और परलोकवासी हो गये। माताएँ अर्धमूर्च्छित अवस्था में जा रही हैं। ऐसी अवस्था में यदि सबसे अधिक क्षोभ का सामना करना पड़ा तो वह है लक्ष्मण पत्नी उर्मिला। उसके जीवन के सर्वस्व, उसके प्राणाधार पति लक्ष्मण वन को चले गये। उर्मिला चाहती तो वह भी सीता की भाँति लक्ष्मण के साथ वन को चली जातीं और अपने पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह करती। उसे सन्तोष रहता, परन्तु वह ऐसा नहीं कर सकती थी। ऐसा लगता है कि उर्मिला के मस्तिष्क में भी यह अन्तर्द्वन्द्व चल रहा होगा कि ऐसी स्थिति में उसका क्या धर्म है, वह जाये या न जाये? लक्ष्मण किसी के कहने से नहीं अपितु स्वेच्छा से वन को गये। पिता–माता तुल्य भाई और भाभी जो उनके आराध्य हैं, उनकी सेवा का उद्देश्य लेकर वन को गए हैं। यदि उर्मिला साथ जाती तो उसके स्वामी के कर्त्तव्य मार्ग में बाधा उपस्थित होती। उसके कारण स्वामी के कर्त्तव्य मार्ग में बाधा उत्पन्न हो, ऐसा एक सती स्त्री सहन नहीं कर सकती। उर्मिला ने चौदह वर्ष अयोध्या में ही रहकर विरह वेदना सहन की। किन्तु यह भी उर्मिला के पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह है।

भरत–शत्रुघ्न ननिहाल से लौट आए। उन दोनों भाइयों ने माता के अन्याय का विरोध किया। भरत ने राज्यसिंहासन के प्रति तनिक भी असक्ति नहीं दिखलायी। लक्ष्मण के भाग्य की सराहना की। शत्रुघ्न का तो लक्ष्मण का चुपचाप वन में जाना भी अन्याय प्रतीत हुआ। वे तो लक्ष्मण को इस बात के लिए कोसते रहे कि उन्होंने राम के राज्याभिषेक में बाधा डालने वालों को दण्ड क्यों नहीं दिया। भरत और शत्रुघ्न के निःस्वार्थ भातृप्रेम को देखकर माण्डवी और श्रुतकीर्ति का हृदय हर्ष से फूल उठा। आनन्द और करुणा के आँसू छलक आए। उन्हें अपने पति की सदाशयता पर गर्व हुआ। उन्हें इस बात का सन्तोष हुआ कि अब

माण्डवी और श्रुतकीर्ति पर कोई भी सन्देह नहीं करेगा। सबके मुँह से लक्ष्मण की प्रशंसा सुनकर विरहणी उर्मिला को भी कम सुख नहीं मिला।

भरत के साथ सब लोक श्रीराम और सीता से मिलने के लिए वन में गये। यहाँ तक कि वन में भेजने वाली माता कैकेयी भी उस सुख से वञ्चित न रह सकी। किन्तु कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं आता कि उर्मिला, माण्डवी और श्रुतकीर्ति भी वन को गयी हों। वे अयोध्या में ही रहीं। ये तीनों बहने चाहतीं तो वे भी आग्रह कर जा सकती थीं। उर्मिला के तो जीवन सर्वस्व ही वहाँ पर थे। परन्तु क्या कारण रहा, इस विषय में कुछ तथ्य नहीं मिलते। परन्तु ऐसा लगता है कि तीनों के मन में इस बात से बड़ी शान्ति और सुख था कि वे विरहाग्नि में जलकर भी अपने–अपने धर्म–पालन में सहायक हो रही हैं।

भरत वन से लौट आए, साथ ही अन्य सब लोग भी आ गये। राघवेन्द्र राम और सीता के कष्टों का अनुमान करके भरत ने भी निश्चय किया कि वे राजमहल में नहीं रहेंगे, वनवासी जीवन व्यतीत करेंगे। वे **'कंद असन बलकल बसन'** होकर जटा बढ़ाये नन्दिग्राम की कुटी में जा बैठे। शत्रुघ्न भी उन्हीं की सेवा में रहे। अयोध्या के राजभवन में तीनों विरहणियाँ चौदह वर्षों तक एक–एक दिन अँगुलियों पर गिनती रहीं। किसी ने इसी बीच पति का दर्शन नहीं किया। सीता वन में रहकर भी पति के समीप थी, परन्तु ये माण्डवी, उर्मिला और श्रुतकीर्ति तीनों राजमहलों में रहकर भी पति से दूर थीं। इनमें भी अन्तर इतना ही था कि माण्डवी और श्रुतकीर्ति को नन्दिग्राम से पति के समाचार मिलते रहते थे, परन्तु उर्मिला के भाग्य में तो यह भी नहीं था। इस प्रकार राजा जनक की चारों कन्याओं ने दोनों कुलों की मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए अपने त्याग और तपस्या से जीवन व्यतीत किया। कहीं भी ऐसा नहीं लगा कि उनको इस पर शिकायत थी।

इस त्याग और तपस्या का फल उनके लिए अच्छा हुआ। चौदह वर्ष बीत जाने पर चारों बहिनें एकत्र हुईं। उन्हें पति का संयोग सुख प्राप्त हुआ। श्री जानकी को तो यह भी नहीं मिला। पुराणों में वर्णन आता है कि माण्डवी को दो पुत्र तक्ष तथा पुष्कल हुए। दोनों ही बड़े वीर थे। उर्मिला के दो पुत्र अङ्गद और चन्द्रकेतु हुए। श्रुतकीर्ति के सुबाहु और शत्रुघाती दो पुत्र हुए। अन्त में भरतादि तीनों भाई श्रीरामचन्द्र जी के साथ ही सरयू के गोप्रतार घाट में डुबकी लगाकर परमधाम पधार गए। माण्डवी, उर्मिला और श्रुतकीर्ति भी पतियों के साथ गोता लगाकर उन्हीं लोकों को प्राप्त हुईं।

इस प्रकार इन तीनों नारियों का भी त्याग कम नहीं है। यद्यपि वाल्मीकि और तुलसीदास जी जैसे कवियों की लेखनी ने इनके चरित्र को स्पर्श नहीं किया, परन्तु फिर भी इनका मौन ही सब कुछ कह देता है।

# सती अनसूया

सती स्त्रियों की परम्परा में जब भी स्मरण किया जाता है, उस समय सती अनसूया का नाम अग्रगणी है। इनका जन्म उच्च कुल में हुआ था। स्वायम्भुव मनु की पुत्री देवहूति इनकी माता और ब्रहर्षि कर्दम इनके पिता थे। भगवान् विष्णु के अवतार सिद्धेश्वर कपिल इनके छोटे भाई हैं। अपने वंश के अनुरूप सत्य, धर्म, शील, सदाचार, विनय, लज्जा, क्षमा, सहिष्णुता तथा तपस्या आदि गुणों का स्वाभाविक यथोचित विकास अनसूया में हुआ था। ब्रह्मा जी के मानस पुत्र परम तपस्वी महर्षि अत्रि को पति रूप में पाने का सौभाग्य मिला था। अपनी सतत सेवा–भक्ति तथा पावन–प्रेम से सती अनसूया ने अपने पति के हृदय को जीत लिया था। पति सेवा को नारी के कल्याण का साधन मानती थीं। पातिव्रत्य धर्म के साथ–साथ तपस्या में भी इनके समान दूसरी स्त्री नहीं थी।

वनगमन के समय जब राम लक्ष्मण और सीता को लेकर वन गए थे, उस समय ये तीनों महर्षि अत्रि के आश्रम में गए थे। वहाँ अत्रि ऋषि पत्नी अनसूया ने सीता का बड़ा सत्कार किया। स्वयं महर्षि अत्रि ने श्रीराम के सामने अपने मुख से अनसूया के प्रभाव का वर्णन करके कहा –

'श्रीराम, ये वे ही अनसूया देवी हैं, ये तुम्हारे लिए माता की भाँति पूजनीया हैं। विदेहराजकुमारी सीता इनके पास जाएँ। ये सम्पूर्ण प्राणियों के लिए वन्दनीय हैं।' अत्रि जैसे महर्षि जिनका गुणगान करते हैं, उन पति परायणा अनसूया जी के सौभाग्य का क्या कहना –

**अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम्।**<br>**प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः।।**

प्रसन्नवदना सीता जी ने पवित्र आचारण वाली उस तपस्विनी को प्रणाम कर, हाथ जोड़ और प्रसन्न हो उनका कुशल–क्षेम पूछा। धर्मचारिणी और महाभाग्यवती सीता को प्रणाम करते देख उसे सान्त्वना देते हुए वृद्धा अनसूया ने कहा – 'हे सीते! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम पतिव्रत धर्म की ओर ध्यान देती हो।' तुम्हारे लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम सभी बन्धुओं को, उभय कुल के राज्याभिमान और धन–सम्पत्ति को त्याग कर वनवासी राम

की अनुगामिनी हुई हो।

सती अनसूया ने सीता को सान्त्वना देते हुए जिस प्रकार सतीधर्म का महत्त्व बतलाया, वह प्रत्येक नारी के लिए अनुकरणीय तथा कण्ठहार बनाने योग्य है। अनसूया बोलीं –

**नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वाशुभः।**
**यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः।।**
**दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।**
**स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः।।**

अर्थात् पति चाहे वन में रहे अथवा नगर में, सुख सम्पन्न हो या दुःख ग्रस्त – सब दिशाओं में जिन स्त्रियों को अपना पति ही सर्वप्रिय है, उन्हीं स्त्रियों को कल्याणकारी तथा श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति है। पति चाहे कठोर स्वभाव का हो अथवा कामी हो या दरिद्र हो, किन्तु श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियों के लिए पति ही परम देवता है।

बहुत विचार करने पर पति से बढ़कर कोई हितकारी बन्धु नहीं देखती। तपस्या के अविनाशी फल की भाँति वह इस लोक और परलोक में सर्वत्र सुख पहुँचाने में समर्थ होता है। अतः तुम उसी प्रकार अपने पतिदेव श्रीरामचन्द्र जी की सेवा में लगी रहो। सती धर्म का पालन करो। पति को प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करती हुई उनकी सहधर्मिणी बनो। इससे तुम्हें धर्म और सुयश दोनों की प्राप्ति होगी।

अनसूया के उपदेश के बाद सीताजी ने भी सतीधर्म की महिमा सुनायी। उसे सुनकर अनसूया को बड़ी प्रसन्नता हुई। (सीता के वर्णन में सती धर्म का उल्लेख किया है।) उन्होंने सीता का मस्तक सूँघा और उसे हर्षित करते हुए बोली–

**नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति में।**
**तत्संश्रित्य बलं सीते छन्दये त्वां शुचिस्मिते।।**

अर्थात् हे सीते! मैंने अनेक प्रकार के व्रत एवं नियमों का अनुष्ठान कर जो सिद्धि प्राप्त की है वह महान् है। हे शुचिस्मिते, उसी सिद्धि के बल पर मैं तुझे वर देना चाहती हूँ। तू वर माँग।

पतिव्रत धर्म को जानने वाली सीता सती अनसूया के यह वचन सुनकर आश्चर्यचकित हो गई। तपःपरायण अनसूया से सीता जी ने कहा – आपके अनुग्रह से ही मेरी सब मनोकामना पूरी हो गई।

जनकनन्दिनी सीता के ऐसा कहने पर धर्मचारिणी अनसूया प्रसन्न हुई और सीता को उपहार स्वरूप हार, वस्त्र, आभूषण, अङ्गराग और दिव्य चन्दन दिया, जिससे सीता के अङ्गों की शोभा होगी।

जगत्जननी सीता ने अनसूया द्वारा प्रदत्त वस्त्र, आभूषादि को प्रेमोपहार के रूप में प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और उनको धारण कर वे देवकन्या के समान प्रतीत होने लगी। इस प्रकार सीता का सत्कार करके अनसूया ने प्रेमपूर्वक उनको विदा किया।

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। वह सरल, सुबोध एवं सरस पद्यमय होने के कारण प्रत्येक नारी के लिए सदा स्मरणीय है –

**मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी।।**
**अमित दानि भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही।**
**धीरज, धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी।**
**बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना।**
**ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना।।**
**एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पतिपद प्रेमा।।**
**जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। वेद पुरान संत सब कहहीं।।**
**उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।।**
**बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई।।**
**पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई।।**
**सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।**
**जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय।।**

उपर्युक्त पंक्तियों में पत्नी के एकमात्र कर्त्तव्य का निर्देश इन शब्दों में किया है–

**एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पतिपद प्रेमा।।**

यहाँ इनका उपदेशक स्वयं भी इस पर पूर्ण दृढ़ है। अनसूया जी इसकी पराकाष्ठा तब कर देती हैं, जब स्वयं भगवान् राम के आने पर भी उनके दर्शनार्थ नहीं जातीं। उनके राम तो श्रीअत्रि जी ही हैं। 'सपनेहुं आन पुरुष जग नाहीं' कहने वाली नारी स्वयं भी वैसी ही है। उन्हें अपने पति की पूर्णता पर कितना दृढ़ विश्वास है, इसका यह एक सुन्दर प्रमाण है। यही तो विशेषता है उस नारी की

जो परम पतिव्रता श्रीकिशोरी जी भी उपदेश–श्रवण की इच्छा से श्रोता बन गयी। चित्रकूट की मन्दाकिनी इस बात की साक्षी है कि जो कार्य (गङ्गावतरण) पुरुष अनेक पीढ़ियों में कर सका, वही पतिव्रता ने अपने प्रभाव से पति के सेवार्थ एक क्षण में कर दिखाया।

कौन कहता है कि पुरुष श्रेष्ठ और स्त्री निकृष्ठ है? इसकी साक्षी है उपर्युक्त चौपाइयाँ और आज भी चित्रकूट में बहती हुई पयस्विनी गङ्गा।

कहते हैं कि अभिमान ईश्वर का भोजन होता है। अत: ईश्वर अपने भक्तों के हृदय में उठे अभिमान के अंकुर का तुरन्त नाश कर देते हैं। इसी के सन्दर्भ में पुराणें में कथा–प्रसङ्ग आता है जिसकी चर्चा संक्षिप्त रूप में करेंगे, जिसमें अनसूया के सतीधर्म की ही चर्चा है। भगवती लक्ष्मी जी, श्रीसती जी और श्री सरस्वती जी को अपने पातिव्रत्य का बड़ा अभिमान था। भगवान् ने उनके गर्व का नाश करना चाहा। यही तो उनका भक्त के प्रति स्नेह है। इन चराचर जगत् की देवियों के गर्व को चूर करने के निमित्त कौतुक प्रिय भगवान् नारद के मन में प्रेरणा की। भगवद् इच्छा जानकर नारद जी चले, वीणा बजाते, गुण गाते लक्ष्मी जी के पास गए। लक्ष्मी जी ने पूछा कि आप कहाँ से आ रहे हैं। नारद जी ने उत्तर दिया – 'क्या बताऊँ' कुछ कहते नहीं बन रहा। मैं घूमता–घूमता चित्रकूट की ओर चला गया। वहाँ से पयस्विनी के किनारे भगवान् अत्रि के आश्रम पर पहुँच गया। वहाँ उनकी पतिव्रता पत्नी भगवती अनसूया के दर्शन करके कृतार्थ हो गया। आज संसार में उनके समान प्रतिव्रता कोई भी नहीं है। उन्होंने अपने तप के प्रभाव से गङ्गा जी की एक धारा प्रकट कर दी, जो सब पापों को काटने वाली मन्दाकिनी के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। आज संसार की सभी सती–साध्वी पतिव्रताओं की वे शिरोमणि हैं। चौदहों भुवनों में घूम आया, ऐसी पतिव्रता कहीं नहीं मिली।'

सती अनसूया की प्रशंसा सुनकर लक्ष्मी जी को बुरा लगा। उन्होंने बार–बार नारद से पूछा कि 'क्या वे मुझसे बढ़कर हैं?' मुझे सच–सच बताओ?

तब नारद जी ने दृढ़ता से कहा – 'आप उन देवी अनसूया के पासंग भी नहीं हैं।' नारद जी से ऐसी स्वप्न में भी आशा नहीं थी। उनके मन में सती के प्रति डाह पैदा हुआ और मन ही मन भगवती अनसूया को नीचा दिखाने का निश्चय कर लिया।

भगवान् से लक्ष्मी जी कुपित होकर बैठ गयी। भगवान् के बहुत अनुनय–विनय करने पर बोली – 'जैसे भी हो अनसूया देवी का सतीत्व भङ्ग

करना होगा।' भगवान् विष्णु मन ही मन समझ गए कि नारद जी ने इस प्रकार का बीज बोया है। प्रकट में बोले – बस इतनी सी बात है। हम अभी जाते हैं और प्रयत्न करेंगे। जब तक काम पूरा नहीं होगा, तब तक नहीं लौटेंगे।

लक्ष्मी जी बड़ी प्रसन्न हुई। भगवान् अपने वाहन गरुड़ पर सवार हो अत्रि आश्रम की ओर चल पड़े।

इधर नारद जी कैलास पहुँचे। सती जी अकेली बैठी पूजा कर रही थीं। वीणा बजाते, नाचते, गाते नारद जी को देखकर सती पार्वती ने उनका स्वागत किया और खाने को लड्डू दिया। नारद जी ने सती पार्वती के मन में ईर्ष्या का बीज वपन करना था। अत: लड्डू मुँह में डालते हुए बोले – 'आह, कैसा स्वादिष्ट लड्डू है। अमृत का बना मालूम पड़ता है। किन्तु भगवती अनसूया के यहाँ जैसा स्वाद था, वैसा स्वाद नहीं है।' सती ने हृदय में सोचा कि मैंने कितने उल्लास से मोदक दिया, परन्तु नारद ने कह दिया कि अनसूया के लड्डू बराबर नहीं है।' तब तो उन्हें रोष आ गया और बोलीं – अनसूया कौन है, जिनके लड्डू की प्रशंसा कर रहा है।

नारदजी ने अनसूया की प्रशंसा करते हुए परिचय दिया – 'सती साध्वी भगवती अनसूया ऋषि अत्रि की प्राणप्रिया पत्नी है। आज संसार में उनके सदृश दूसरी कोई पतिव्रता नहीं।'

सती पार्वती ने फिर पूछा – 'मुझसे भी अधिक?'

नारदजी ने उपेक्षा के स्वर में कहा – अधिक कम का तो मुझे पता नहीं, किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि उनके पातिव्रत्य के सामने आपका पातिव्रत्य फीका है।

यह सुनते ही सती जी शिवजी के पास पहुँची और बोलीं – 'आप तो कहते थे कि मैं पतिव्रताओं में शिरोमणि हूँ। परन्तु नारद ने मुझे सन्देह में डाल दिया है। उनका कहना है कि अत्रि पत्नी अनसूया के सामने तुम्हारा पातिव्रत्य फीका है।' शिवजी ने देखा कि नारद वहाँ से जा चुके हैं। वे स्त्रियों के ईर्ष्या की बात क्या जाने कि इनके मन में कैसी असूया होती है। वे बोले – नारद ठीक कहते हैं, देवि! तुम भगवती अनसूया की समानता तो नहीं कर सकती।'

सती ने उसी समय शिव के चरण पकड़ लिए और दृढ़ता के स्वर में बोलीं – अब इन चरणों को तभी छोडूँगी, जब अनसूया का पातिव्रत्य भङ्ग करके मुझे संसार में सर्वश्रेष्ठा शिरोमणि बना देंगे। पुरुषों की सदा यही नीति रहती

है कि छल–बल, कला–कौशल, डाँट–फटकार, प्यार, झूठ–सच से स्त्रियों को ठग लेते हैं। सो अब उसी ठगी विद्या का प्रयोग अत्रि पत्नी अनसूया के प्रति कीजिए।'

शिवजी हँस पड़े और बोले – देवि! मैं अभी जाता हूँ, तुम मेरे पैरों को छोड़ो तो सही।' सती देवी ने भगवान् शिव के चरणों को छोड़ दिया। शिवजी ने अपने नांदिये को बुलाया और अत्रि आश्रम की ओर चल पड़े।

इसके पश्चात् नारद ब्रह्मलोक में पहुँचे। देवी ब्रह्माणी ने उनका स्वागत सत्कार किया और बोली – वत्स नारद! तुम तो बहुत दिनों में आए हो। क्या नए समाचार हैं?'

नारद जी ने कहा – सब ठीक है, एक बड़ी अद्‌भुत बात मैंने मृत्युलोक में देखी। अत्रि पत्नी अनसूया के पातिव्रत्य का ऐसा प्रभाव है कि सब ऋषि मुनि आकर उनकी स्तुति करते हैं। संसार में उनके समान कोई भी पतिव्रता नहीं। पातिव्रत्य का ऐसा प्रभाव ही होता है। अमर्ष के साथ ब्रह्माणी बोली – 'तो क्या मुझसे भी बढ़कर है?'

नारदजी ने कहा – 'अब माताजी, यह मैं कैसे कहूँ। अपनी माँ तो माँ ही है, सर्वश्रेष्ठ है ही। किन्तु सभी ऋषि–मुनि यही बात कह रहे हैं कि आज अनसूया से बढ़कर कोई भी पतिव्रता नहीं है।' अब तो ब्रह्माणी को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने कहा – 'जाओ शीघ्रता से अपने पिता को तो बुला लाओ।'

माता की आज्ञा पाकर नारद ने पितामह की सभा में जाकर ब्रह्माणी का सन्देश कह सुनाया। ब्रह्मा जी उठकर भीतर आए। आते ही ब्रह्माणी ने पूछा – आजकल संसार में सर्वश्रेष्ठ पतिव्रता कौन है? ब्रह्माजी को यह प्रश्न अप्रासंगिक लगा। परन्तु ब्रह्माणी के हठ करने पर बोले – तुमसे बढ़कर और संसार में कौन पतिव्रता है? ब्रह्माणी ने कहा – 'सत्य–सत्य बताइये। मैंने तो सुना है आजकल अनसूया से बढ़कर कोई पतिव्रता संसार भर में नहीं है।' यह सुनकर ब्रह्मा जी को चिन्ता हुई और सोचा – स्त्रियों में असूया शीघ्र ही आ जाती है। अनसूया में यही विशेषता है कि किसी के प्रति भी उसके मन में असूया नहीं। बात तो सत्य है, उनके समान कौन हो सकता है? अत: ब्रह्माजी ने कहा – मान लो सत्य ही है, तो इसमें चिन्ता करने की कौन सी बात है। वह तो तुम्हारी पुत्रवधू ही ठहरी।' परन्तु ब्रह्माणी ने हठ किया कि जैसे भी हो अनसूया को पातिव्रत्य धर्म से च्युत करें। उसी समय सर्वज्ञ ब्रह्माजी ने ध्यान लगाया और हंस पर चढ़कर अकेले ही चल दिए।

भगवती मन्दाकिनी के तट पर तीनों देव महामुनि अत्रि के आश्रम में पहुँचे। परस्पर एक दूसरे से प्रणाम हुआ और सभी ने अपने अपने आने का कारण बताया। भगवान् तो सब समझते थे, अतः बोले – 'हम तीनों वेष बदलकर भगवती अनसूया के पातिव्रत्य की परीक्षा करने चलें।' सभी ने इस बात को स्वीकार किया और तीनों साधु–वेष से अनसूया देवी के निकट पहुँचे। उस समय ऋषि अत्रि आश्रम में नहीं थे। अतिथि रूप में तीनों मुनियों को आते देखकर पतिव्रता अनसूया ने उनका स्वागत सत्कार किया। पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय देकर उन्होंने कन्द, मूल, फल भेंट किए, किन्तु मुनियों ने देवी के आतिथ्य को स्वीकार नहीं किया।

तब देवी ने विनीत भाव से पूछा – मुनियों! मुझ से कौन सा अपराध हो गया, जो आप मेरी की हुई पूजा को ग्रहण नहीं कर रहे हैं?

मुनियों ने कहा – आप हमें एक वचन दें तो हम आपकी पूजा ग्रहण करेंगे। अन्यथा नहीं ग्रहण कर सकते।' तब देवी ने कहा – मुनियों! अतिथि का सत्कार बलिदान करके भी किया जाता है। आप जिस प्रकार भी प्रसन्न होंगे, उसी प्रकार मैं करने को उद्यत हूँ। तब मुनियों ने कहा – देवि! आप निर्वस्त्र होकर हमारा आतिथ्य–सत्कार कीजिए।'

यह सुनकर पतिव्रता अनसूया आश्चर्यचकित रह गयीं। ये मुनि हैं या कोई छद्मवेषधारी जो ऐसा अनुचित सदाचारहीन प्रस्ताव कर रहे हैं। उन्होंने ध्यान लगाकर देखा, तो सब रहस्य समझ गयी और बोली – 'मैं आपका निर्वस्त्र होकर सत्कार करूँगी। यदि मैं सच्ची पतिव्रता हूँ, मैंने कभी भूल से भी स्वप्न में भी पर–पुरुष का काम–भाव से चिन्तन न किया हो, तो आप तीनों छः–छः महीने के बच्चे बन जाएँ।'

पतिव्रता का इतना कहना था कि तीनों के तीनों छः महीने के दूध पीने वाले बच्चे बनकर पालने में कुलबुलाने लगे। माता ने निर्वस्त्र होकर स्तनपान कराया और पालने पर सुला दिया। इतने में ही महामुनि अत्रि भी आ गए। तीनों सुकुमार बच्चों को देखकर वे आश्चर्यचकित होकर पूछने लगे – देवि! ये देवस्वरूप, परम सुन्दर, मन को स्वतः ही अपनी और खींच लेने वाले तीनों बच्चे किस भाग्यशील के हैं?'

भगवती अनसूया ने कहा – 'ये आपके ही बच्चे हैं। भगवान् ने स्वतः कृपा की है।' मुनि सब रहस्य समझ गए। अब तो तीनों देवता बच्चे बने क्रीड़ा

करने लगे। माँ अनसूया उन्हें खिलाती, पिलाती, प्यार करती। ये सब भी उमङ्ग में भरकर माँ के साथ क्रीड़ाएँ करते।

इधर जब तीनों देवियों ने देखा, हमारे पति तो आये ही नहीं। तब तो वे बड़ी ही चिन्तित हुईं। जिससे पूछे, वही कह दे, माता जी, हम तो जानते ही नहीं।' क्या करें, कहाँ रह गये? आखिर तीनों घर से निकलीं। दैवयोग से तीनों की चित्रकूट में भेंट हो गयी। परस्पर मिलकर अपना दु:ख बताया। जब तीनों ने एक दूसरे से पूछा कि कैसे पता चले? तब नारदजी का नाम आया। यह सुनकर वे तीनों नारद को बुरा–भला कहने लगे। इतने में नारद जी वहाँ दिखायी दिये। तीनों देवियों ने पहले तो बड़ा रोष प्रकट किया, परन्तु नारद जी जब वहाँ से जाने लगे तो बड़ी कोमल वाणी से बोलीं और तीनों देवताओं के बारे में पूछने लगीं। नारदजी ने अंगुली से संकेत करते हुए कहा – देखो, वह भगवती अनसूया का आश्रम है, उसी में खेल रहे हैं?'

तीनों देवियों को जब हुत अनुनय–विनय करने पर नारदजी से जब सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ, तब उन्हें पश्चाताप हुआ और उन्होंने कहा – 'हमने अपने किए का फल पा लिया। सत्य है, कभी किसी गुणवान् के प्रति असूया नहीं करनी चाहिए। सबसे बड़ा पाप दूसरों से ईर्ष्या करना ही है। नारदजी बोले– पश्चाताप से सभी पाप धुल जाते हैं। अब एक ही उपाय है। तुम सती की शरण में जाओ, तभी कल्याण होगा।'

तीनों देवियाँ आश्रम के समीप गयीं। किवाड़ बन्द थे, किसी का साहस नहीं हुआ कि भीतर चली जाएँ। न जाने सती असन्तुष्ट हो जाएँ। सम्भव है देवी स्नान करने मन्दाकिनी गयी हों। उन्होंने एक विशाल वटवृक्ष पर चढ़कर देखा कि तीनों बच्चे पालने में किलक रहे थे। तीनों देवियाँ अनसूया के शाप से भयभीत थीं। अत: अन्दर नहीं गयी। थोड़ी देर में भगवती अनसूया गीले वल्कल पहने आ गयीं। तीनों शीघ्रता से वृक्ष से उतर गयीं और द्वार पर खड़ी होकर 'माता जी, माता जी पुकारने लगीं। जब सती अनसूया ने भीतर से पूछा कि 'तुम कौन हो?' तीनों ने कहा कि 'हम आपकी पुत्रवधू हैं'। माता अनसूया ने कहा कि अपने घर में क्या पूछना? आ जाओ, यह तुम्हारा ही घर है।' यह सुनकर तीनों लजाती हुई भीतर आ गयीं। माता अनसूया के पैर छुए और क्षमा माँगने लगीं कि 'हमने अपने किए का फल भोग लिया। अब हमें हमारे पतियों को दे दीजिए।' अब हमें बहुत लज्जित न करें।

तीनों देवियों को दु:खित देखकर माता का हृदय पसीज गया। उन्होंने हाथ में जल लेकर बच्चों के ऊपर छिड़क दिया। तीनों देव अपने–अपने स्वरूपों में अपने–अपने वाहनों पर विराजमान थे। सती साध्वी अनसूया ने उठकर तीनों देवों की वन्दना की, पूजन किया और प्रदक्षिणा की। माता की पूजा से प्रसन्न होकर तीनों देवताओं ने कहा – 'पतिव्रते! इस तुम्हारे पातिव्रत्य से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हैं। तुम हमसे जो चाहो वरदान माँग लो।'

गद्गद् कण्ठ से भगवती अनसूया ने प्रणाम करके कहा – 'यदि आप लोग मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं यही वरदान माँगती हूँ कि आप तीनों मेरे पुत्र हो जाएँ।' तीनों देवों ने प्रसन्न होकर कहा कि अपने–अपने अंश से तुम्हारे पुत्र होंगे।

सती अनसूया को वरदान देकर तीनों ने लक्ष्मीजी, सतीजी और ब्रह्माणीजी को देखकर पूछा – बताओ, आजकल संसार में सबसे श्रेष्ठ सती कौन है? लजाते हुए तीनों ने एक स्वर में कहा – 'पुण्यश्लोका प्रात:स्मरणीया भगवती अनसूया देवी ही सर्वश्रेष्ठ सती है। इनसे बढ़कर पतिव्रता संसार में दूसरी कोई नहीं है।'

इस कथा प्रसंग का तात्पर्य यही है कि सती अनसूया ने अपने पातिव्रत्य धर्म का पालन करते हुए युग–युगान्तर तक नारी जाति को धन्य किया।

सती अनसूया के रूप में नारी का पत्नी रूप आता है जब वह अपनी समस्त मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों से पति की सेवा में संलग्न हो जाती है। उसे वह एकाग्रता, जो योगियों को बड़ी साधना के पश्चात् प्राप्त होती है, सहज ही प्राणायाम किए बिना ही प्राप्त हो जाती है। ज्ञानियों का ब्रह्मज्ञान भी पातिव्रत–धर्म में ही सन्निहित है।

**धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनक: पुन:।**
**धन्य: स च पति: श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता।।**

# भक्तिमती शबरी

**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्वा प्रयच्छति।**
**तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।**
**(गीता ९–२६)**

अर्थात् जो कोई मुझे भक्ति के साथ पत्ती, फूल, फल या थोड़ा सा जल भी अर्पित करता है उस भक्ति–भाव से कुछ न कुछ करने की इच्छा वाले भक्त की भेंट को मैं प्रसन्नता से ग्रहण कर लेता हूँ। यह भक्तिमार्ग है जिसे शबरी जैसी भक्तिमती ने प्राप्त करके अपने को धन्य किया। पवित्र जीवन के बिना पवित्रतम परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

उषाकाल में पम्पासर के तट पर महर्षि मतङ्ग अपने शिष्यों को उपदेश दे रहे थे – ''मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्रता का पालन करो। शुचि भोजन, शुचि परिधान और अपना प्रत्येक कर्त्तव्य पवित्र होने दो। जीवमात्र में दया और भगन्नाम में अनुरक्ति का सदा ध्यान रखो। तभी स्थावर–जंगम, लता–वृक्ष आदि विश्व की प्रत्येक वस्तु में उन्हें देख सकोगे। यही सच्चा धर्म है। जाति–कुल की बाधा से यह धर्म सदा मुक्त है।''

महर्षि और उनके शिष्यगण चले गए थे। शबरी ने वृक्ष की ओट से ऋषि के समस्त उपदेश–आदेश सुन लिये थे। शबरी उनके चरण–चिह्नों का बार–बार स्पर्श कर रही थी, मानों उसे अमूल्य निधि मिल गयी हो। उसके नेत्रों से अश्रुधारा निकल रही थी।

शबरी के जीवन पर दृष्टि डालें तो उनकी कथा इस प्रकार मिलती है। शबरी का मन शैशव से ही अशान्त रहता था। भोले–भाले पशु–पक्षियों की हत्या देखकर वह सिहर उठती थी। उनकी लहू–लहान देखकर वह अपनी आँखें बन्द कर लेती थी। अकेले मुँह छिपाकर रोने लगती थी। वह कहती कि हम भी कोई मनुष्य हैं, निर्मम, पाषाण हृदय, निरपराध पक्षी जो खुली हवा में पंख पसारकर उड़ते हैं, पेड़ों की डालियों पर बैठकर भगवान् के नाम के गीत गाते हैं, उन्हें चोरी से छिपकर, नृशंसों की भाँति तीक्ष्ण शरों से वेध देते हैं। वे हमारे सामने तड़प–तड़प कर प्राण परित्याग कर देते हैं, पर हृदय में करुणा

का, दया का संचार नहीं होता। यही हमारी जीविका बन गयी है। लानत है ऐसी जीविका पर। चिन्ता, शोक और क्लेश से उसके दिन बीते। वह नवयौवना सम्पन्न नारी बनी। विवाह की तैयारी हो गयी। उसका होने वाला पति वीर था। एक बाण से दो–दो पक्षियों को मारता था। प्रशंसा शबरी ने भी सुनी थी। वह व्याकुल हो उठी। एकान्त में जाकर अशान्त मन से विश्व के प्राणाधार से प्रार्थना करने लगी। 'देव, मुझे पापी से बचाइये। मैं अधमातिधम मूर्ख नारी हूँ। मुझे पथ का ज्ञान नहीं। आप मेरी रक्षा करें। नाथ, मैं आपकी शरण में हूँ।' प्रार्थना करते–करते रात अधिक हो गयी। शबरी ने अपना पथ निश्चित कर लिया।

अर्द्धरात्रि का समय था। शबरी चुपके से घर से निकल गयी और घने जंगलों में जाकर विलीन हो गयी। कण्टकाकीर्ण मार्ग, नदी, वन और पर्वत का उसे ध्यान नहीं था। वह अनिश्चित स्थान की ओर भागी चली जा रही थे। उसे केवल यह ध्यान था कि मैं अपने माँ–बाप के हाथ न आऊँ। हिंसा से बचकर आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर प्रभु भजन करूँ। भागने में उसे तन–मन की सुधि नहीं थी। दो दिन बाद वह पम्पासर पहुँची। प्रातः हो चला था। मतङ्ग ऋषि की चर्चा उसने सुन ली थी। महर्षि के दर्शन से अद्भुत प्रभाव उसके मन पर पड़ा था। अपूर्व शान्ति का उसे आज अनुभव हुआ। वहीं रहने का उसने निश्चय कर लिया। पर वह अस्पृशा थी। ऋषियों के तप में विघ्न पड़ेगा, इस विचार से उसने अपने रहने के लिए ऋषियों के आश्रम से दूर एक छोटी सी कुटिया बना ली।

उसका विचार था कि भगवान् के प्राणाधार उनके भक्त होते हैं। भक्तों की कृपा हो जाने पर भगवद् दर्शन निश्चय ही हो जाएँगे। यह सोचकर वह एक पहर रात्रि रहते ही ऋषियों की कुटियों के आस–पास की भूमि तथा पम्पासर की ओर जाने वाले मार्ग पर झाड़ू लगा देती। एक एक कँकड़ी भी किसी भी महर्षि या उनके सौभाग्यशाली भक्त के चरणों में चुभ न जाए, इसलिए वह बार बार झाड़ू लगाती और जल छिड़ककर सुगन्धित पुष्प डाल देती। कुटिया के द्वार पर सूखी लकड़ियों का ढेर रख आती, जिससे समिधा लाने में मुनिजनों को किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़े।

शबरी का यह नित्य का काम था। पर मुनि लोग चकित थे। गुप्त रूप से यह सेवा कार्य कौन कर जाता है? शिष्यों ने पहरा दिया। शबरी पकड़ ली गई। शिष्यों ने उसे मतङ्ग ऋषि के पास उपस्थित कर दिया।

शबरी काँप रही थी। उसमें बोलने का साहस नहीं था। ऋषि की अपराधिनी थी वह। मतङ्ग ऋषि ने देखा – उसके मुँह से निकल गया – 'भगवद् भक्ति में जाति बाधा नहीं डाल सकती।' शबरी परम भगवद्भक्त है। मतङ्ग ऋषि ने कहा – 'तुम मेरी कुटिया के पास ही रह जाओ। मैं कुटिया की व्यवस्था कर देता हूँ।'

शबरी के नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे। आज उसका भाग्योदय हुआ है। अब वह तपोवन में महर्षि की सेवा खुलकर कर सकेगी। मतङ्ग ऋषि पर अन्य ऋषि कुपित हो गए। 'अस्पृश्या को स्थान देकर अनधिकार–चेष्टा की है महर्षि ने। वे मर्यादा का उल्लङ्घन कर रहे हैं।'

'अधम कहीं की, स्पर्श कर दिया मुझे। पुन: स्नान करना पड़ेगा।' क्रोध से एक ऋषि शबरी को डाँटकर पुन: पम्पासर की ओर चले। शबरी ध्यानमग्न जा रही थी। ऋषि के बिगड़ने का भी उसे कोई ध्यान नहीं हुआ। ऋषि ने स्नान नहीं किया। सरोवर में कीड़े पड़ गए थे। जल रक्त में परिणत हो गया था।

आपके बिना मैं नहीं रह सकूँगी, मुनिनाथ। फूट–फूट कर रोती शबरी महर्षि मतङ्ग से कह रही थी। 'मेरे आधार आप हैं। आपके द्वारा ही मुझे ऋषियों की थोड़ी–बहुत सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हैं आपके ही चरणारविन्दों में रहकर मैं भगवान् को पाने के लिए विकल हो रही हूँ। आपके बिना मैं कहीं की नहीं रहूँगी। परमार्थ सिद्धि भी नहीं कर सकूँगी। देव! आपके साथ मैं भी अपना प्राण छोड़ दूँगी, प्रभो!'

'अधीर मत हो बेटी', मतङ्ग ऋषि ने समझाया। 'मेरा अन्तिम समय निकट आ गया है, मुझे जाना ही चाहिए। पर तू अभी ठहर जा। दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम यहाँ शीघ्र आने वाले हैं। तू उनके दर्शन करेगी और तेरी साधना पूरी जाएगी।' ऋषि ने नश्वर शरीर को त्याग दिया। शबरी चिल्ला उठी।

यह था शबरी के जीवन के कुछ पूर्व वृत्तान्त।

महर्षि की बात सत्य होगी ही। भगवान् दण्डकारण्य में पधारेंगे। मुझे दर्शन मिलेगा। महर्षि के यह वचन सुनकर शबरी के आनन्द का पारावार नहीं रहा। वह प्रतिदिन मार्ग साफ करके मीलों तक भगवान् श्रीराम के आने की प्रतीक्षा करती थी।

रावण द्वारा सीता हरण के पश्चात् सीता को खोजते हुए श्रीराम तथा लक्ष्मण पम्पा नामक पुष्करिणी के पश्चिम तट पर पहुँचे, वहाँ उन्होंने शबरी का रमणीय आश्रम देखा और उस सुरम्य आश्रम पर जाकर शबरी से मिले। दोनों भाइयों को आश्रम पर आया देखकर वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी और उसने बुद्धिमान् श्रीराम और लक्ष्मण के चरणों में प्रणाम किया। फिर पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदि सब सामग्री समर्पित की और विधिवत् सत्कार किया। तत्पश्चात् श्रीराम उस धर्मपरायणा तपस्विनी से बोले – तपोधने! क्या तुमने सारे विघ्नों पर विजय पा ली? क्या तुम्हारी तपस्या बढ़ रही है? क्या तुमने क्रोध और आहार को काबू में कर लिया है? तुमने जिन नियमों को स्वीकार किया है वे निभ तो जाते हैं न? तुम्हारे मन में सुख और शान्ति है न? चारुभाषिणी, तुमने जो गुरुजनों की सेवा की है, वह पूर्णरूप से सफल हो गयी है न? श्रीराम के इस प्रकार पूछने पर वह सिद्ध तपस्विनी बूढ़ी शबरी जो सिद्धों के द्वारा सम्मानित थी, उनके सामने खड़ी होकर बोली –

**पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादात् यथाविधि।**<br>
**तामुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम्।।**<br>
**कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः।**<br>
**कच्चित्ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने।।**<br>
**कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्।**<br>
**कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणी।।**<br>
**रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता।**<br>
**शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्यवस्थिता।।**

वाल्मीकि ने शबरी के लिए तपस्विनी, चारुभाषिणी, सिद्ध तपस्विनी आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। यहाँ तक कि श्रीराम के द्वारा इन विशेषणों का प्रयोग कवि की लेखनी से करवाया है।

शबरी इन प्रश्नों को सुनकर इतना भावविभोर हो गयी कि कहने लगी कि आज आपका दर्शन मिलने से ही मुझे अपनी तपस्या में सिद्धि प्राप्त हुई है। आज मेरा जन्म सफल हो गया और गुरुजनों की पूजा भी सार्थक हो गयी। अब मुझे आपके दिव्य धाम की प्राप्ति भी होगी। आपकी सौम्य दृष्टि पड़ने से मैं परम पवित्र हो गयी। शबरी को महर्षि की वाणी स्मरण आ गयी और वे बोली कि जब आप चित्रकूट पर्वत पर पधारे थे, उसी समय मेरे गुरुजन जिनकी मैं सदा सेवा करती थी, उन्होंने दिव्यलोक में जाने से पहले ही मुझे कहा था कि तेरे इस पवित्र आश्रम पर लक्ष्मण जी के साथ श्रीराम पधारेंगे। तुम उनका यथावत् सत्कार करना। उनका दर्शन करके तू श्रेष्ठ एवं अक्षय लोक में जाएगी। शबरी ने कहा कि 'मैंने आपके लिए पम्पा तट पर उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के जंगली फल–फूलों का संचय किया है।'

यहाँ वाल्मीकि शबरी के लिए लिखते हैं कि शबरी (जाति से वर्णबाह्य होने पर भी) विज्ञान से बहिष्कृत नहीं थी – उसे परमात्मा के तत्त्व का नित्य ज्ञान था।

यहाँ शबरी के ज्ञान की चर्चा की है। इसी कारण पूर्वोक्त बातें सुनकर धर्मात्मा श्रीराम ने शबरी से कहा कि मैंने कबन्ध के मुख से तुम्हारे महात्मा गुरुजनों का यथार्थ प्रभाव सुना है। अत: मैं उस प्रभाव को प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। श्रीराम के मुख से इस प्रकार के वचन सुनकर शबरी ने रम्य वन के दर्शन कराए। वन की महत्ता का वर्णन करते हुए बताया कि 'यहाँ गुरुजन निवास करते थे। इसी स्थान पर गायत्री मन्त्र के जप से विशुद्ध हुए अपने देहरूपी पञ्जर को मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्नि में होम दिया था। यह प्रत्यक् स्थली नामवाली वेदी है, जहाँ मेरे द्वारा भली भाँति पूजित हुए वे महर्षि वृद्धावस्था के कारण श्रम से काँपते हुए हाथों द्वारा देवताओं के फूलों की बलि चढ़ाया करते थे। आज उनकी तपस्या के प्रभाव से यह वेदी अपने तेज के द्वारा सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित कर रही है। यहाँ सप्तसागर तीर्थ है जिसका ज्ञान महर्षि के चिन्तनमात्र से प्रकट हुआ था। उसमें स्नान करके उन्होंने वृक्षों पर जो वल्कल वस्त्र फैला दिये थे, वे इस प्रदेश में अब तक सूखे नहीं है। देवताओं की पूजा करते हुए मेरे गुरुजनों ने कमलों के साथ अन्य फूलों की जो मालाएँ बनायी थीं, वे आज भी मुरझायी नहीं है।'

इस प्रकार वन का दर्शन करके शबरी ने कहा कि अब मैं देह का परित्याग करना चाहती हूँ। शबरी के धर्मयुक्त सुनकर कठोर व्रत का पालन करने वाली शबरी से कहा – तुमने मेरा बड़ा सत्कार किया। अब तुम इच्छा के अनुसार आनन्दपूर्वक अभीष्ट लोक की यात्रा करो।

श्रीराम के इस प्रकार कहने पर शबरी ने अपने को आग में होमकर प्रज्ज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी शरीर प्राप्त किया। उसने अपने चित्त को एकाग्र करके उस पुण्यधाम की यात्रा की, जहाँ उसके वे गुरुजन पुण्यात्मा महर्षि विहार करते थे।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने शबरी के चरित्र का वर्णन इस प्रकार किया है कि वह प्रेम से आत्मविभोर हो गयी थी। वाणी अवरुद्ध हो गयी थी। चरणों को पकड़कर अनन्त सौन्दर्यमय भगवान् की ओर एकटक देख रही थी और आँसू बहाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पा रही थी। आपके लिए फल–फूलादि रखे हुए थे, बड़ी कठिनता से अर्घ्य–पाद देने के बाद शबरी ने कहा –

**केहि विधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी।**
**अधम ते अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।।**

वाल्मीकि ने लिखा है कि शबरी विज्ञान से बहिष्कृत नहीं थी। यहाँ शबरी अपने को अधम से अधम बताया है, मन्दबुद्धि कहा है। परन्तु शबरी का शुद्ध प्रेम और दीनता देखकर श्रीरघुनाथ जी ने कहा –

**कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानऊँ एक भगति कर नाता।**
**जाति पाँति कुल धर्म बढ़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।।**
**भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।।**

श्रीराम तो जात–पाँत से बहुत ऊँचे उठे हुए थे। उनको तो शबरी की भक्ति ने मोह लिया था। फिर उन्होंने नवधा भक्ति का निरूपण किया। अन्त में स्वयं राम ने कहा कि हे भामिनि, मुझे वही अत्यन्त प्रिय है। फिर तुझमें तो सभी प्रकार की भक्ति दृढ़ है। अतएव जो गति योगियों को भी दुर्लभ है। वहाँ आज तेरे लिए सुलभ हो गयी है। श्रीराम यहाँ शबरी से जानकी के विषय में भी पूछते हैं –

**जनकसुता कह सुधि भामिनि। जानहि कहु करिबरगामिनी।**

शबरी ने बताया कि हे रघुनाथ जी, आप पंपा नामक सरोवर को जाइये। वहाँ आपकी सुग्रीव से मित्रता होगी। वह सब हाल बतावेगा। बार–बार प्रभु के चरणों में सिर नवाकर, प्रेमसहित उसने सब कथा सुनायी। फिर अन्त में योगाग्नि से अपना शरीर त्याग दिया।

पुराणों में यह भी कथा आती है कि जो जल सरोवर में कीड़े पड़ने और रक्तरूप में परिणत हो गया था। श्री लक्ष्मण जी ने इसे शबरी का अपमान बताया कि इस कारण जल की यह गति हुई। पुनः शबरी के स्पर्श करते ही वह शुद्ध हो जाएगा। भगवान् के आदेशानुसार शबरी ने उस सरोवर को स्पर्श किया। उसका जल पूर्ववत् निर्मल हो गया। यह है पर्यावरण का अनोखा उदाहरण।

यह थी शबरी की तपस्या और भक्ति। श्री रघुनाथ के प्रति अद्वितीय प्रेम। यहाँ हमें यह भी देखने को मिला कि यद्यपि शबरी अपने को निम्न जाति की मानती थी परन्तु मतङ्ग ऋषि ने भी शबरी की जाति को महत्त्व नहीं दिया और रघुनाथ जी ने उसे वह सद्गति प्रदान की जो बड़े–बड़े ऋषि मुनियों को भी दुर्लभ थी। शबरी ने वन में रहते हुए ऋषि–मुनियों की सेवा करते हुए एक भारतीय संस्कृति का निर्वाह किया। गुरुजनों के प्रति आदर भाव रखा। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक पर्यावरण का सन्तुलन भी बनाए रखा। वन के वृक्षों, आदि की रक्षा की। इसी कारण तो वाल्मीकि जैसे महाकवि ने शबरी को 'सिद्ध तपस्विनी' की उपाधि से अलंकृत किया है।

# त्रिजटा

इन नारी पात्रों के अतिरिक्त रावण के राजमहल में त्रिजटा नाम की राक्षसी थी जिसकी भगवद् भक्ति सराहनीय थी। यद्यपि वह शत्रुपक्ष की थी, राक्षस जाति की थी, परन्तु श्री राम के चरणों में अनन्य भक्ति थी। वह ज्ञान में निपुण थी। उसकी विशेषता थी कि वह भविष्य द्रष्टा थी। अशोक वाटिका में रह रही श्री जानकी जी की सेवा में अहर्निश लगी रहती थी। हनुमान् जी के द्वारा लंका जलायी जाने वाली घटना को त्रिजटा ने पहले ही स्वप्न में देख लिया था और श्री जानकी जी को अपना स्वप्न भी सुनाया था कि 'स्वप्न में एक बन्दर ने लङ्का जला दी। राक्षसों की सेना मार डाली गयी। रावण नग्न है और गधे पर सवार है। उसके सिर मुँडे हुए हैं और बीसों भुजाएँ कटी हुई हैं। इस प्रकार वह यमपुरी दिशा को जा रहा है और मानों लंका का राज्य विभीषण को मिल गया है। नगर में श्रीराम की दुहाई फिर गयी। तब प्रभु ने सीता जी को बुला भेजा। मैं विश्वासपूर्वक कहती हूँ कि यह स्वप्न चार दिनों के बाद सत्य होकर रहेगा। त्रिजटा के यह वचन सुनकर सब राक्षसियाँ डर गयीं और श्री जानकी जी के चरणों में गिर गयीं। श्री जीनकी जी ने भी हाथ जोड़कर त्रिजटा से कहा कि 'हे माता! तू मेरी विपत्ति की संगिनी है।' इसके बाद ही हनुमान जी का लंका में प्रवेश, और लंका दहन हुआ। इस प्रकार त्रिजटा का स्वप्न साकार होने लगा।

श्री राम और रावण का युद्ध आरम्भ हुआ। रावण ने वानरों को मूर्छित किया। मूर्छा दूर होने पर सब रीछ—वानर श्री राम के पास आए। उसी रात त्रिजटा ने सीता जी के पास जाकर उन्हें सब कथा सुनायी। शत्रु के सिर और भुजाओं का बढ़ना आदि। यह सुनकर श्री सीता जी के हृदय में बड़ा भय हुआ। उनका मुख उदास हो गया। ऐसी स्थिति में सीता जी ने भी त्रिजटा से अपने आने वाले समय के बारे में पूछा। वे बोली – हे माता, बताती क्यों नहीं? क्या होगा? सम्पूर्ण विश्व को दुःख देने वाला यह किस प्रकार मरेगा? कृपानिधान श्री राम जी की याद करके जानकी जी बहुत प्रकार से विलाप कर रही है। उस समय त्रिजटा ने बड़े भावपूर्ण वचन कहे। वे बोली – देवताओं का शत्रु रावण हृदय में बाण लगते ही मर जाएगा। परन्तु प्रभु उसके हृदय में बाण इसलिए नहीं मारते कि

उसके हृदय में जानकी जी बसती हैं। वे यही सोचकर रह जाते हैं कि इसके हृदय में जानकी का निवास है। जानकी के हृदय में मेरा निवास है और मेरे उदर में अनेकों भुवन हैं। अत: रावण के हृदय में बाण लगते ही सब भुवनों का नाश हो जाएगा। यह वचन सुनकर सीता जी के मन अत्यन्त हर्ष और विषाद हुआ देखकर पुन: त्रिजटा ने रावण की मृत्यु का उपाय बताया कि सिरों के बार—बार काटे जाने से जब वह व्याकुल हो जाएगा और उसके हृदय से तुम्हारा ध्यान छूट जाएगा, तब अन्तर्यामी श्रीराम जी रावण के हृदय में बाण मारेंगे।

इस प्रकार त्रिजटा का चरित्र यद्यपि बहुत कम है परन्तु जो भी मिला उससे उसकी चारित्रिक विशेषताएँ उभर कर आयीं हैं।

# सती सुलोचना

**तपनस्तप्यतेऽत्यन्तं दहनोऽपि दि दह्यते।**
**कल्पन्ते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः॥**

(पातिव्रत्य के तेज से सूर्य भी परिताप को प्राप्त होते हैं तथा आज भी प्रज्ज्वलित हो उठती है और जहाँ कुछ तेज है, वह सब पातिव्रत्य के तेज को पाकर ही तेजस्वी होता है।)

भारत की सतीत्व रक्षा करने वाली नारियों की जब भी हम चर्चा करते हैं तो मेघनाद पत्नी सती सुलोचना को कदापि विस्मृत नहीं कर सकते। सुलोचना के साथ सती सुलोचना कहकर ही हम उसकी महत्ता को नमन करते हैं तो उस समय यह नहीं सोचते कि वह महाकाव्य के विरोधी पक्ष मेघनाद की पत्नी है।

सुलोचना के सम्बन्ध में इस प्रकार का वृत्तान्त मिलता है कि महापराक्रमी इन्द्रजित मेघनाद का वध करके श्री लक्ष्मण जिस समय समरभूमि में जाने के लिए प्रस्तुत होते हैं, उस समय भगवान् श्रीराम कहते हैं – 'लक्ष्मण! तुम युद्ध भूमि में जाकर अपनी वीरता और राजकौशल से रावण–पुत्र मेघनाद का वध कर डालोगे, इसमें मुझे सन्देह नहीं है। पर एक बात बता देना आवश्यक है। मेघनाद एकनारी–व्रत का पालक है। उसकी स्त्री परम पतिव्रता है। ऐसी साध्वी पत्नी के पति का मस्तक युद्धभूमि में यदि किसी प्रकार भी गिर पड़ा तो हमारी सेना ध्वंस हो जाएगी और हमें युद्ध में विजय प्राप्त करने की आशा त्याग देनी पड़ेगी। अतएव इस बात का पूरा ध्यान रखना कि मेघनाद का मस्तक समरभूमि में किसी भी प्रकार गिर न सके।'

श्री लक्ष्मण ने अपने तीक्ष्ण बाणों से मेघनाद का मस्तक उतार लिया, उसे पृथ्वी पर गिरने नहीं दिया। महावीर हनुमान उस मस्तक को रघुनन्दन के पास ले आए।

उधर मेघनाद की दक्षिण भुजा युद्धभूमि से आकाशमार्ग में उड़ती हुई उसकी पत्नी सुलोचना के पास जा गिरी। सुलोचना चकित हो गयी। दूसरे ही क्षण दुःख से व्याकुल होकर विलाप करने लगी, परन्तु भुजा का स्पर्श नहीं किया। उसने सोचा, सम्भव है यह भुजा किसी अन्य व्यक्ति की हो। ऐसी दशा में पर–पुरुष के स्पर्श का दोष लगेगा। निर्णय करने के लिए उसने भुजा से कहा –

'यदि तू मेरे स्वामी की भुजा है, तो मेरे पातिव्रत्य शक्ति से युद्ध का सारा वृत्तान्त लिख दे।'

भुजा के हाथ में लेखनी पकड़ा दी। लेखनी ने लिख दिया – 'प्राणप्रिये, तू भ्रम छोड़ दे, यह भुजा मेरी ही है। युद्धभूमि में श्रीराम के भाई लक्ष्मण से मेरा घोर युद्ध हुआ। लक्ष्मण ने कई वर्षों से पत्नी, भोजन और निद्रा छोड़ रखी है। वे तेजस्वी, निःस्पृह एवं दया, क्षमा, संयम, सत्य तथा समस्त दैवी गुणों से सम्पन्न हैं। संग्राम में उनके सामने मेरी एक नहीं चली। अन्त में उन्हीं के बाणों से विद्ध होने पर मेरा प्राणान्त हो गया। शीश मेरा श्रीराम के पास है।'

पति–भुजा–लिखित उपर्युक्त पंक्तियाँ पढ़ते ही सुलोचना व्याकुल हो गयी। पुत्रवधू का करुणामय विलाप सुनकर लङ्कापति रावण ने आकर कहा, 'शोक न कर बेटी, प्रातःकाल होते ही सहस्रों मस्तक मेरे शरों से कट–कटकर पृथ्वी पर लौट जायँगे। मैं रक्त की सरिता प्रवाहित कर दूँगा।'

इसके प्रतिकार में सुलोचना ने बड़ा तर्कपूर्ण उत्तर दिया। करुण चीत्कार करती हुई वह बोली, 'इससे मेरा क्या लाभ होगा, पिताजी। सहस्रों नहीं करोड़ों शीश भी मेरे स्वामी के शीश के अभाव की पूर्ति नहीं कर सकेंगे।' यह कहते हुए वह उठ खड़ी हुई और पालकी मैं बैठकर श्रीराम के पास चली।

सुलोचना के आने का समाचार सुनकर श्रीराम खड़े हो गए और उसके पास जाकर बोले, 'देवी, तुम्हारे पति विश्व के अन्यतम योद्धा एवं परम पराक्रमी थे। उनमें बहुत से सद्‌गुण थे, परन्तु फिर भी विधि का लिखा मेटा नहीं जा सकता। आज तुम्हें इस रूप में देखकर मेरे मन में भी पीड़ा हो रही है। तुम्हारी जो इच्छा हो माँग लो।'

सुलोचना भगवान् की स्तुति करने लगी। बीच में ही राघवेन्द्र बोले कि मुझे लज्जित न करो, 'सुलोचने' पतिव्रता की महिमा अपार है। उसकी शक्ति की तुलना नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और समस्त सुर–समुदाय यदि एक होकर एक पतिव्रता की शक्ति की तुलना करें, तो भी वे हेय होंगे। सुलोचना, तू पतिव्रता है। परम सती है। पति में तेरी अनुरक्ति और अपूर्व भक्ति है, इस कारण तुझसे तो विश्व थर्राता है। मैं तेरी क्या सेवा करूँ, शीघ्र कह।' लज्जित श्रीराम सुलोचना का दीप्तिमय आनन निहारने लगे। उनकी आकृति से दया टपक रही थी।

सुलोचना ने कहा, 'सती होने के लिए पतिदेव का मस्तक लेने यहाँ आयी हूँ।' भगवान् राम ने मेघनाद का मस्तक तुरन्त मँगवाया और सुलोचना को

दे दिया। पतिदेव का छिन्न मस्तक देखकर सुलोचना का हृदय टूक–टूक हो गया। उसकी आँखें बड़े जोरों से बरसने लगी। रोते–रोते उसने पास खड़े लक्ष्मण को देखकर कहा – सुमित्रानन्दन, तुम भूलकर भी गर्व न करना कि मैंने मेघनाथ का वध किया है। मेघनाद को धराशायी करने की शक्ति विश्व में किसी के पास नहीं थी, पर यह युद्ध तो दो पतिव्रता नारियों का था। आपकी पत्नी भी पतिव्रता है और मैं भी पतिचरणों में अनुरक्त रहने वाली भ्रमरी एवं उनकी अनन्य उपासिका थी। पर मेरे पतिदेव पतिव्रता नारी को अपहरण करने वाले पिता का अन्न खाते थे और उन्हीं के लिए युद्धभूमि में उतरे थे। सती सीता का धर्म भी उर्मिला के पातिव्रत–धर्म में मिल मेरी शक्ति की अपेक्षा बढ़ गया और इसी से मेरा जीवन–धन परलोक सिधारे।'

वानर–मण्डली यह दृश्य देखकर चकित थी। वह यह समझ नहीं पायी कि पति के मस्तक के प्रभु के पास का का वृत्तान्त सुलोचना कैसे जान गयी। अन्तर्यामी प्रभु ने वानरों की उत्सुकता मिटाने के लिए, 'पतिव्रता के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।' वानर दल का पूरा समाधान नहीं हो गया। सुलोचना भी समझ गयी थी। कारण उसने स्पष्ट बता दिया – 'मेरे पतिदेव की भुजा युद्धभूमि से उड़ती हुई मेरे पास चली गयी थी, उसने लिखकर बता दिया।'

व्यङ्ग्य भरे शब्दों में सुग्रीव बोल उठे – निष्प्राण भुजा कैसे लिख सकती है? यदि यह मृतक मस्तक हँसने लगे तो मुझे विश्वास हो सकता है, अन्यथा मैं भुजा के लिखने की बात मिथ्या ही समझता हूँ।

श्री राम ने कहा कि 'वृथा तर्क मत करो। पतिव्रता के माहात्म्य को तुम नहीं जानते। कटा मस्तक भी हँस सकता है।'

भगवान् श्रीराम की मुखाकृति देखकर सुलोचना उनके भावों को समझ गयी। उसने कहा, 'यदि मैं मन, वचन और कर्म से ही पति को ही देवता मानकर उनसे स्नेह करती हूँ तो मेरे पति का यह निर्जीव छिन्न मस्तक हँस उठे।' पतिव्रता की बात पूरी भी नहीं हो पायी थी कि कटा मस्तक जोरों से हँसने लगा। वानरों का सन्देह दूर हो गया। वे पतिव्रता की महिमा से परिचित हो गये।

चलते समय सुलोचना ने राघवेन्द्र से प्रार्थना की – 'भगवन्, आज मेरे पति की अन्त्येष्टि क्रिया है और मैं उनकी चिर–सहचरी उनसे मिलने जा रही हूँ। इसके कारण आज युद्ध बन्द रहे।' भगवान् श्रीराम ने सुलोचना की प्रार्थना तुरन्त स्वीकार की।

पति–प्रेम–निरता सुलोचना पति का मस्तक लेकर लङ्का में समुद्र के तट पर चली गयीं। पुरवासियों ने चन्दन की चिता तैयार की। धधकती अग्नि में बैठकर क्षणभर में वह पतिलोक के लिए प्रस्थित हो गयी। धन्य है सुलोचना और धन्य है उसका पातिव्रत्य धर्म।

# मन्दोदरी

भारत की सती नारियों की श्रेणी में रावण–पत्नी महारानी मन्दोदरी का व्यक्तित्व भी महान् है। त्रिपुर निर्माता, दानवराज मय ने अप्सरा हेमा से परिणय किया। कुछ समय पश्चात् देवताओं के आह्वान पर वह नवजात पुत्री को मय के पास छोड़कर स्वर्ग चली गयी। मय ने पुत्री का नाम मन्दोदरी रखा। पत्नी के वियोग से मय का सारा स्नेह पुत्री में केन्द्रित हो गया। अपनी कन्या को वह सदा अपने साथ ही रखते थे।

मन्दोदरी की आयु पन्द्रह वर्ष की हो गयी। मन्दोदरी अत्यन्त सुन्दर थी। मय अपनी कन्या के लिए पृथ्वी पर अरण्य में घूम रहे थे। अकस्मात् रावण से मय का साक्षात् हो गया। रावण अभी अविवाहित था। दानवेन्द्र और राक्षसेन्द्र का परस्पर परिचय हुआ। पितामह ब्रह्मा के प्रपौत्र रावण ने अपने वंश का परिचय देकर मय से कन्या की याचना की। दानवेन्द्र को सुयोग्य पात्र मिला। उन्होंने वहीं रावण का विधिवत् कन्यादान किया। दहेज में अनेक दिव्यास्त्र तथा अमोघ शक्ति दी। इस प्रकार मन्दोदरी रावण की पट्टमहिषी हुई। रावण ने अनेक देव, गन्धर्व एवं नागकन्याओं से विवाह किया, परन्तु मन्दोदरी सर्वप्रधान तथा रावण की सबसे प्रिय रही। मन्दोदरी ने सदा रावण का कल्याण चाहा और उसे सदा सत्मार्ग पर बनाए रखने के प्रयत्न में रही। रावण के दुष्कृत्यों का सदा नम्रतापूर्वक विरोध किया।

सतीत्व स्वयं एक महासाधन है और उससे समस्त सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। सती नारी केवल पति सेवा से निःश्रेयस को भी सरलता से प्राप्त कर लेती है। मन्दोदरी के सतीत्व ने उसके हृदय में यह प्रकाश प्रकट कर दिया कि परम परमेश्वर का अवतार अयोध्या में हो चुका है। जब रावण ने छल से श्री जानकी का हरण किया है तो उस समय मन्दोदरी ने बड़ी नम्रता और शिष्टता से रावण को समझाया, बड़ी मनोहर वाणी बोली, "नाथ! श्रीराम मनुष्य नहीं हैं, वे सर्वेश्वर, सर्वसमर्थ, सच्चिदानन्दघन साक्षत् ब्रह्म हैं। हे नाथ ! वैर उसी के साथ करना चाहिए जिससे बुद्धि और बल के द्वारा जीत सके। आपमें और श्री रघुनाथ जी में तो जुगनू और सूर्य के समान अन्तर है। मन्दोदरी श्रीराम के अवतार की चर्चा करती है –

**अति बल मधु कैटभ जेहिं मारे। महावीर दितिसुत संघारे।**
**जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महि भारा।।**

पृथ्वी का भार हरण करने के लिए राम रूप में अवतीर्ण हुए हैं। हे नाथ, उनका विरोध न कीजिए जिनके हाथ में काल, कर्म और जीव सभी हैं।

अत: श्रीराम के चरणों में सिर नवाकर उनको जानकी जी सौंप दीजिए और आप मेघनाद को लङ्का का राज्य देकर स्वयं वन में जाकर श्रीरघुनाथजी का भजन कीजिए। श्रीरघुनाथ जी बहुत दयालु हैं, वे करुणामय अवश्य आप पर कृपा करेंगे।

मन्दोदरी ने एक बार नहीं अनेक बार चरण पकड़कर पति को समझाया। जब भी लङ्केश्वर अन्त:पुर में मिलता, वह साध्वी उससे आग्रहपूर्वक प्रार्थना करती। कभी शास्त्रों का वचन कहती, कभी संतजनों की उक्तियाँ कहती कि संतजन ऐसी नीति कहते हैं कि वृद्धावस्था में राजा को वन में चला जाना चाहिए। हे स्वामी, आप उनका भजन कीजिए क्योंकि वे सृष्टि के रचने वाले, पालन करने वाले, और संहार करने वाले हैं। हे नाथ! यदि आप मेरी सीख मान लेंगे तो आपका अत्यन्त पवित्र और सुन्दर यश तीनों लोकों में फैल जाएगा। अत: रघुनाथजी का भजन कीजिए जिससे मेरा सुहाग अचल हो जाए –

**नाथ भजहु रघुनाथहि। अचल होई अहिवात।**

पूरी रात मन्दोरी ने अनुनय और उपदेश में व्यतीत की। मन्दोदरी का रावण को समझाने का केवल एक ही उद्देश्य था कि रावण अकारण ही श्रीराम से वैर न बढ़ाकर युद्ध की ओर प्रेरित हो। जानकीजी को छोड़ दे। वह रावण को बार–बार यही आभास कराना चाहती थी कि श्रीराम ही परमब्रह्म के अवतार हैं। यह सारा विश्व उन्हीं का रूप है। वेद जिसके अङ्ग–अङ्ग में लोकों की कल्पना करते हैं। शिव जिनका अहङ्कार है, ब्रह्मा बुद्धि है, चन्द्रमा मन है, और महान् विष्णु ही चित है। उन्हीं चराचर रूप भगवान् श्रीराम जी ने मनुष्य रूप में निवास किया है। ऐसा विचारकर प्रभु से वैर छोड़कर श्रीराम चरणों में प्रेम कीजिए।

जिस अहङ्कारी ने विभीषण को लात मारकर लङ्का से निकाल दिया था, जिसने वृद्ध मामा माल्यवन्त को भरी सभा में डाँटने में कोई संकोच नहीं किया, वही रावण मन्दोदरी का कभी तिरस्कार न कर सका। वह जानता था कि पत्नी सच्चे हृदय से उसका कल्याण चाहती है।

जो होना था, हो गया। सर्वात्मा के संकल्प में बाधा देना सम्भव नहीं।

राघवेन्द्र पृथ्वी का भार दूर करने अवध से पधारे थे। उन्हें तो रावण–वध करना ही था। रावण को भी प्रभु श्रीराम के हाथ र्हा मरना था। रणक्षेत्र में दशानन के शव पर रोती–बिलखती मायापुत्री को उन्होंने कृपा की दृष्टि से देखा। शुद्ध पवित्र हृदय पर भगवत्कृपा हुई। माया का आवरण छिन्न–भिन्न हो गया। कहाँ का शोक और कैसा मोह? मन्दोदरी श्रीराम प्रभु के दर्शन से आत्मविभोर हो गयी।

ऐसा वर्णन आता है कि विभीषण लङ्केश्वर हुए। मन्दोदरी फिर भी लङ्का की महारानी बनी रहीं। स्वभाव एवं प्रारब्ध प्राप्त समाज के नियमानुसार जो पुरुष उसे सेवा के लिए समाज ने दिया, उसकी उसने कर्तव्य–बुद्धि से सच्चे हृदय से सेवा की। राक्षस समाज में पुनर्विवाह की प्रथा थी। विभीषण उसे पत्नी रूप में रखना चाहते थे। उसके तटस्थ हृदय में न अपेक्षा थी और उपेक्षा, बस।

# तारा

इसके अतिरिक्त बालि पत्नी तारा की गणना पञ्चकन्याओं में है। वीर अङ्गद की माता थी। सुग्रीव से शत्रुता करने पर तारा ने बालि को भली–भाँति समझाया था। तब बालि ने कहा था कि 'सुग्रीव ने अन्याय किया है। मेरे बाद मेरे पुत्र अङ्गद को शासन न देकर स्वयं वह गद्दी पर बैठ गया। तेरे कहने से मैं उसे मार नहीं रहा हूँ, इतना कम नहीं है।

श्री राम के साथ जब सुग्रीव बालि से युद्ध करने के लिए गए उस समय भी तारा ने बालि को निपुण अनुभवी मन्त्री की भाँति सलाह दी थी। वह भली–भाँति जानती थी कि बालि से युद्ध करने का साहस सुग्रीव अनन्त बलशाली श्रीराम की सहायता से ही कर सका है। पर बालि ने पत्नी की बात नहीं मानी। श्री राघवेन्द्र के बाणों से उसका प्राणान्त हो गया। उस समय व्याकुल होकर तारा शव के पास जाकर विलाप करने लगी। श्रीराम ने उसे भली–भाँति समझाया –

**छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रहित यह अधम सरीरा।**
**प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।**

तू तो पतिव्रता नारी है। फिर तेरे पति की सद्गति के लिए क्या चिन्ता करनी है? दूसरे वह मेरे बाणों से बिंधकर मरा हैं तू शोक त्याग दे। फिर वानर जाति के नियमानुसार सुग्रीव के राजा होने पर तारा पटरानी बनी। लक्ष्मण के क्रोध को तारा ने ही शान्त किया था। इस प्रकार तारा चतुर भगवद्भक्त एवं सती थी। उसका भगवान् के चरणों में प्रेम और पतिभक्ति सराहनीय थी।

